अथैकत्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सहस्रशीर्षा पुरुष

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥१॥

१. वह पुरुष है (क) 'पुरि वसति' इति पुरुषः=ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करते हैं (ख) **पुरि शेते**=ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन करते हैं अथवा (ग) **पुनाति रुणद्धि स्यति**= इसे पवित्र करते हैं, आवृत किये हुए हैं और अन्त में इसका अन्त करते हैं (षोऽन्तकर्मणि)। योग के शब्दों में 'क्लेश, कर्म, विपाकाशय' से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ही ईश्वर हैं।

२. **पुरुष का स्वरूप**—वे पुरुष **सहस्रशीर्षा**=अनन्त सिरोंवाले हैं। **सहस्राक्षः**=अनन्त आँखोंवाले हैं, **सहस्रपात्**=अनन्त पाँववाले हैं। सहस्र शब्द अनन्तवाची है। यही भावना **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्'** इन शब्दों में भी कही गई कि उस प्रभु की सर्वत्र आँखें हैं, सर्वत्र मुख, बाहु व पाँव हैं। जैसे भौतिक सङ्ग से रहित मुक्तात्मा 'पश्यँश्चक्षुर्भवति'=देखता है तो आँख-ही-आँख हो जाता है, उसे कोई भौतिक आवरण भेदनेवाला नहीं होता, इसी प्रकार उस प्रभु का भी कोई भौतिक आवरण नहीं है, वे सर्वतः आँखों व श्रोत्रोंवाले हैं। ३. **सः**=वह पुरुष **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्मिन्) इस सारे ब्रह्माण्ड को चारों ओर से **स्पृत्वा**=(स्पृ=to protect) आवृत करके रक्षा करते हुए तथा इसके अन्दर निवास (स्पृ=to live) करते हैं।

४. **दशांगुलम्** (क) इस प्रकार वह पुरुष इस ब्रह्माण्ड की रक्षा करते हुए तथा इसमें निवास करते हुए दस अंगुल परिमाणवाले इस ब्रह्माण्ड को **अत्यतिष्ठत्**=लाँघकर ठहर रहे हैं, अर्थात् इस ब्रह्माण्ड से परे भी वर्त्तमान हैं, यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एकदेश में है। जैसे मातृगर्भ में बालक की स्थिति है, उसी प्रकार प्रभु के गर्भ में ब्रह्माण्ड की स्थिति है, वे प्रभु 'हिरण्यगर्भ' हैं, ये सारे ज्योतिर्मय पिण्ड उनके गर्भ में हैं। प्रभु की तुलना में यह ब्रह्माण्ड दशांगुलमात्र ही तो है, चाहे हमारे गणित के परिमाण में यह ब्रह्माण्ड अनन्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु उस अनन्त प्रभु की तुलना में तो यह एकदम सान्त है। उसके यह एकदेश में ही है। (ख) 'दशांगुलम्' शब्द का अर्थ तरबूज़ 'watermelon' भी है, उस प्रभु की तुलना में यह सारा संसार 'तरबूज' ही है। 'तरबूज़' का अर्थ यहाँ इसलिए संगत प्रतीत होता है कि इससे ब्रह्माण्ड की अण्डाकृति का कुछ बोध भी हो जाता है, और साथ ही ऊपर ठोस और अन्दर कुछ जल की प्रतीति भी हो जाती है। (ग) **दशांगुलम्**=शब्द हृदयदेश के लिए भी प्रयुक्त होता है, वे प्रभु सबके हृदयों में निवास करते हुए उन सब हृदयों से ऊपर उठे हुए हैं। (घ) पञ्चस्थूलभूत व पञ्चसूक्ष्मभूतमय होने से भी इस ब्रह्माण्ड को 'दशांगुल' कहा जाता है। वे प्रभु इस भौतिक ब्रह्माण्ड को लाँघकर रह रहे हैं। इस सर्वव्यापक प्रभु को अनुभव करनेवाला व्यक्ति भी उस 'नारायण' को अपने अन्दर अनुभव

करता है और अपने को उस नारायण में। इस प्रकार यह स्वयं भी तन्मय होकर 'नारायण' ही हो जाता है।

भावार्थ—१. वे प्रभु अनन्त सिरों, आँखों व पाँवोंवाले हैं। २. इस ब्रह्माण्ड को आवृत करके इसकी रक्षा कर रहे हैं और इसके अन्दर निवास कर रहे हैं। ३. वे प्रभु इस दशांगुल जगत् से परे भी हैं।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**ईशानः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

त्रिविध जीवों का ईशान

पुरु॑षऽए॒वेद॒ꣳसर्व॒ यद् भू॒तं यच्च॒ भाव्य॒म्। उ॒ताम॑त॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति॥२॥

१. इस संसार में जन्म के दृष्टिकोण से जीव तीन भागों में विभक्त हैं (क) प्रथम तो वे जो 'यथाकर्म यथाश्रुतम्'=अपने ज्ञान व कर्म के अनुसार किसी शरीर को धारण कर चुके हैं, ये 'भूत' कहलाते हैं, जिनका जन्म हो चुका। (ख) दूसरे वे जीव हैं जो शीघ्र ही समीप भविष्य में जन्म ग्रहण करेंगे। ये 'भाव्य' कहलाते हैं, जिनका जन्म होगा। (ग) इन दोनों से भिन्न तीसरे वे हैं जो हृदयग्रन्थियों के भेदन से, संशयों के छेदन से और कर्मों की क्षीणता व दुर्बलता से ऊपर उठकर उस परावर प्रभु को देखकर 'अमृतत्व' का लाभ कर पाते हैं। ये अन्य जीवों की तरह जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसे रहते, अपितु इस जन्म-मरणचक्र से ऊपर उठकर अमर हो गये हैं। २. **पुरुषः**=ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन व निवास करनेवाला वह प्रभु **एव**=ही **इदम्**=इन **सर्वम्**=सारे **भूतम्**=कर्मानुसार ग्रहीत जन्मवाले भूतों को **यत् च**=और जो **भाव्यम्**=अब समीप भविष्य में ही जन्म ग्रहण करेंगे उन भव्य प्राणियों को **उत**=और **अमृतत्वस्य**=जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठे मुक्तात्माओं को भी **ईशानः**=शासित कर रहे हैं। ये तीनों प्रकार के जीव उस प्रभु के अनुशासन में चल रहे हैं। ये अमर जीव वे हैं **यत्**=जो **अन्नेन**='अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' उस सबके आधारभूत अन्न नामक प्रभु के द्वारा, अर्थात् उस प्रभु के चिन्तन के द्वारा **अतिरोहति**=इस जन्म-मृत्यु के चक्र को लाँघ जाते हैं। ये तीनों ही प्रभु से शासित होते हैं, प्रभु इनके ईशान हैं। प्रभु की व्यवस्था के अनुसार ही ये सब उस-उस जन्म को धारण कर रहे हैं। मुक्तात्मा भी परामुक्ति के अन्तकाल में उस प्रभु के अनुशासन में होने के कारण ही जन्म ग्रहण करेंगे। इस अनुशासन के कारण ही वे मुक्त होते हुए भी नई सृष्टि के निर्माणादि कार्यों को नहीं कर सकते। ३. वे प्रभु अन्न हैं। उन्हीं के आधार से प्राणिमात्र अन्न को खा रहा है **'मया सोऽन्नमत्ति'**। प्रलय के समय वे प्रभु ही सबको निगल जाते हैं 'अत्ति च भूतानि'। **'आ+नम्'** (यास्क)=इसलिए भी वे प्रभु अन्न हैं, क्योंकि अन्त में सब ओर से प्राणी उसी के प्रति प्रणत होते हैं।

इस अन्न का जो भी आश्रय करता है वह अन्ततोगत्वा जन्म-मरण को लाँघ जाता है (अति-रोहति)। जन्म-मरण से ऊपर उठकर वह परमस्थान में स्थित होता है। ४. सामान्य अन्न से शरीर भूखा मरने से बचता है और इस प्रकार जीव-मृत्यु से ऊपर उठता है, परन्तु इस प्रभुरूप अन्न के सेवन से वह जन्म से भी ऊपर उठ जाता है। जन्म-मरणचक्र से अतिरूढ़ करनेवाला यह प्रभुरूप अन्न सचमुच अद्वितीय है।

भावार्थ—वे पुरुष प्रभु 'भूत, भाव्य व अमर' तीनों प्रकार के प्राणियों के ईशान हैं। उस समन्तात् सेवनीय (आनम्) अन्न नामक प्रभु की अनुकम्पा से जीव जन्म-मरण को लाँघ पाता है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एकपात् व त्रिपात्

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

१. **अस्य**=इस पुरुष की **एतावान्**=इतनी **महिमा**=महिमा है। प्रथम मन्त्र में दशांगुल जगत् का संकेत है, पञ्चस्थूलभूत व पञ्चसूक्ष्मभूतों से बना हुआ यह दशांगुल जगत् उस प्रभु की ही महिमा है। **'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'**=ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी उस प्रभु की महिमा का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। द्वितीय मन्त्र में 'भूत, भाव्य व अमृतत्व को प्राप्त' जीवों का वर्णन है। ये सब जीव भी प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। बुद्धिमानों की बुद्धि, बलवानों के बल व तेजस्वियों का तेज, वे प्रभु ही हैं। २. **च**='परन्तु वे प्रभु इन्हीं में समाप्त हो गये हों', ऐसी बात नहीं है, **अतः**=इस सारे ब्रह्माण्ड से **पूरुषः**=वे पुरुष **ज्यायान्**=बहुत अधिक बड़े हैं। ये सारा ब्रह्माण्ड तो प्रभु के एकदेश में है। वेदमन्त्र इसी बात का प्रतिपादन इन शब्दों में करता है कि **विश्वा भूतानि**=सब भूत **अस्य पादः**=इस प्रभु के चतुर्थांश ही हैं। **अस्य त्रिपात्**=इस प्रभु के तीन पाद तो **दिवि**=अपने द्योतनात्मक प्रकाशमय रूप में **अमृतम्**=अमृत हैं। उन तीन पादों में किसी प्रकार का जन्म-मरण का व्यापार नहीं चल रहा है। यह जन्म-मरण या परिवर्तन तो इस चतुर्थांश में ही हो रहा है। शरीर के मरने पर जैसे 'व्यक्ति मर गया' ऐसा व्यवहार होता है, उसी प्रकार इस चतुर्थांश में परिवर्तन होने से इसे 'मृत' कह देते हैं, परन्तु शेष तीन अंश तो 'अमृत' हैं ही।

भावार्थ—सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एकदेश में है, उस प्रभु का त्रिपात् द्योतनमय अमृतरूप में है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशनेऽअभि॥४॥

१. **त्रिपात् पुरुषः**=यह तीन पादोंवाला पुरुष **ऊर्ध्वः उदैत्**=इस विविध हलचलवाले अशान्त संसार से ऊपर उठा हुआ है। यह सारे दृश्यमान ब्रह्माण्ड की हलचल उसके इस एक पाद में ही है। **अस्य**=इस प्रभु का **पादः**=एक पाद ही **पुनः**=तो **इह**=इस ब्रह्माण्ड में **अभवत्**=है। यह त्रिपात् और एकपात् का विचार कोई गणित के अंकों में नहीं गिनना। यह प्रभु की अनन्तता के प्रतिपादन के लिए कहने की एक शैलीमात्र है। २. यह सारा संसार दो भागों में बँटा हुआ है। इसमें कुछ 'साशन' है, अशनसहित है, खाता है और कुछ न खानेवाला है। इन्हीं को क्रमशः 'चराचर', जंगम-स्थावर' व 'चेतन-जड़' (जड़-चेतन) कहने की परिपाटी है। **साशनानशने**=इस चराचर संसार में **विष्वङ्**=(वि सु अञ्च) विविध दिशाओं व योनियों में उत्तमता से गति करनेवाला वह प्रत्येक पदार्थ **ततः**=उस संचालक त्रिपात् प्रभु से ही **व्यक्रामत्**=गति कर रहा है। सारी गति का स्रोत, प्रथम गति देनेवाले Prime mover, वे प्रभु ही हैं। उस प्रभु के अनुशासन में नदियाँ बह रही हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे—ये सब उसी से अपने-अपने चक्र में घुमाये जा रहे हैं। जीव भी उसी की व्यवस्था से विविध योनियों को ग्रहण कर रहे हैं। ३. **अभि**=ये सब जीव उसी की शक्ति

से गति कर रहे हैं और उसी की ओर जा रहे हैं। ठीक मार्ग पर जानेवाले तो उसकी ओर जा ही रहे हैं, गलत मार्ग पर जानेवाले भी भटक-भटकाकर, ठोकरें खाकर फिर प्रभु की ओर ही जाते हैं। दुःख पड़ने पर प्रभु का स्मरण हो ही जाता है। एवं, **'सा काष्ठा सा परागतिः'**=वे प्रभु ही सब जीवों की अन्तिम शरण हैं।

भावार्थ—सारा चराचर संसार ब्रह्म की ओर जा रहा है, वे ब्रह्म ही गति के स्रोत हैं।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**स्रष्टा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ऽअधि॒ पूरु॑षः।
स जा॒तोऽअत्य॑रिच्यत प॒श्चाद् भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥५॥

१. **ततः**=उस पुरुष (निमित्तकारण) से **विराट्**=एक देदीप्यमान पिण्ड **अजायत**=उत्पन्न हुआ। सांख्यदर्शन में यही 'महत्' नाम से कहा गया है। जो प्रकृति के कणों का साम्यावस्था का पुञ्ज सर्वत्र समरूप से फैला हुआ था, वह सृष्टि के प्रराम्भ में प्रभु द्वारा गति दिये जाने पर केन्द्र की ओर खिंचने लगा, चारों ओर खाली स्थान हो गया। यही आकाश था। सारे कण थोड़े स्थान में आने से भारी हो गये तो ये 'महत्' कहलाये। प्रभु ने उस साम्यावस्थावाली प्रकृति को **महत्**=विराट् व एक हैम पिण्ड का रूप दे दिया। इस पिण्ड का उपादानकारण तो प्रकृति ही थी, निमित्त 'परमात्मा' था। २. **विराजः**=इस विराट् पिण्ड का **अधि**=अधिष्ठातृरूपेण **पूरुषः**=वह पुरुष था। इस महत्तत्त्व से अब अहंकारादिक्रमेण सृष्टि का निर्माण होगा। इस निर्माण में उपादानकारण निश्चय से यह विराट् ही है, परन्तु इस विराट् के अध्यक्ष वे प्रभु हैं। उनकी अध्यक्षता में ही इस चराचर जगत् का निर्माण होता है। ३. **सः**=यह विराट् **जातः**=उत्पन हुआ-हुआ **अत्यरिच्यत**=संसार के किसी भी पदार्थ से अधिक दीप्तिवाला हुआ। प्रारम्भ में यह पिण्ड अग्निमय था। ४. **पश्चात्**=इस विराट् पिण्ड के बन जाने के पश्चात् **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) प्राणियों के निवासस्थान भूत लोकों को उस अध्यक्ष ने बनाया। प्राणियों के सशरीर होने से पहले इन लोकों को बनना आवश्यक है। इन लोकों का ही अन्वर्थ नाम 'भूमि' है। भूमि से अभिप्राय केवल इस पृथिवी का नहीं। ५. **अथ**=और अब इन लोकों के बन जाने के पश्चात् **पुरः**=शरीर बनाये गये। शरीरों को 'पुरः' इसलिए कहा है कि 'पूर्यन्ते सप्त धातुभिः'=ये रस-रुधिर आदि सप्त धातुओं से पूर्ण हैं। 'पृ पालनपूरणयोः' धातु से बना यह शब्द इस भावना का भी सूचक है कि यह शरीर पालन व पूरण के योग्य है। असुरों की नगरियाँ भी वेद में 'पुर' कहलायी हैं। वहाँ 'पृ' का अर्थ अपने को मुक्त कराना deliver from या बाहर लाना bring out of है। हमें इनसे अपने को क्योंकि मुक्त करने का प्रयत्न करना है, अतः ये भी पुर हैं। अब लोकों व पुरों के बन जाने के बाद सृष्टिक्रम का वर्णन अगले मन्त्र में द्रष्टव्य है।

भावार्थ—यह संसार प्रभु द्वारा प्रराम्भ में एक विराट् पिण्ड के रूप में उत्पन्न किया जाता है। उस विराट् पिण्ड से ही इन लोकों व शरीरों की उत्पत्ति होती है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पृषादाज्य का संभरण

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हु॒तः॒ सम्भृ॑तं पृषदा॒ज्यम्।
प॒शूँस्ताँश्च॑क्रे वाय॒व्या॒नार॒ण्या ग्रा॒म्याश्च॒ ये॥६॥

१. अब तक प्रभु को 'पुरुष' नाम से स्मरण किया था। इसी पुरुष को अब 'यज्ञ' नाम से कहा गया है, क्योंकि वे (क) पूजनीय हैं (देवपूजा)। (ख) प्रकृतिकणों के संगतिकरण से ब्रह्माण्ड का निर्माण करनेवाले हैं। (ग) जीव को उसकी उन्नति के लिए सब-कुछ देनेवाले हैं (दान)। वे प्रभु सचमुच 'यज्ञ' हैं। 'सर्वहुत्' हैं—सब-कुछ देनेवाले हैं। २. **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=यज्ञ नामक प्रभु से **सर्वहुतः** (हु=दान)=सब वस्तुएँ देनेवाले से **पृषदाज्यम्**='अन्नं वै पृषदाज्यम्', 'पयः पृषदाज्यम् श० २.८.४.८। 'पशवो वै पृषदाज्यम्—तै० १.६.३.२ अन्न, दूध तथा पशुओं का **सम्भृतम्**=सम्भरण किया गया। प्राणियों के लिए अन्न व दूध की आवश्यकता है उस अन्न व दूध के उत्पादन में पशु-पक्षी भी साधन हैं। दूध तो उनसे प्राप्त होता ही है। उनके बिना अन्न-उत्पादन भी सम्भव नहीं। (क) 'ट्रैक्टर्स' कभी बैलों के स्थानापन्न हो जाएँगे, इस बात की संभावना नहीं है। ऊबड़-खाबड़ भूमि को सम करने में उनकी उपयोगिता ठीक है, हल चलाने के लिए नहीं। ट्रेक्टर्स से जोते गये बड़े-बड़े खेतों में उपज को कृमि खा जाते हैं, छोटे-छोटे खेतों की मुंडेरों पर बैठी चिड़ियाँ उन कृमियों के संहार से उपज को बचाती थीं। ट्रेक्टर्स ने उन मुंडेरों को समाप्त कर इन पक्षियों के बैठने के स्थान ही समाप्त कर दिये। कितना कीटनाशक द्रव्य हम छिड़कते रहेंगे? (ख) बैलों से खेती में भूमि को खाद भी मिलता रहता था। ट्रेक्टर्स के कारण खाद के कारखाने खोलने भी आवश्यक हो गये। (ग) इस कृत्रिम खाद से भूमि अधिक उपज देकर शीघ्र बंजर होनी शुरू हो गई। इन सब विचारों का अन्तिम परिणाम यही है कि अन्न के उत्पादन में पशु-पक्षियों की उपयोगिता रहेगी ही, अतः ये भी यहाँ 'पृषदाज्य' शब्द से कहे गये हैं। उस प्रभु ने जीव के हित के लिए पृषदाज्य को प्राप्त कराया। ३. ये पशु सामान्यतः तीन भागों में विभक्त होते हैं। मन्त्र कहता है कि उस प्रभु ने **पशून् तान्**=उन पशुओं को **चक्रे**=बनाया जो **वायव्यान्**=वायु में उड़नेवाले थे, अर्थात् जिन्हें हम सामान्य भाषा में पक्षी कहते हैं, **च**=और **ये**=जो **आरण्या**=वन के पशु थे **ग्राम्याः च**=और जो ग्रामों में रहनेवाले थे। शेर आदि जंगली पशुओं का निर्माण किया तथा साथ ही गौ इत्यादि पालतू ग्राम्य पशुओं की भी सृष्टि की। 'तिर्यङ्' शब्द अब तक सामान्यरूप से 'पशु-पक्षी' दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। मनुष्येतर सभी चर प्राणी यहाँ पशु शब्द से विवक्षित है। वे पशु हैं (पश्यन्ति) देखते हैं, समझते नहीं। वे बुद्धि का विकास नहीं कर पाते। वासना के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ से अन्त तक चलते रहते हैं, इसीलिए उन्हें यहाँ 'पशु' इस सामान्य शब्द से कहा है। इन सब पशुओं की उपयोगिता है। शेर न होते तो मृग इतने अधिक बढ़ जाते कि हमारी खेतियों को ख़तरा पैदा हो जाता। मक्खी का मल वमन को रोकने में अचूक औषध का काम देता है। एवं, प्रत्येक प्राणी की उपयोगिता है, जिसको हम अपनी अल्पज्ञता के कारण पूर्णरूपेण समझते नहीं। सृष्टि में इन सब वायव्य, आरण्य व ग्राम्य पशुओं का अपना-अपना स्थान है।

भावार्थ—उस सर्वदाता यज्ञ नामक प्रभु ने अन्न व दूध का संभरण किया। उसके लिए ही पक्षियों, आरण्य व ग्राम्य पशुओं का निर्माण किया।

नोट—यहाँ 'वायव्य पशुओं' से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि किसी युग में कुछ उड़नेवाले पशु भी थे। उड़नेवाले पर्वतों की कल्पना से ऐसा भ्रम हो जाता है। वास्तव में न उड़नेवाले पर्वत थे और न उड़नेवाले पशु। पक्षियों को ही यहाँ 'उड़नेवाले पशु' कहा गया है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**स्रष्टेश्वरः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'वेद-ज्ञान' का प्रादुर्भाव

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाᳪसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥७॥

१. **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=ज्ञान का दान करनेवाले अथवा हमारे साथ ज्ञान का सम्पर्क करनेवाले **सर्वहुतः**=सबके लिए ज्ञान देनेवाले प्रभु से **ऋचः**=ऋचाएँ या ऋग्वेद के मन्त्र तथा **सामानि**=साम, अर्थात् सामवेद के मन्त्र **जज्ञिरे**=उत्पन्न हो गये। **तस्मात्**=उसी से **छन्दांसि**=रोगों व युद्धों से बचानेवाले अथर्व के छन्द **जज्ञिरे**=प्रादुर्भूत हुए। **तस्मात्**=उसी से **यजुः**=यजुर्वेद के मन्त्र **अजायत**=हो गये। २. (क) सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से दिया गया वेदज्ञान चार भागों में विभक्त है। प्रथम ऋग्वेद है, इसमें तृण से लेकर ब्रह्मपर्यन्त सभी पदार्थों के गुण-धर्मों का स्तवन (कथन) है। इसी से इनका नाम 'ऋग्वेद' (ऋच स्तुतौ) हो गया है। (ख) इस प्रकृति का ज्ञान करते हुए हम प्रसंगवश कण-कण में प्रभु की महिमा का भी अनुभव करते हैं और उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं। इसी नमन व उपासना का विषय 'सामवेद' में वर्णित है। (ग) यदि प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके उसका ठीक उपयोग करेंगे और प्रभु के अविस्मरण से विलास में न फँसेंगे तथा परस्पर प्रेम से चलेंगे तो रोगों व युद्धों से बचे रहेंगे, परन्तु मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण वे युद्ध व रोगों से आक्रान्त हो जाते हैं, 'उनसे अपना छादन (रक्षण) कैसे करना' यही विषय अथर्व-मन्त्रों का है, इसी से उन्हें यहाँ 'छन्दांसि' शब्द से स्मरण किया है। (घ) अब स्वस्थ व शान्त बनकर हमने अपना जीवन जिन श्रेष्ठतम कर्मों में बिताना है, उन्हीं कर्मों का प्रतिपादन 'यजुर्वेद' में है। यह यजुर्वेद इसीलिए 'कर्मवेद' कहलाता है। मनुष्य को अपना जीवन इन्हीं यज्ञात्मक कर्मों में लगाना है। इनको करता हुआ ही वह 'यज्ञ' बनता है और 'यज्ञ' नामवाले उस प्रभु को पाता है। ३. मानव-उन्नति के लिए ज्ञान देना आवश्यक था। ज्ञान के बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं, अतः प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में यह वेद-ज्ञान दिया।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त वेद-ज्ञान से हम प्रतिदिन उन्नति करते हुए प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

मनुष्य जीवन व पशुजीवन—दाएँ व बाएँ हाथ

तस्मादश्वाऽअजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः॥८॥

१. पशुओं की उत्पत्ति का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। प्रस्तुत मन्त्र में कुछ पशुओं का विशेषरूप से उल्लेख है, जिनका हमारे साथ विशेष सम्बन्ध है, वे पशु निम्न है—२. **तस्मात्**=उस प्रभु से **अश्वाः**=घोड़े **अजायन्त**=प्रादुर्भूत किये गये, **ये के च**=और जो कोई **उभायादतः**=दोनों ओर दाँतवाले, घोड़े के स्थानापन्न 'खच्चर, गधा' आदि पशु थे, वे भी प्रादुर्भूत हुए। मैदान में जो स्थान घोड़े का है, वही पर्वतप्रदेश में खच्चर आदि का है। **तस्मात्**=उस प्रभु से **ह**=निश्चय से **गावः**=गौवें **जज्ञिरे**=उत्पन्न हुईं। **तस्मात्** =उसी प्रभु से

अजा-अवयः=बकरियाँ व भेड़ें **जाताः**=उत्पन्न हुईं। ३. इस प्रकार 'गौ, घोड़ा बकरी व भेड़' इन चार पशुओं का यहाँ उल्लेख है। इनमें गौ और घोड़ा मनुष्य के दाहिने हाथ हैं तो बकरी और भेड़ बायाँ हाथ हैं। **'तवेमे पञ्च पशवः गौरश्वः पुरुषो अजावयः'** इस मन्त्रभाग में मनुष्य मध्य में है, एक ओर गौ व घोड़ा दूसरी ओर अजा और अवि हैं। मानव जीवन से इन चारों की अत्यन्त घनिष्ठता है। गौ अपने दूध से उसकी बुद्धि को सात्त्विक बनाकर मनुष्य के ज्ञान को बढ़ाती है। घोड़ा व्यायामादि में सहायक होकर शक्ति-वृद्धि का कारण बनता है। बकरी का दूध 'सर्वरोगापह' होने से मनुष्य को नीरोग व धनार्जन के योग्य बनता है। भेड़ ऊन देकर सरदी से उसकी रक्षा करती है और उसे उचित श्रम के योग्य बनाती है। ४. इन चारों में भी **'स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते'** इस मन्त्र में 'गौ, मनुष्य व घोड़ा' इन शब्दों में गौ को मनुष्य का दायाँ हाथ माना है तो घोड़े को बायाँ।

भावार्थ—हम पशुओं की उपयोगिता को समझकर उनका भी ध्यान करनेवाले बनें 'गौ' को तो घर का अत्यन्त आवश्यक अङ्ग समझकर अवश्य ही पालें।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रभु का प्रोक्षण

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।

तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये॥९॥

१. **तम्**=उस **यज्ञम्**=उपासनीय (पूजा) संगतिकरणयोग्य अथवा समर्पणीय (दान) प्रभु को **बर्हिषि**=उस हृदय में, जिसमें से वासनारूप घासफूँस का उद्बर्हण कर दिया गया है, **प्रौक्षन्**=सिक्त करते हैं। हृदय मानो क्षेत्र है और उस क्षेत्र को ये लोग प्रभु-चिन्तनरूप जल से सींचते हैं। इस क्षेत्र में से वे वासनाओं को उखाड़ डालते हैं और इसी वासनाओं के उद्बर्हण के परिणामस्वरूप इस खेत को यहाँ 'बर्हिः' नाम दिया गया है। वे प्रभु यज्ञ हैं। वे प्रभु पूजनीय हैं, संगमनीय हैं। हमें चाहिए कि हम अपने को उस प्रभु के प्रति दे डालें। यह 'दे डालना' ही समर्पण है। २. किस प्रभु का सेचन करते हैं? **पुरुषः**=उसका, जो इन शरीररूप पुरियों में निवास करते हैं (पुरि वसति, पुरि शेते वा)। उस प्रभु, का जो **अग्रतः**=पहले से ही **जातम्**=विद्यमान है। प्रभु हमारे हृदयों में पहले से हैं ही। हमें केवल हृदयों का शोधन करके, उन्हें बर्हि बनाकर प्रभु की ज्योति को देखने का प्रयत्न करना है। ३. **तेन**=उस प्रभु से **अयजन्त**=मेल करते हैं (संगतिकरण)। कौन? (क) **देवाः**=जो व्यक्ति अपने हृदयों से आसुरवृत्तियों का उद्बर्हण करके उन हृदयों को दैवीवृत्तियों से भरते हैं। दिव्यवृत्तियों को अपनाकर ही ये देव उस महादेव से मेल के अधिकारी होते हैं। (ख) **साध्याः**=(साध्नुवन्ति परकार्याणि) जो सदा परार्थ के कार्यों को सिद्ध करने में लगे हैं। जिनके हाथ सदा यज्ञों में व्यापृत हैं। 'देव शब्द उपासनाकाण्ड का संकेत करता था तो 'साध्य' शब्द कर्मकाण्ड को संकेतित कर रहा है। (ग) **ये च ऋषयः**=और जो तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी हैं। 'ऋषि' शब्द ज्ञानकाण्ड का प्रतीक है। प्रभु से मेल उन्हीं लोगों का होता है जो अपने जीवन में उपासना, कर्म व ज्ञान तीनों का सुन्दर समन्वय करते हैं।

भावार्थ—हम अपने हृदयों को पवित्र बना, वहाँ प्रभु की ज्योति को जगाएँ। देव, साध्य व ऋषि बनकर अर्थात् हृदय, हस्त व मस्तिष्क तीनों की उन्नति करके प्रभु से अपना मेल करें।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एक प्रश्न

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन्।
मुखं॒ किम॑स्यासी॒त्किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ऽ उच्येते॥१०॥

१. **यत्**=जब **पुरुषम्**=उस पुरुष प्रभु से **व्यदधुः**=ये 'देव, साध्य व ऋषि' **व्यकल्पयन्**=(वि+कल्पय्=सामर्थ्य) अपने को विशिष्ट सामर्थ्यवाला बनाते हैं। प्रभु के धारण से यह परिणाम निश्चित है कि प्रभु की शक्ति इन उपासकों को प्राप्त होती है। यहाँ जिज्ञासु के मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रभु के धारण करनेवाले को किस प्रकार का उत्कृष्ट सामर्थ्य प्राप्त होता है? २. इसी प्रश्न को जिज्ञासु कुछ विस्तार से इस प्रकार करता है कि (क) **अस्य**=इस प्रभु के धारण करनेवाले का **मुखम्**=मुख **किम् आसीत्**=क्या हो जाता है? (ख) **किं बाहू**=इसकी बाहुएँ क्या बन जाती हैं? (ग) **किम् ऊरू**=इसकी जाँघें क्या हो जाती हैं? (घ) **पादा**=इसके पाँव **किम् उच्येते**=कैसे कहे जाते हैं? ३. यहाँ प्रश्न है कि यह प्रभु का धारण करनेवाला कैसा होता है। एक समान्य व्यक्ति के और इसके मुख में क्या अन्तर होता है? इसकी बाहुएँ क्या बन जाती हैं? इसकी जाँघों व पाँवों का क्या नाम पड़ जाता है? सामान्य व्यक्ति के अङ्गों में क्या कमी होती है। जो इस प्रभु का पोषण करनेवाले में नहीं रहती! इतनी बात तो ठीक है कि उसके अङ्ग शक्तिशाली बन जाते हैं, परन्तु 'उनमें क्या शक्ति आ जाती है'? यह प्रश्न है, जिसका उत्तर अगले मन्त्र में देते हैं।

भावार्थ—प्रभु को धारण करनेवाले मनुष्य के मुख आदि में एक विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जो उसे सामान्य पुरुषों से विशिष्ट बना देती है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रश्न का उत्तर

ब्रा॒ह्म॒णो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीद् बा॒हू रा॑ज॒न्यः॑ कृ॒तः।
ऊ॒रू तद॑स्य॒ यद्वैश्यः॑ प॒द्भ्याᳫं शू॒द्रोऽअ॑जायत॥११॥

१. **अस्य**=इस प्रभुभक्त का **मुखम्**=मुख **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण **आसीत्**=हो जाता है। यह प्रभुभक्त अपने मुख से सदा ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाला (ब्राह्मण) बनता है, इसका मुख ज्ञान का प्रसार करता है। २. **बाहू**=इस प्रभुभक्त की भुजा **राजन्यः**=क्षत्रिय **कृतः**=कर दी गई हैं। **'स विशो अरज्यत ततो राजन्यो अजायत'**=प्रकृति का रञ्जन करने से ये राजन्य बनी हैं। इसकी भुजाएँ प्रजा के रक्षण में व्याप्त होने से प्रजा को आनन्दित करनेवाली हैं, अतः राजन्य हैं। ३. **यत्**=जो **अस्य**=इसकी **ऊरू**=जाँघें हैं **तत्** =वे ही **वैश्यः**=वैश्य हैं। अथर्व में यह पाठ 'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः' है। 'ऊरू' मध्यभाग का ही प्रतीक है, पेट भी उसमें समाविष्ट है। जिस प्रकार पेट रुधिरादि सब धातुओं का निर्माण करता है इसी प्रकार इस प्रभुभक्त की ऊरू भी निर्माण-कार्य में व्याप्त रहती हैं, कभी थकती नहीं। **'कृषिगोरक्ष-वाणिज्ये'**=कृषि, गोरक्षा व वाणिज्य ही वैश्य के कर्म हैं। यह प्रभुभक्त भी इन्हीं जैसे निर्माण के कार्यों में लगा रहता है। ४. **पद्भ्याम्**=पाँवों से यह प्रभुभक्त **शूद्रः**=शूद्र **अजायत**=हो जाता है। 'शूद्र' अर्थात् शु-द्रवति=तीव्र गति करता है। यह प्रभुभक्त बड़ा क्रियाशील होता है। इसमें प्रमाद, आलस्य व निद्रा स्थान नहीं कर लेती, यह अप्रमत्त होकर सब नियत कर्मों को शीघ्रता से करता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त ज्ञान का प्रचारक, निर्बलों का रक्षक, सभी का पालक तथा शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला होता है, दूसरे शब्दों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र बनता है।

नोट—१. प्रस्तुत मन्त्र में प्रसंगवश वर्णव्यवस्था का भी संकेत हो गया है। समाज का शरीर ब्राह्मणरूप मुखवाला है, क्षत्रिय इसकी भुजाएँ हैं, इसका मध्यभाग ही वैश्य है और इसके पाँव शूद्र हैं। ब्राह्मण वही है जो मुख की भाँति ज्ञान का प्रसार करनेवाला है, क्षत्रिय भुजाओं की तरह रक्षक है। वैश्य ने पेट की तरह सब अन्नादि का उत्पादन करना है और शूद्र ने अतन्द्र होकर सेवा-कार्य में व्याप्त रहना है। एवं, वर्णव्यवस्था गुण-कर्मों पर ही आश्रित है। (क) मुख को सर्दी-गर्मी नहीं सताती, अन्य शरीरांगों की अपेक्षा यह अधिक तपस्वी है, ब्राह्मण को भी इसी प्रकार तपस्वी बनना है। मुख स्वादिष्ठ वस्तु को अपने पास न रखकर पेट में भेज देता है, इसी प्रकार ब्राह्मण अपरिग्रही बनाये हैं। भेंट में प्राप्त बहुमूल्य वस्तु को यह प्रजाहित के लिए दान कर देता है। (ख) भुजाओं का काम पालन है, ये शक्तिशाली होती हैं, इसी प्रकार क्षत्रिय ने शक्तिशाली बनकर प्रजा की रक्षा करनी है। वैश्य पेट की भाँति सभी को देकर स्वयं पतला बना रहता है। पेट का सौन्दर्य पतलेपन में ही है। वैश्य का सौन्दर्य भी, देकर निर्धन बनने में ही है। पाँव बिना असूया के चलते है, इसी प्रकार बिना किसी खीझ के शूद्र ने सेवा करनी है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रभुभक्त कैसा बन जाता है?

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥१२॥

१. यद्यपि मन्त्र संख्या १० में प्रश्न 'मुख, बाहु, ऊरु और पाद' के विषय में था और उसका उत्तर ११वें मन्त्र में ही दे दिया गया है तथापि प्रश्न का उत्तर विस्तार से देते हुए कहते हैं कि **मनसः**=मन से यह प्रभुभक्त **चन्द्रमा**=चन्द्र **जातः**=हो जाता है। 'चन्द्र' शब्द 'चदि आह्लादे' से बनकर आह्लाद व प्रसन्नता का संकेत करता है। इसका मन सदा प्रसन्न रहता है। मनःप्रसाद ही सर्वोत्कृष्ट तप है। संसार के सुख-दुःख इसके मन को क्षुब्ध नहीं करते। यह चन्द्रमा के समान सदा आह्लादमय रहता है। २. **चक्षोः (चक्षुषः)**=चक्षु से **सूर्यः**=सूर्य **अजायत**=हो जाता है। जैसे सूर्य से प्रकाश की किरणें निकलकर अन्धकार को नष्ट कर देती हैं, इसी प्रकार इसकी चक्षु से ज्ञान की किरणें प्रसृत होकर लोगों के अज्ञानान्धकार को समाप्त कर देती हैं। ऐसा ही व्यक्ति 'विलक्षण' कहलाता है। ३. **श्रोत्रात्**=श्रोत्र (कान) से यह **वायुप्राणश्च**=वायु और प्राण होता है। (क) श्रोत्र का प्रथम अर्थ है 'कान'। कान से वायु=गतिशील (वा गतौ) बनता है, अर्थात् इसे कोई बात कही जाती है तो उसे ध्यान से सुनता है और तदनुसार कार्य करता है, (does not turn a deaf ear to advice) एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल नहीं देता। 'सुनना और करना' यही श्रोत्र का वायु बनना है। (ख) श्रोत्र का दूसरा अर्थ है 'योग्यता' (Proficiency) 'उन्नति', 'विशेषतः ज्ञान की उन्नति'। इस ज्ञान की उन्नति से यह 'प्राण' बनता है, अर्थात् ज्ञान की उन्नति से यह प्राणों को उन्नत करता है। किसी एक इन्द्रिय की शक्ति के विकास के स्थान में यह प्राणों का विकास करता है, क्योंकि प्राणों के विकास से सभी इन्द्रियों का विकास हो जाता है। (ग) **मुखात्**=मुख से **अग्निः**=अग्नि **अजायत**=हो जाता है। अग्नि के दो कार्य होते हैं (क) योजन, (ख) भेदन। यह प्रभुभक्त भी योजन और भेदन की

शक्तिवाले मुखवाला हो जाता है। वर देकर यह किसी भी व्यक्ति का उत्तमता से योजन कर देता है तो शाप देकर यह भेदन भी कर पाता है। केवल मिलानेवाला है, नकि मिटानेवाला।

भावार्थ—प्रभुभक्त सदा प्रसन्न, प्रकाशमय, गतिशील-प्राणशक्तिसम्पन्न और अग्नि के समान योजक व भेदक बन जाता है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

लोक-कल्याण

नाभ्या॑ऽआसीद॒न्तरि॑क्ष॒ꣳशी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्त्तत।

प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ२॥ऽअ॑कल्पयन्॥१३॥

१. **नाभ्या**=(नाभ्यै) नाभि के लिए अथवा नाभि के हेतु से **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **आसीत्**=होता है। नाभि केन्द्र है, सारी नस-नाड़ियाँ अन्त में यहीं बँधी हैं। इस केन्द्र के ठीक रखने से यह प्रभुभक्त मध्यमार्ग में चलनेवाला (अन्तरा+क्षि=बीच में चलना) होता है। शरीर के केन्द्र को ठीक रखने के लिए मध्यमार्ग में रहना आवश्यक है। २. **शीर्ष्णः**=मस्तिष्क से **द्यौः**=द्युलोक **समवर्त्तत**=हो जाता है। जिस प्रकार द्युलोक जगमगाता है, इसी प्रकार इस प्रभुभक्त का मस्तिष्क भी ज्ञान के सूर्य व विज्ञान के नक्षत्रों से चमकता है। ३. **पद्भ्याम्**= पाँव से यह **भूमिः**=भूमि हो जाता है। पाँव (पद गतौ) गति के प्रतीक हैं। भूमि को भूमि इसलिए कहते हैं कि इसमें प्राणी होते हैं (भवन्ति भूतानि यस्याम्)। यह प्रभुभक्त अपनी गति के द्वारा सब प्राणियों के निवास का कारण बनता है। इसकी क्रिया रक्षक है, नकि नाशक। ४. **श्रोत्रात्**=श्रोत्र से **दिशः**=यह दिश् बन जाता है। श्रोत्र का दूसरा अर्थ वेद है। यह अपने जीवन के सब निर्देश (आदेश व सन्देश) वेद से ही प्राप्त करता है। इसका जीवन वेदानुकूल होता है। **'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'**=धर्म के लिए परमप्रमाण श्रुति ही है। ५. **तथा**=उस प्रकार—ऊपर कथित प्रकार से यह प्रभुभक्त **लोकान्**= इस पिण्ड के एक-एक लोक (Locality) को—अङ्ग-प्रत्यङ्ग को **अकल्पयन्**= शक्तिशाली बनाता है। शक्तिसम्पन्न बनकर यह प्रभुभक्त 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' बन जाता है।

भावार्थ—यह प्रभुभक्त सदा मध्यमार्ग पर चलनेवाला, जगमगाते मस्तिष्कवाला, निर्माणात्मक क्रियाओं में लगा हुआ, वेद के अनुसार जीवन-मार्ग पर चलता हुआ शक्तिशाली अङ्गोंवाला बनता है।

नोट—प्रस्तुत मन्त्रों में विराट् को पुरुष का शरीर मानकर यह भी संकेत दिया गया है कि उस विराट् शरीर की नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, पाँव से भूमि, श्रोत्र से दिशाएँ (१३) मन से चन्द्रमा, आँख से सूर्य, श्रोत्र से वायु व प्राण और मुख से अग्नि (१२) की उत्पत्ति हुई। आगे चलकर अन्तरिक्ष ही हमारे शरीर में नाभि बनकर रहने लगा, द्युलोक सिर के रूप में, पृथिवी पाँव में, दिशाएँ श्रोत्र के रूप में आकर यहाँ रहे। चन्द्रमा ही मन बना, सूर्य आँख, वायु और प्राण श्रोत्र और अग्नि मुख बनकर शरीर में रहा। विराट् पिण्ड से आधिदैविक जगत् के दैवों की उत्पत्ति हुई और इन देवों से पिण्ड में उस-उस इन्द्रिय की उत्पत्ति हो गई।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सौन्दर्य, तेजस्विता, त्याग—एक महान् यज्ञ (संगम)

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत।

व॒स॒न्तो॑ऽस्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्मऽइ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः॥१४॥

१. **यत्**=जब **हविषा** (हु=दान)=हविरूप त्याग के पुञ्ज **पुरुषेण**=ब्राह्मण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले प्रभु से **देवाः**=देवलोक–दैवीवृत्ति को धारण करनेवाले व्यक्ति **यज्ञम्**=संगतिकरण को, सम्बन्ध को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं तब **अस्य**=इस प्रभु से मेल करनेवाले व्यक्ति के लिए **वसन्तः**=वसन्तऋतु **आज्यम्**=आज्य **आसीत्**=हो जाती है **ग्रीष्मः**=ग्रीष्मऋतु **इध्मः**=समिधाएँ और **शरत् हविः**=शरद्‌ऋतु हवि हो जाती है। २. दैवीवृत्तिवाले मनुष्य त्याग के पुञ्ज प्रभु से अपना मेल करते हैं। प्रभु से मेल बढ़ाने का परिणाम यह होता है कि इनका जीवन भी त्यागमय बनता है। इस अभौतिक वृत्ति का ही परिणाम होता है कि वसन्तऋतु इस त्यागमय जीवनवाले के लिए 'आज्य' हो जाती है। आज्य शब्द 'अञ्ज' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है 'व्यक्त करना'। वसन्तऋतु इस प्रभु के उपासक के लिए प्रभु की महिमा को व्यक्त करनेवाली बन जाती है। चारों ओर वनस्पतियों के नवपल्लव, पुष्प व फल इस प्रभु के उपासक के लिए प्रभु-दर्शन के द्वार बन जाते हैं। इसे ये सब प्रभु का गुणगान करते प्रतीत होते हैं। ४. ग्रीष्मऋतु इस त्यागी भक्त के लिए 'इध्मं'=दीप्ति का प्रतीक हो जाती है। जैसे ग्रीष्म में सूर्य अपने पूरे बल से प्रचण्डरूप में चमक रहा होता है, उसी प्रकार यह उपासक प्रभु की अत्यन्त ज्योतिर्मय ज्ञानदीप्ति की कल्पना करता है। सूर्यकिरणें कृमियों की ध्वंसक बनती हैं तो प्रभु की ज्योति की किरणें हृदयान्धकार को नष्ट करनेवाली होती हैं ५. इस प्रभु के संगी के लिए सब पत्तों को शीर्ण करती हुई शरद् भी हवि का संकेत बन जाती है। शरद् (autumn) में पत्ते शीर्ण हो जाते है। यह प्रभु-भक्त भी सर्वस्व का त्याग करता हुआ, शरत् से हविरूप बनना सीखता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त के लिए वसन्त प्रभु की महिमा को दिखाती है तो ग्रीष्म ज्ञानदीप्ति को और शरत् त्यागशीलता को। वसन्त सौन्दर्य को, ग्रीष्म ज्योति को, शरत् त्याग को संकेतित करती है।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

पशुबन्धन

स॒प्तास्या॑सन् परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒नाऽअब॑ध्न॒न् पुरु॑षं प॒शुम्॥ १५॥

१. **देवाः**=देवलोग **यत्**=जब **यज्ञम्**=प्रभु के साथ मेल को **तन्वानाः**=विस्तृत करते हुए **पुरुषम्**=पौरुषवाले **पशुम्**=इस काम-क्रोधरूप पशु को **अबध्नन्**=बाँधते हैं तब **अस्य**=इस यज्ञ का विस्तार व पशुबन्धन करनेवाले के **सप्त**=सात **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'** कर्णादि ऋषि **परिधयः**=परिधिरूप, बड़ी मर्यादा में चलनेवाले **आसन्**=हो जाते हैं और **त्रिःसप्त**=शरीर की इक्कीस शक्तियाँ **समिधः**=अत्यन्त समृद्धि व दीप्तिवाली **कृताः**=की जाती हैं। २. प्रभुमेल करने योग्य हैं, अतः यज्ञ हैं। यज्ञ का अर्थ 'मेल' भी है। देव व समझदार लोग प्रभु से मेल करते हैं, नकि प्रकृति से। माधुर्यवाली वस्तु जैसे मधुर कहलाती है उसी प्रकार पौरुषवाले इस काम को यहाँ पुरुष कहा गया है। उपनिषद् में 'कामः पशुः क्रोधः पशु' इन शब्दों में काम-क्रोध को पशु कहा गया है। प्रभु से मेल का ही यह परिणाम होता है कि इस पशु को हम बाँध पाते है, अपना क़ैदी बना लेते हैं। यह वशीभूत काम हमारे वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग का साधन बनता है। इस प्रकार पशु मनुष्य का कार्यवाहक बन जाता है। ३. काम-क्रोध को वशीभूत करनेवाले इस यज्ञमय पुरुष के दो कान, दो आँख, दो नासिका-छिद्र व मुखरूप सब इन्द्रियाँ परिधि बन जाती हैं। परिधि=मर्यादा, इसकी इन्द्रियाँ सदा मर्यादा में रहती हैं, उसका उल्लंघन नहीं करतीं। दूसरे शब्दों में इसके इन्द्रियरूप अश्व सन्मार्ग का ही आक्रमण करते हैं, मार्ग से रेखामात्र भी विचलित नहीं

होते। ४. इन्द्रियों के सदा सन्मार्ग पर चलने का यह परिणाम होता है कि इसकी इक्कीस शक्तियाँ सदा दीप्त रहती हैं। इसकी शक्तियाँ चमक उठती हैं। इन्द्रियों का मर्यादा में रहना और शक्तियों के दीपन में कार्यकारण भाव तो है ही।

भावार्थ—प्रभुभक्ति व प्रभु से मेल के तीन परिणाम हैं १. काम-क्रोध का वशीकरण २. इन्द्रियों का मर्यादा में रहना और ३. शक्तियों का वर्धन व दीपन।

ऋषिः—**नारायणः**। देवता—**पुरुषः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मुख्य धर्म

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥१६॥

१. **यज्ञो वै विष्णुः**'=इन शब्दों में ब्राह्मणों ने विष्णु=सर्वव्यापक प्रभु को 'यज्ञ' कहा है। मनुष्य में भी जब 'देवपूजा, संगतिकरण तथा दान की भावनाएँ आ जाती हैं तब यह भी यज्ञ को अपना रहा होता है। मनुष्य की उन्नति के लिए आवश्यक है कि (क) वह 'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु' इनको देव जानकर उनकी पूजा करे। इनके कथनों का आदर करता हुआ तदनुसार अपना आचरण बनाये। (ख) संसार में सदा सबके साथ मेल से चले। उसकी जिह्वा का माधुर्य सभी को उसकी ओर आकृष्ट करनेवाला हो। (ग) वह सदा दान देनेवाला बने। यज्ञशेष को खाये। त्यागपूर्वक उपभोग करे। ये तीन बातें ही मिलकर यज्ञ कहलाती हैं। यज्ञनामक विष्णु की उपासना इस यज्ञ से ही होती है। **देवाः**=देवलोग **यज्ञेन**=देवपूजा, संगतिकरण व दान से **यज्ञम्**=पूजनीय, संगतिकरणीय, समर्पणीय प्रभु को **अयजन्त**=पूजते हैं, उसके साथ अपना मेल बढ़ाते हैं। ३. **तानि**=ये देवपूजा, संगतिकरण और दान ही **धर्माणि**=धारणात्मक उत्तम कर्म हैं। ये **प्रथमानि**=मुख्य हैं और जीव का 'प्रथ-विस्तारे' विस्तार करनेवाले हैं। ३. **ते**=ये **महिमानः**=(मह पूजायाम्) प्रभु के सच्चे उपासक **ह**=ही **नाकम्**=जहाँ दुःख है ही नहीं (न अकं यत्र) उस आनन्दघन प्रभु को **सचन्त**=प्राप्त होते हैं, सेवन करते हैं। प्रभु ही मोक्षलोक है, मुक्त जीव प्रभु में ही विचरते हैं (सह ब्रह्मणा विपश्चिता)। यह मोक्ष-लोक वह है **यत्र**=जहाँ **पूर्वे**=सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले 'अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा' आदि ऋषि, इन ऋषियों के ही समान अपने में ज्ञान का पूरण करनेवाले (पृ=पूरण) ज्ञानीलोग, **साध्याः**=सदा उत्तम कार्यों के द्वारा लोकहित का साधन करनेवाले कर्मठ लोग तथा **देवाः**=अपने मन में 'अद्रोह,' अनुग्रह व दान' की दिव्य भावनाओं को जगानेवाले भक्त-लोग **सन्ति**=निवास करते हैं, विद्यमान रहते हैं। इस नाकलोक के अधिकारी ये 'पूर्वे, साध्याः और देवाः' ही हैं। (क) देवपूजा से—माता-पिता व आचार्य आदि के आदर से इन्होंने अपने मस्तिष्क में ज्ञान व पूरण किया है अतएव **पूर्व**=पूरण करनेवाले कहलाये हैं। (ख) सबके साथ संगति व मेल से चलते हुए इन्होंने सर्वहितकारी यज्ञों का साधन किया है, अतः साध्य बने हैं, और (ग) अन्त में सदा दान-धर्म को अपनाने से ये (देवो दानात्) देव नामवाले हुए हैं। ये ही प्रभु-प्राप्ति के सच्चे अधिकारी हैं और इस जीवन के अन्त में परामुक्ति को प्राप्त करके प्रभु में स्थित होते हैं।

भावार्थ—'देवपूजा, संगतिकरण व दान' ही मुख्य धर्म हैं, इन्हें अपनानेवाला प्रभु को अपना पाता है।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**आदित्यः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अमैथुनी सृष्टि—आजान देवत्व

अ॒द्भ्यः सम्भृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्मणः॒ सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑।
तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒व॒त्वमा॒जान॒मग्रे॑ ॥१७॥

१. 'मनुष्य का शरीर किस प्रकार बनता है' इसपर विचार करते हुए उपनिषद् के अनुसार जल पाँचवीं आहुति में पुरुष संज्ञावाले होते हैं। (क) सर्वप्रथम श्रद्धा=जलीय कणों की धारकशक्ति की द्युलोक में आहुति देते हैं (जल वाष्पीभूत हो द्युलोक में पहुँचता है) इससे सोम की उत्पत्ति होती है। (ख) सोम की आहुति पर्जन्य में, इससे वृष्टि होती है, (ग) वृष्टि की आहुति पृथिवी में, उससे अन्न उत्पन्न होता है। (घ) अन्न की आहुति पुरुष में, उससे रेतस् उत्पन्न होता है। (ङ) इस रेतस् की आहुति स्त्री में, इससे गर्भ होता है। इस प्रकार जल पाँचवीं आहुति में पुरुष संज्ञावाले हो जाते हैं। मन्त्र में कहा है कि **अद्भ्यः**=जलों से **सम्भृतः**=मनुष्य-शरीर का संभरण हुआ है। आजकल पाँचवीं आहुति रेतस् (आपः=रेतः) की स्त्री-शरीर में दी जाती है और वहाँ शरीर का निर्माण होता है, परन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में जब ये शरीर न थे तब **अग्रे**=उस प्रथम समय में, अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में **विश्वकर्मणः**=उस सारे संसार का निर्माण करनेवाले प्रभु से **पृथिव्यै**=इस पृथिवी से ही (पृथिव्याः) जो वृक्ष हुए, उन वृक्षों में ही एक फली में **रसात् च**=रस का सञ्चार करके प्रभु ने इस शरीर का पोषण किया। यह अमैथुनी सृष्टि कहलाती है। **अग्रे समवर्त्तत**=सृष्टि के प्रारम्भ में ऐसा ही हुआ। यह सृष्टि स्त्री-पुरुष के द्वन्द्व से न होकर प्रभु से ही पैदा कर दी गई। २. जिस समय वृक्ष की फली में इस शरीर का पोषण हो रहा होता है उस समय वह **त्वष्टा**=देवशिल्पी प्रभु ही **तस्य**=उसमें **रूपम्**=रूप का **विदधत्**=निर्माण करते हुए **एति**=गतिशील होते हैं। यहाँ मनुष्य को आकृति अपने माता-पिता से मिलती हैं, परन्तु अमैथुनी सृष्टि में प्रभु उसे पिछले कर्मों के अनुसार उचित रूप देते हैं। ३. **तत्**=यही **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के द्वारा **मर्त्यस्य**=मनुष्य का **आजानम् देवत्वम्**=जन्म से देवत्व (आजान देवत्व) था। प्रभु की इस अमैथुनी सृष्टि में शुभ कर्मोंवाले लोगों की ही उत्पत्ति हुई। पीछे अपनी स्वाभाविक अल्पज्ञता तथा सांसारिक प्रलोभनों के प्रबल आकर्षण से यह जीव धीरे-धीरे आसुरी वृत्ति की ओर झुका और संसार में मनुष्य 'देव व असुर' इन दो भागों में बँट गये। ये ही अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण आर्य व दस्यु कहलाये।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम अपने आजनदेवत्व को स्थिर रख पाएँ। संसार के प्रलोभनों में फँसकर असुर न बन जाएँ।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**आदित्यः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अतिमृत्यु-अयन—मृत्यु के पार

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१८॥

१. **अहम्**=मैं **एतम्**=इस **महान्तम्**=महान्, पूजनीय **आदित्यवर्णम्**=सूर्य के समान वर्णवाले **तमसः परस्मात्**=अन्धकार से परे वर्त्तमान **पुरुषम्**=पुरुष को **वेद**=जानता हूँ। वह प्रभु पुरुष हैं, ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करनेवाले हैं (पुरि वसति), सर्वव्यापक हैं। महान् हैं, विभु हैं अथवा 'मह पूजायाम्' पूजा के योग्य हैं। उस प्रभु की तेजस्विता की कल्पना सूर्य के द्वारा ही हो सकती है, हज़ारों सूर्यों की दीप्ति के समान उस प्रभु की दीप्ति है। वे प्रभु तम से परे हैं, वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है, अन्धकार का वहाँ नाम ही नहीं। 'तमस्' प्रकृति को भी कहते हैं, वे प्रभु प्रकृति से भी परे हैं। प्रकृति से परे तो जीव भी है, प्रभु जीव से भी परे हैं। २. **तम्**=उस प्रकृति व जीव से परे अथवा सब अन्धकारों से परे वर्त्तमान उस ज्योतिर्मय प्रभु को **विदित्वा एव**=जानकर ही मुनष्य **मृत्युम् अतिएति**=मौत को लाँघ जाता है। 'आत्मतत्त्व का ज्ञान' जीवन का उद्देश्य है। इस उद्देश्य पर पहुँचे बिना मनुष्य

बारम्बार जन्म ग्रहण करता है। आत्मदर्शन हुआ, प्राकृतिक भोगों का रस फीका पड़ गया, उलझन समाप्त हुई और मनुष्य मृत्यु से ऊपर उठा। ३. इस प्रभु के **अयनाय**=प्राप्त करने के लिए **अन्यः पन्थाः**=दूसरा मार्ग न **विद्यते**=नहीं है। प्रभु का ज्ञान ही हमें प्रभु की ओर ले-जाता है और प्रभु को प्राप्त करके हम जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु को जानकर हम मृत्यु से ऊपर उठें और मोक्ष का लाभ करें।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**आदित्यः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अजायमान-विजायमान—न होते हुए, होना

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥१९॥

पिछले मन्त्र में कहा था कि 'मैं इस महान् पुरुष को जानता हूँ' प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि 'किस रूप में?' (क) **प्रजापतिः**=वे प्रभु प्रजा के पति हैं। सबके रक्षक हैं। मेरी भी वे प्रभु ही रक्षा कर रहे हैं। (ख) **अजायमानः**=(जनी प्रादुर्भाव) सबके अन्दर होते हुए भी वे अप्रादुर्भूत=अव्यक्त ही हैं। वे प्रभु कभी व्यक्त नहीं होते। वे तो शरीर धारण करते ही नहीं, वे शरीर में अवतीर्ण नहीं होते। (ग) **बहुधा विजायते**=शरीर धारण न करते हुए भी वे प्रभु नानारूपों में विशेषरूप से प्रादुर्भूत होते हैं। हिमाच्छादित पर्वतों में, अनन्त विस्तारवाले समुद्रों में, अनन्त भार का वहन करनेवाली इस पृथिवी में, आकाश को आवृत-सा कर लेनेवाले नक्षत्रों में उस प्रभु की ही महिमा दिख रही होती है। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की रचना में उस रचयिता का रचना-कौशल दिखाई दे रहा है। एक-एक फल व फूल उस रचयिता का गान करता प्रतीत होता है। एवं, कण-कण में वे प्रभु प्रकट हो रहे हैं। अजायमान वे प्रभु विजायमान बन रहे हैं, अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त हो रहे हैं। (घ) **तस्य**=उस अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त प्रभु के **योनिम्**=घर व आधार को **धीराः**=विचारशील लोग ही **परिपश्यन्ति**=सर्वत्र देखते हैं। **तस्मिन्**=उस आधार में **ह**=निश्चय से **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **तस्थुः**=ठहरे हैं। उस प्रभुरूप आधर में ये सारा ब्रह्माण्ड स्थित है **पादोऽस्य विश्वा भूतानि**=उस आधार में क्या उस आधार के भी एक देश में ही यह सारा ब्रह्माण्ड रचा गया है। कितना व्यापक है वह आधार!

भावार्थ—प्रभु प्रजापति हैं, नानारूपों को वो जन्म दे रहे हैं, वही सब लोकों का धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

ब्राह्म-तेज

यो देवेभ्यऽआतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये॥२०॥

गतमन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि 'उस प्रभु में ही ये सब लोक आश्रित हैं'। प्रस्तुत मन्त्र उन्हीं लोकों के वर्णन से प्रारम्भ होता है। सब लोक वैदिक साहित्य में 'देव' कहलाते हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक—सब देवता हैं, इनमें रहनेवाले अग्नि, वायु, सूर्य, भी देवता हैं। इन सब देवताओं को दीप्ति प्रभु से प्राप्त होती है। मन्त्र में कहते हैं कि उस **ब्राह्मये रुचाय**=ब्रह्म कान्ति के लिए, ब्रह्मसम्बन्धी तेज के लिए **नमः**=नमस्कार हो (क) **यः**=जो **देवेभ्यः**=सब देवों के लिए **आतपति**=चारों ओर दीप्त होता है। जैसे यहाँ सूर्य के तेज से चन्द्र, पृथिवी आदि तेजवाले प्रतीत हो रहे हैं, उसी प्रकार ये अग्नि, विद्युत् व

सूर्यादि तेज भी ब्रह्म के तेज से दीप्ति प्राप्त करते हैं। (ख) जैसे स्फटिक के सामने जपापुष्प (Rose flower) होता है तो जपापुष्प का गुलाबीपन स्फटिक में भी झलकता है, वह गुलाबीपन स्फटिक का अपना नहीं होता, इसी प्रकार वे प्रभु हैं। **यः**=जो **देवानाम्**=सब देवों के **पुरः**=सामने **हितः**=स्थापित है, उस प्रभु की दीप्ति इन देवों में झलक रही है, इन देवों की यह दीप्ति अपनी थोड़े ही है? जो प्रभु से ओझल होता है, वही दीप्ति-शून्य हो जाता है। (ग) यह प्रभु ही है **यः**=जो **देवेभ्यः**=सब देवों से **पूर्वः जातः**=पहले से हैं। पहले से ही होते हुए ये अन्य देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं। **येन देवा देवतामग्र आयन्**=इसी से तो देव प्रथम देवत्व को प्राप्त हुए। जो जीव भी सदा प्रभु के सामने उपस्थित रहता है वह भी ब्रह्मतेज को प्राप्त कर देवों के समान चमकने लगता है।

भावार्थ—प्रभु ही सब सूर्यादि देवों को दीप्ति देनेवाले हैं। उस ब्रह्मरुचि दीप्ति को प्राप्त करने के लिए मैं भी **नमस्**=नम्रता की भावना को धारण करता हूँ।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

देवों का वशीकरण

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽअग्रे तदब्रुवन्।

यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवाऽअसन्वशे॥२१॥

गतमन्त्र की भावना यह है कि 'सूर्यादि सब देव उस ब्राह्मतेज से ही दीप्त हो रहे हैं।' उसी वाक्य से इस मन्त्र को प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि **अग्रे**=इस सृष्टि के प्रारम्भ से ही **ब्राह्मं रुचम्**=ब्रह्म-सम्बन्धी कान्ति को **जनयन्तः**=प्रकट करते हुए **देवाः**=अग्नि, विद्युत्, सूर्यादि ये सब देव **तत् अब्रुवन्**=इस बात को कहते हैं कि **यः ब्राह्मणः**=जो ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **तु**=भी **एवं विद्यात्**=इस प्रकार जान लेता है **तस्य**=उसके **देवाः**=सब देव **वशे असन्**=वश में होते हैं।

सूर्यादि सब देव प्रभु की दीप्ति से ही तो दीप्त हो रहे हैं। ये चमकते हुए सूर्यादि देव सनातन काल से मानो यही उद्घोषणा कर रहे हैं कि जो भी ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस तत्त्व को समझ लेगा और ब्रह्म से अपने को ओझल न करेगा, वह भी ब्रह्म के तेज से तेजस्वी होगा।

भावार्थ—ब्रह्मवेत्ता को सब देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**उत्तरनारायणः**। देवता—**आदित्यः**। छन्दः—**निचृदार्षीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

एक आदर्श ब्रह्मवेत्ता का जीवन

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।

इष्णन्निषाणामुं मऽइषाण सर्वलोकं मऽइषाण॥२२॥

'सब देव उसके अनुकूल होते है' इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि कोई भी प्राकृतिक शक्ति उसके प्रतिकूल नहीं होती, अर्थात् जल-वायु आदि सदा उसके अनुकूल होते हैं। परिणामतः वह स्वस्थ, सबल व सुन्दर शरीरवाला होता है, स्वस्थ शरीर में उसका मन व मस्तिष्क भी स्वस्थ होता है। शरीर का स्वास्थ्य उसे 'श्री'-सम्पन्न बनाता है और मन व मस्तिष्क का स्वास्थ्य ज्ञान की 'लक्ष्मी' से युक्त करता है। इसी श्री व लक्ष्मी का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—

१. 'श्री' स्वास्थ्यजनित सौन्दर्य का नाम है तथा 'लक्ष्मी' लक्ष दर्शनांकनयोः धातु से बनकर ज्ञान का वाचक है, ज्ञान की प्रक्रिया यही तो होती है कि हम दर्शन=देखते हैं और

हमारे मस्तिष्क पर उसका अंकन=छाप हो जाती है। इस प्रकार हमें उस वस्तु का ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म अपने वेत्ता इस ब्राह्मण से कहते हैं कि **श्रीः च लक्ष्मीः च**=श्री और लक्ष्मी **ते**=तेरी **पत्न्यौ**=पत्नियाँ हैं। ये तेरे जीवन के अंग part and parcel बन गये हैं। (ख) 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस व्याकरणसूत्र के अनुसार ये श्री और लक्ष्मी यज्ञ के लिए तेरे साथ संयुक्त हुई हैं। तेरी शक्ति व तेरा ज्ञान दोनों यज्ञ में विनियुक्त होते हैं। २. **अहोरात्रे पार्श्वे**=अहन् और रात्रि ये तेरे जीवन के दो पहलू हैं। तेरे जीवन का पहला सिद्धान्त तो 'अहन्'=एक भी क्षण आलस्य में नष्ट न करना है। एक-एक क्षण तेरा कार्य में व्याप्त है। तेरे जीवन का दूसरा पहलू यह है कि तू इस कार्यव्यापृतता में रमण करता है (रात्रिः= रमयित्री)। तू कार्य में लगा रहता है और उसमें आनन्द का अनुभव करता है। तू कर्म को ही अपना क्षेत्र मानता है और उसी में लगा रहकर एक मस्ती को अपने जीवन में ला-पाता है। ३. **नक्षत्राणि रूपम्**=नक्षत्र तेरे रूप हैं 'न क्षीयते इति नक्षत्रम्' नक्षत्र इसलिए नक्षत्र हैं कि वे क्षीण नहीं होते। यह क्षीण न होना अक्षीणता ही तेरा रूप=Pattern, नमूना है। ये तेरे जीवन के आदर्श हैं, पुरोहित model हैं। मैं भी इन नक्षत्रों की भाँति अक्षीण चमक से चमकता रहूँगा। ४. (क) **अश्विनौ व्यात्तम्**=ये द्यावापृथिवी तेरे खुले मुख हैं। तेरा मुख ही तेरा मुख नहीं, अपितु द्युलोक व पृथिवीलोक में रहनेवाले सारे प्राणी ही तेरे मुख हैं। तूने अकेले नहीं खाना, सभी के साथ मिलकर खाना है अथवा (ख) **अश्विनौ**=श्रोत्र, ये तेरे कान तेरे खूब खुले मुख बन गये हैं। जैसे मुख से मनुष्य ग्रास को लेता है उसी प्रकार तेरे कान सदा ज्ञान के ग्रासों को खाने में लगे हैं, तू तो ब्रह्म (ज्ञान) चर्वण (भक्षण) करनेवाला ब्रह्मचारी हो गया है। (You have become a voracious reader) ५. इसी ज्ञानभक्षण में लगे रहने का परिणाम है कि तू **इष्णन्**=(to strike, to smite) वासनाओं पर चोट करनेवाला बना है। इस प्रकार सब वासनाओं पर चोट करता हुआ तू **इषाण**=सब लोगों को इस मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित कर। तेरा पवित्र जीवन औरों को भी उसे अपनाने के लिए प्रेरणा दे। ६. **मे**=मेरी **अमुम्**=उस ब्राह्मरुचि को, जो सब देवों को दीप्त कर रही है तू भी **इषाण**=(to promote) अपने अन्दर बढ़ाने का प्रयत्न कर और इस प्रकार ७. **मे सर्वलोकम्**= मेरी इस सारी दुनिया को तू **इषाण**=प्रेरणा देनेवाला बन। तू अपने जीवन की वासनाओं को समाप्त करके और ब्रह्मकान्ति को धारण करके ही औरों को उत्तम प्रेरणा दे पाएगा। इस प्रकार का बनकर ही तू 'उत्तर-नारायण'=नरसमूह का उत्कृष्ट शरणस्थान बनेगा।

भावार्थ—नर से नारायण बनने के लिए मन्त्र में वर्णित ७ बातों को अपनाना है।

इत्येकत्रिंशोऽध्यायः॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एकेश्वरवाद

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑।

तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ताऽआपः॒ स प्र॒जाप॑तिः॥१॥

१. **तत् एव अग्निः**=वह प्रभु ही 'अग्नि' नामवाले हैं, सबको आगे ले-चलनेवाले हैं। **तत् आदित्यः**=वे प्रभु आदित्य हैं, सबका अपने अन्दर आदान करने के कारण आदित्य नामवाले हैं। **तत् वायुः**=वे प्रभु वायु हैं, सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले हैं। **तत् उ चन्द्रमाः**=वे प्रभु ही चन्द्रमा हैं, आह्लादमय हैं, भक्तों को आनन्दित करनेवाले हैं। **तत् एव शुक्रम्**=वे प्रभु ही शुक्र हैं, शुचि व उज्ज्वल हैं। **तत् ब्रह्म**=वे प्रभु ब्रह्म हैं, बृहत् हैं, अधिक-से-अधिक बढ़े हुए हैं। **ताः आपः**=वे प्रभु ही **आपः**=आपः नामवाले हैं, सर्वव्यापक हैं (आप्=व्याप्तौ) **सः प्रजापतिः**=वह प्रभु ही प्रजा की रक्षा करने से प्रजापति हैं। २. (क) पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक युग के व्यक्तियों को सभ्यता की प्रारम्भिक श्रेणी में स्थित मान लिया तब यह निश्चित ही था कि उस सभ्यता के लोगों में 'एकेश्वरवाद' के विचार का विकास नहीं हो सकता। **'विश्वानि देव सवितः'** मन्त्र में देव सविता का स्मरण है तो **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** मन्त्र में हिरण्यगर्भ का स्तवन है। **'प्रजापते न त्वदेता'** में प्रजापति की पूजा है तो **'अग्ने नय'** में अग्नि की उपासना है। एवं, वैदिक सभ्यता में बहुदेवतावाद तो था। (ख) एक और बात यह कि विद्वान् उस प्राकृतिक शक्ति को ही देव मान लेते थे, जो डर का कारण हो। गौ की पूजा तो नहीं, परन्तु सर्प यहाँ देवता हैं। बाढ़ आई तो ये जल व वरुण देवता की पूजा करने लगे, आग लगी तो अग्नि की उपासना प्रारम्भ हुई, आँधी ने वायु देवता की उपासना का उपक्रम किया और जब कभी ये इकट्ठे यहाँ आ गये। बाढ़, आग, आँधी सब इकट्ठे चलने शुरू हुए तो व्याकुलता से ये चिल्ला उठे **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'**, परन्तु पाश्चात्यों ने जब यह मन्त्र पढ़ा तो सारी कल्पना समाप्त होती प्रतीत हुई, अतः उन्होंने इस मन्त्र को अर्वाचीन काल का कहकर बचाव कर लिया। बना बनाया सिद्धान्त छोड़ा कैसे जाए, परन्तु विद्वानों को आग्रह छोड़कर सत्य को देखना चाहिए। सत्य यही है कि वेद **'एक इद् हव्यश्चर्षणीनाम्'** मनुष्यों के एक ही आराध्य देवता को स्वीकार करता है और 'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थः..., **स एष एक एव एकवृदेक एव**' इन शब्दों में प्रभु के एकत्व का प्रबल प्रतिपादन कर रहा है। **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'**, इन शब्दों में उपनिषद् कहती है कि ईश के नानात्व को देखनेवाला मृत्यु की भी मृत्यु को प्राप्त होता है। ३. **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** एक ही परमात्मा को ज्ञानी लोग नाना नामों से कहते हैं'। प्रस्तुत मन्त्र में भी 'अग्नि' आदि भिन्न-भिन्न नामों से उस प्रभु का वर्णन किया है। इस स्तवन की सार्थकता इसी में है कि हम भी ऐसे बनें। अन्यथा आचार्य के शब्दों में हमारा यह स्तवन भाटों के समान हो जाएगा। (क) प्रथमाश्रम में हमें 'अग्नि व आदित्य बनना है'। एक ब्रह्मचारी के

जीवन का सूत्र यही होना चाहिए कि 'मैं आगे बढूँगा, अग्नि बनूँगा' **'आरोहणमाक्रमणम्'**= ऊपर-और-ऊपर चढ़ता चलूँगा। इस आगे बढ़ने के लिए ही आदित्य=सूर्य की भाँति आदान करनेवाला बनूँगा। सूर्य गन्दे-से-गन्दे जोहड़ में से भी शुद्ध पानी को ले-लेता है और दुर्गन्ध को वहीं छोड़ देता है, मैं भी अच्छाई को ही लेनेवाला बनूँगा। (ख) गृहस्थ में मैं 'वायु व चन्द्रमा' बनने का प्रयत्न करूँगा। 'वा गतौ' सदा गतिशील रहूँगा। क्रियाशील बनकर 'श्री' का अर्जन करूँगा, जिससे मैं घर को भी श्रीसम्पन्न बना सकूँ और इस सुख-दु:खमय दुनिया में सदैव 'चदि आह्लादे' प्रसन्नतामय जीवन बिताने का प्रयत्न करूँगा। एवं, गृहस्थ का जीवनसूत्र है सदा क्रियामय, सदा प्रसन्न'। २. (ग) अब वनस्थ होकर हम अपने को 'शुक्र' बनाने में लगते हैं, 'शुक्र' अर्थात् शुचि, उज्ज्वल। गृहस्थ में जो थोड़ा बहुत राग-द्वेष का मल लग गया था उसे तपस्या व स्वाध्याय से धोकर वनस्थ शुक्र बनता है और पवित्र बनकर आज वह ब्रह्म-जैसा बना है। नैत्यिक स्वाध्याय ने उसे ज्ञान का पुञ्ज बना दिया है। ब्रह्म=ज्ञान, आज यह ज्ञानी बन गया है। एवं, वनस्थ का जीवन-सूत्र है 'पवित्रता व ज्ञान'। इन दोनों बातों ने ही उसे ब्रह्माश्रम (संन्यास) में प्रवेश का अधिकारी बनाना है। (घ) ब्रह्माश्रम में प्रवेश करके यह 'आप:'=व्यापक बनने का प्रयत्न करता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के कारण इसका प्रेम सबके लिए हो गया है, इसका कोई ठिकाना Head Quarter नहीं, यह तो **'यत्र सायं गृहो मुनि:'** बन गया है। परिव्रजन करते-करते जहाँ पहुँचे, वहीं भिक्षा माँगी, उपदेश दिया और अगले दिन आगे। यह ज्ञान का प्रचार करता हुआ 'प्रजापति' बनता है, प्रजा की रक्षा करना ही इसका यज्ञ है, इसी यज्ञ में इसने अपने 'सर्ववेदस्' की आहुति दे दी है। एवं, एक संन्यासी का जीवन सिद्धान्त 'व्यापकता व प्रजापतित्व' है। यह लोकसंग्रह की दृष्टि से निरन्तर कर्मों में लगा है। इस प्रकार ब्रह्माश्रम में प्रवेश करके यह स्वयं ब्रह्म-सा हो गया है, अत: इस मन्त्र का ऋषि 'स्वयम्भु ब्रह्म' बन गया है।

भावार्थ—हम अग्नि आदि नामों से प्रभु का स्मरण करते हुए स्वयं अग्नि आदि बनने का प्रयत्न करें।

ऋषि:—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्द:—**अनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**।

वह सञ्चालक प्रभु

सर्वे॑ नि॒मे॒षा ज॑ज्ञिरे वि॒द्यु॒त॑: पुरु॑षा॒दधि॑।
नैन॑मू॒र्ध्वं न ति॒र्यञ्चं॒ न मध्ये॒ परि॑ जग्रभत्॥ २॥

१. **सर्वे**=सारे **निमेषा:**=आँखों के पलक गिरने आदि छोटे-से-छोटे व्यापार भी **विद्युत:**=उस विशेषरूप से देदीप्यमान **पुरुषात्**=ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले (पुरि वसतीति पुरुष:) पुरुष के **अधि जज्ञिरे**=अधिष्ठातृत्व में ही हो रहे हैं। उस अध्यक्ष से ही प्रकृति चराचर को जन्म दे रही है।' ब्रह्माण्ड की गाड़ी उस प्रभु से ही चलाई जाती है। २. प्रश्न होता है कि जीव की क्या स्थिति है? जीव की स्थिति वही है, जो यात्रियों की। गाड़ी ड्राइवर चला रहा है, चल गाड़ी रही है, यात्री नहीं, परन्तु यह सब किसलिए? यात्रियों के लिए। यदि यात्री न हों तो गाड़ियों की आवश्यकता ही न हो। यात्री की कितनी महिमा है! यह सब इस यात्री—जीव के लिए ही तो है। प्रकृति उसकी गाड़ी है, प्रभु उसके ड्राइवर, परन्तु क्या यात्री अपनी इस महिमा के अंहकार में ट्रेन के ड्राईवर को यह कह सकता है कि दिल्ली नहीं गाड़ी मथुरा ले-चलो। यह तो ठीक है कि हम मथुरा जानेवाली गाड़ी का टिकट लें और मथुरावाली गाड़ी में बैठें, परन्तु मथुरावाली टिकट लेकर दिल्ली नहीं आ

सकते। ३. उस प्रभु को **न एनम् ऊर्ध्वम्**=न इसको 'ऊपर' इस रूप में ग्रहण कर सकते हैं। **न**=न ही **तिर्य्यञ्चम्**=टेढ़े crosswise एक ओर से दूसरी ओर किसी स्थानविशेष में ग्रहण कर सकते हैं और **न मध्ये**=न ही बीच में **परि जग्रभत्**=ग्रहण कर सकते हैं। वे प्रभु सर्वव्यापक हैं और इस सम्पूर्ण यन्त्रजाल को=ट्रेन के समूह को चला रहे हैं।

भावार्थ—पत्ता-पत्ता उस प्रभु के प्रशासन में हिल रहा है। वे प्रभु कण-कण में व्याप्त है, किसी देशविशेष में स्थित नहीं हैं, इसी से सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**हिरण्यगर्भः परमात्मा**। छन्दः—**द्विपदागायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का प्रतिरूप—विनीतता+नामस्मरण

न तस्यं प्रतिमाऽअंस्ति यस्यं नामं महद्यशः॥३॥

तस्य=उस प्रभु की **प्रतिमाः**=मूर्त्ति, नाप, सादृश्य, तुल्यता **न अस्ति**=नहीं है। २. प्रभु वे हैं **यस्य**=जिनका **नाम**=नामस्मरण व जिनके प्रति नमन जीव के लिए **महद्यशः**=महान् यश का कारण है। नमन से जीव का जीवन यशस्वी बनता है। नामस्मरण से वैसा बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है, एक लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न होती है जो हमें अत्यधिक उत्थान पर पहुँचाती है। सच्चा नामस्मरण तो है ही तदनुरूप बनना।

भावार्थ—ईश्वर की मूर्त्ति नहीं है। हम निराकार प्रभु का स्मरण करें, जिससे हमारा जीवन बड़ा यशस्वी हो।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वतोमुख देव

एषो हं देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः सऽउ गर्भेऽअन्तः।
सऽएव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥४॥

१. **एषः**=ये प्रभु **ह**=निश्चय से **देवः**=देव हैं। देव के अर्थ यास्कानुसार निम्न हैं—(क) **देवो दानात्**=वे प्रभु देनेवाले हैं। प्रभु ने जीव के हित के लिए उसे क्या नहीं दिया? वे सब शक्तियों के देनेवाले हैं। (ख) **देवो दीपनात्**=वे प्रभु देदीप्यमान हैं। उस सर्वतो देदीप्यमान देव की दीप्ति की कल्पना आकाश में चमकते हुए सहस्त्रों सूर्यों की चमक से ही हो सकती है। (ग) **देवो द्योतनात्**=वे प्रभु सारे पिण्डों को द्योतित कर रहे हैं। प्रभु की दीप्ति से ही ये सारे सूर्य, चन्द्र व तारे दीप्त हो रहे हैं। २. ये प्रभु **सर्वाः प्रदिशः**=इन सब विस्तृत दिशाओं में **अनु**=(व्याप्य तिष्ठति) व्याप्त होकर रह रहे हैं। कौन-सा स्थल है, जहाँ प्रभु नहीं है। कण-कण में उस प्रभु की व्याप्ति है। ३. **पूर्वो ह जातः**=वे प्रभु निश्चय ही पहले से हैं। **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'**=हिरण्यगर्भ प्रभु इस सृष्टि से पूर्व विद्यमान हैं। उनका कोई आदि नहीं, अनादि होते हुए वे सभी के आदि हैं। वे स्वयं तो 'स्वयम्भू'=खुदा हैं। ४. **सः उ गर्भे अन्तः**=वे प्रभु ही सब पदार्थों के गर्भ में हैं। सबके अन्दर स्थित हुए-हुए वे सबका नियमन कर रहे हैं। ५. **सः एव जातः**=वे प्रभु अनादिकाल से इन सृष्टियों को जन्म दे रहे हैं। 'माता प्रजाता' का अर्थ है 'माता ने बच्चे को जन्म दिया'। इसी प्रकार यहाँ **स एव जातः**=उस प्रभु ने ही सृष्टि को जन्म दिया। 'जातः' यह भूतकाल का प्रत्यय सूचित कर रहा है कि भूत में न जाने कितने कालों से वे इन सृष्टियों का निर्माण कर रहे हैं। वस्तुतः अनादिकाल से यह चक्र चल रहा है। **सः जनिष्यमाणः**=भविष्य में भी वे इन सृष्टियों को जन्म देंगे। अनन्तकाल तक यह चक्र चलता जाएगा। यह

सृष्टि-प्रलयचक्र न जाने कब से चल रहा है और न जाने कब तक चलता चलेगा। ६. इस सृष्टि में मनुष्य को जन्म देकर प्रभु ही उसको ज्ञान भी देते हैं। हे **जनाः**=मनुष्यो! वे प्रभु **प्रत्यङ्**=तुम्हारे आत्मा में ही **तिष्ठति**=स्थित हैं। वे एक साथ अग्नि को ऋग्वेद का, वायु को यजुर्वेद का, सूर्य को सामवेद का और अङ्गिरा को अथर्ववेद का उपदेश दे रहे हैं, क्योंकि वे **सर्वतोमुखः**=सब ओर मुखवाले है। ७. उस प्रभु को ढूँढने के लिए तीर्थों में भटकने की आवश्यकता नहीं वे तो अन्दर ही हैं। सब विद्याएँ पढ़कर भी (ब्रह्मचारी), यज्ञादि करके भी (गृहस्थ) स्तुति व कीर्तन में लगकर भी (वानप्रस्थ) मनुष्य प्रभु को तभी देखेगा जब वह अपने अन्दर ध्यान करेगा। यह अन्तर्मुख यात्रा करनेवाला संन्यासी ही 'ब्रह्माश्रमी' बनता है, ब्रह्म को देखता है। ऋग्वेद से सब विज्ञानों का अध्ययन करके, यजुर्वेद के अनुसार सब यज्ञों का अनुष्ठान करके, सामवेद से उपासना करके जब मनुष्य (अथ) अपने अन्दर (अर्वाङ्) देखता है तभी ब्रह्म का दर्शन करता है। अथर्ववेद इसीलिए ब्रह्मवेद कहलाता है (अथ+अर्वाङ्)।

भावार्थ—हम देव, सब दिशाओं में व्याप्त, अनादि, अनन्त, सृष्टि-प्रलय-चक्र को चलानेवाले, हृदय में विद्यमान, सर्वतोमुख प्रभु का ध्यान करें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमेश्वरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तीन ज्योतियाँ : रमण करता हुआ षोडशी

यस्मा॒ज्जा॒तं न पु॒रा किं च॒नैव य आ॑ब॒भूव॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ सꣳररा॒णस्त्रीणि॒ ज्योतीꣳषि सचते॒ स षो॑ड॒शी ॥५॥

१. **यस्मात्**=जिससे **पुरा**=पहले **किञ्चन एव**=कुछ भी न **जातम्**=नहीं हुआ, जो सबसे पहले से था। वे प्रभु अनादि है और सबके आदि है, अर्थात् सारे संसार का निर्माण कर रहे हैं। २. **यः**=जो **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **आबभूव**=समन्तात् व्याप्त कर रहे हैं। प्रभु ने लोकों का निर्माण किया और उन सबके अन्दर व्याप्त होकर रहने लगा। **'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** उसका सर्जन किया, उसमें प्रवेश किया। ३. **प्रजापतिः**=वे प्रभु सारी प्रजा के रक्षक हैं। ४. **सः षोडशी**=उस सोलह कला सम्पूर्ण प्रभु ने **प्रजया**=प्रजा के हेतु से, प्रजा के रक्षण के हेतु से **त्रीणि ज्योतींषि**=तीन ज्योतियों को **सचते**=धारण किया है। द्युलोक में सूर्य, अन्तरिक्षलोक में चन्द्र व विद्युत् तथा पृथिवीलोक पर अग्नि को प्रभु ने स्थापित किया है। प्रजा के रक्षण के लिए इन ज्योतियों की आवश्यकता स्वयं सिद्ध है।

कितनी अद्भुत है यह सृष्टि! इसके निर्माता प्रभु 'षोडशी' हैं, सोलह कला सम्पूर्ण हैं, वे पूर्ण हैं तभी तो उनकी बनायी यह सृष्टि भी पूर्ण हैं। 'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'=पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है। उस षोडशी प्रभु ने जीव में भी 'प्राण, श्रद्धा' आदि सोलह कलाओं को जन्म दिया है। ५. **संरराणः**=सम्यक् रमण=क्रीडा करते हुए प्रभु इस संसार का निर्माण करते हैं। संसार को प्रभु की क्रीडा के रूप में देखना ही ठीक रूप में देखना है। यही तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञानवाला व्यक्ति कष्टों से ऊपर उठ जाता है। खेल में लगी चोट क्रोध का कारण नहीं बनती। उस चोट के सहने में गौरव का अनुभव होता है। देव वही हैं जो प्रभु के साथ इस क्रीडा में सम्मिलित होते हैं 'दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः'। देव खेलते हैं। इससे वे खिझते नहीं। देव ही महादेव का सान्निध्य प्राप्त करते हैं। ये स्वयं उस ब्रह्म-जैसे

बन जाते हैं।

भावार्थ—संसार को प्रभु की क्रीड़ा के रूप में देखना ही तत्त्वज्ञान है। प्रभु ने जिन तीन ज्योतियों को धारण किया है, उन्हीं को धारण करना कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

उग्रता व दृढ़ता, कर्म, अकर्म, विकर्म

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥६॥

१. **येन**=जिसने **द्यौः**=द्युलोक को **उग्रा**=बड़ा तेजस्वी बनाया है। द्युलोक में सूर्य व सितारे चमक रहे हैं। उनकी ज्योति से यह जगमगा रहा है। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है। इसे भी ब्रह्मज्ञान के सूर्य से तथा विविध विज्ञानों के नक्षत्रों से दीप्त करना है। २. **च**=और जिसने **पृथिवी**=पृथिवीलोक को **दृढा**=दृढ़ बनाया है। **'पृथिवी शरीरम्'**=यह शरीर ही पृथिवीलोक है। जैसे पृथिवी दृढ़ है, इतने आघातों को सहती हुई यह पृथिवी कम्पित नहीं हो उठती, आकाश से होनेवाली बूँदों व ओलों के आघातों को शान्तिपूर्वक सहनेवाली यह 'क्षमा' है, 'धरा' है, सहनेवाली है, धारण करनेवाली है। ठीक इसीप्रकार हमारा शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो। ३. **येन**=जिस प्रभु ने **स्वः**=स्वर्गलोक को **स्तभितम्**=थामा है, आधार दिया है। 'स्वर्गकामो यजेत'=इस स्वर्ग को शास्त्रनिष्ठ लोग वेदविहित यज्ञों के द्वारा प्राप्त किया करते है। इन यज्ञों के द्वारा **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**=श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा कर्मकाण्डी स्वर्ग प्राप्त करते है। 'आयुः, प्राणम्, प्रजाम्, पशुम्, कीर्तिम्, द्रविणम्, ब्रह्मवर्चसम्=ब्रह्मवेद के मन्त्र के अनुसार वहाँ स्वर्ग में दीर्घायुष्य है, प्राणशक्ति है, उत्तम गवादि पशु हैं, उत्तम प्रजा है, कीर्ति है, सम्पत्ति है, ब्रह्मतेज है। इन सब वस्तुओं के होने पर घर सचमुच स्वर्ग बन जाता है। ४. **येन**=जिस प्रभु ने **नाकः**=मोक्षलोक को **स्तभितम्**=थामा है। उन्हीं यज्ञों को जब ये लोग निष्काम होकर करते हैं तब ये यज्ञादि कर्म ही अकर्म हो जाते हैं। सङ्ग व फल को छोड़कर किये गये ये यज्ञ मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी बनाते हैं। **ब्रह्म**=अथर्ववेद की समाप्ति पर कहा है कि इन 'आयु-प्राण' आदि को **'मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्'**=मुझे लौटाकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करलो। कामना से ऊपर उठकर किये गये कर्म ही अकर्म हो जाते हैं और इनसे मनुष्य मोक्ष=नाकलोक का लाभ करता है। ५. **यः**=जो प्रभु **अन्तरिक्षे**=इस अन्तरिक्ष में **रजसः**=लोक-लोकोन्तरों को **विमानः**=विविध उद्देश्यों से बना रहे हैं। शास्त्रविरुद्ध कर्म ही विकर्म हैं, इन विकर्मियों के लिए ही विविध लोकों का निर्माण किया गया है। कर्मानुसार उस-उस लोक में जीव को वे प्रभु जन्म देते हैं। ६. उस **कस्मै**=आनन्दस्वरूप **देवाय**=दिव्य गुणों के पुञ्ज व देनेवाले प्रभु के लिए **हविषा** =दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। प्रभु आनन्दमय हैं, चूँकि देनेवाले हैं और दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं। आनन्द-प्राप्ति का उपाय दान व दिव्य गुणों को अपनाना ही है। उस प्रभु की पूजा का प्रकार भी उस प्रभु की भाँति देनेवाला बनना है।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क दीप्त हो, शरीर दृढ़ हो, हम यज्ञादि कर्मों से स्वर्ग का लाभ करें, कामना से ऊपर उठकर मोक्ष को प्राप्त करें। कभी भी विकर्मों में फँसकर लोक-लोकान्तरों में भटकें नहीं। प्रभु की भाँति दानशील बनकर प्रभु के उपासक बनें।

ऋषि:—**स्वयम्भु ब्रह्म।** देवता—**परमात्मा।** छन्द:—**अतिजगती।** स्वर:—**निषाद:।**

उपाय पंचक

यं क्रन्दसीऽअवसा तस्तभानेऽअभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूरऽउदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥७॥

१. **यम्**=जिस प्रभु का **क्रन्दसी**=आह्वान करनेवाले—प्रभु को पुकारनेवाले, प्रभु के द्वार पर थपथपानेवाले (knock, and it will be opened to you) पति-पत्नी **अभ्यैक्षेताम्**=देखते हैं। संसार में मनुष्य विशेष आयु में आकर गृहस्थ में प्रवेश करता है, इसलिए कि किसी का सहारा लेकर वह इस अश्मन्वती नदीरूप संसार को तैर जाए। इस प्रलोभनमय संसार में बचे रहना बड़ा कठिन है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र से बना 'पत्नी' शब्द संकेत कर रहा है कि पति-पत्नी ने उस यज्ञप्रभु को अवश्य पुकारना, उसका अवश्य ध्यान करना, संध्या करनी। २. प्रभु का दर्शन वे ही पति-पत्नी कर पाते हैं जो **अवसा**=रक्षण के द्वारा **तस्तभाने**=अपनी इन्द्रियों को विषयों में जाने से रोकते हैं। इस प्रत्याहार से बहिर्मुख यात्रा को समाप्त कर मनुष्य अन्तर्मुख यात्रा करता है, और अन्त:स्थित प्रभु को देखता है। ३. फिर, उस प्रभु को वे पति-पत्नी देखते हैं, जो **मनसा रेजमाने**=मन से चमकते हैं। जिनके मन में राग-द्वेष का मालिन्य नहीं है (रेज्=to shine)। ४. 'क्रन्दसी व रेजमाने' का अर्थ इस रूप में भी हो सकता है कि (क्रन्द=रोदन) जो अपने पापों के लिए क्रन्दन करते हैं और अन्त में उन पापों के भय से मन में काँप उठते हैं। वस्तुत: 'अपने पापों' को स्वीकार confession और प्रभु से भयभीत होना' भी अपने को पवित्र बनाने के लिए आवश्यक है। जो प्रभु से भयभीत होता है, उसे किसी दूसरे से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं रहती। ५. वे उस प्रभु को देखते हैं **यत्राधि**=जिसकी अध्यक्षता में **उदित: सूर:**=उदय हुआ-हुआ सूर्य **विभाति**=चमकता है। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**=प्रभु की ज्योति से ही सब चमक रहा है। उस **कस्मै देवाय**=आनन्दमय दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=हम पूजा करें। (गतमन्त्र में विस्तार देखिए)।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के उपाय निम्न हैं १. प्रभु को पुकारना, प्रभु की प्रार्थना करनी। २. इन्द्रियों का दमन। ३. मन को निर्मल करना। ४. दानपूर्वक अदन। ५. पापों का स्वीकार कर प्रभु से भय मानना।

ऋषि:—**स्वयम्भु ब्रह्म।** देवता—**परमात्मा।** छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्।** स्वर:—**धैवत:।**

वेन का प्रभुदर्शन

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ सऽओत: प्रोतश्च विभू: प्रजासु ॥८॥

१. 'वेन' शब्द वेन् धातु से बना है। इसके अर्थ हैं (क) क्रियाशील—to go, to move, (ख) ज्ञान प्राप्त करनेवाला—to know, (ग) प्रभु का पुजारी to worship। एवं, **वेन:**= क्रियाशील, ज्ञानी, प्रभुभक्त व्यक्ति **तत्** =उस प्रभु को **पश्यत्**=देखता है। प्रभु के दर्शन के लिए 'कर्म, ज्ञान व भक्ति' का समन्वय आवश्यक है। २. वेन उस प्रभु को देखता है जो **गुहा निहितम्**=हृदयरूप गुहा में निहित हैं। प्रभु तक वही पहुँचता है जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमयकोशों को पार करके आनन्दमयकोश में पहुँचता है। यही अन्तर्मुख यात्रा हमें प्रभु तक ले-जाती है। वे प्रभु गुहा में विचरनेवाले हैं। उनको ढूँढने के लिए हमें

कहीं बाहर थोड़े ही भटकना है? ३. **सत्**=वे प्रभु सत् हैं। यद्यपि प्रकृति व जीव भी सत् हैं तथापि प्रकृति सदा विकृत होती रहती है और जीव भी विविध शरीरों को धारण करता है और इस प्रकार इनमें परिवर्तन है, प्रभु एकरस, निर्विकार, सत्-ही-सत् हैं। 'सत्' शब्द की भावना यह भी है कि हम प्रभु को मिलने जाते हैं तो वे सदा सत्=उपस्थित होते हैं, उनके अनुपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे सर्वव्यापक हैं, मेरे जाने की देर है, जाऊँगा दरवाज़ा थपथपाऊँगा तो प्रभु मिलेंगे ही, दरवाज़ा खुलेगा ही। ४. ये प्रभु वे हैं **यत्र**=जिनमें **विश्वम्**=यह सारा संसार **एकनीडम्**=एक घोंसलेवाला **भवति**=होता है। जैसे एक घर में परस्पर प्रेम का अनुभव होता है, इसी प्रकार प्रभु का अनुभव करने पर यह सारी वसुधा एक परिवार प्रतीत होने लगती हैं, हम सब उस प्रभु के ही तो पुत्र हैं। ५. **तस्मिन्**=उस प्रभु में **इदं सर्वम्** =यह सारा जगत् प्रलयकाल के समय **सम् एति**=समा जाता है **च**=और सृष्टिकाल में **विएति**=विविध रूपों में गति करने लगता है। प्रलय में भी कारणरूप प्रकृति का आधार प्रभु है और सृष्टि में भी सब लोक-लोकोन्तरों का आधार वे प्रभु ही हैं। ६. **सः**=वे प्रभु **ओतः च प्रोतः च**=इस संसार में ओत-प्रोत हैं। संसार-वस्त्र के वे प्रभु ही ताने-बाने के सूत्र हैं। वे प्रभु **प्रजासु**=सब प्रजाओं के अन्दर **विभूः**=व्याप्त होकर रह रहे हैं।

प्रभु त्र्यम्बक है। 'त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य'=यह विग्रह की परिपाटी चली आ रही है। इसे 'त्रीणि अम्बकानि यस्मै' इस रूप में कर दें तो अर्थ का सौन्दर्य बढ़ जाता है। उस प्रभु के देखने के लिए 'कर्म, ज्ञान व भक्ति' रूप तीन आँखें हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए ज्ञान, क्रिया व भक्ति का समुच्चय आवश्यक है। वे प्रभु हृदय में ही निहित हैं, सर्वव्यापक हैं।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'अमृत-धाम-सत्' : पिता का भी पिता

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥९॥

१. **विद्वान्**=जो ज्ञानी है, जिसका आगम अत्यन्त सुन्दर है, जिसने गुरुओं से स्वाध्यायादि करके खूब मनन किया है। **गन्धर्वः**=जो गाम्=वाणी को धारण करनेवाला है, वाक्शक्ति का ईश है, जो किसी भी बात का प्रतिपादन बड़ी सुन्दरता से कर सकता है। वह विद्वान् गन्धर्व **नु**=अब **तत्**=उस ब्रह्म का **प्रवोचेत्** =प्रवचन करे। २. किस प्रभु का? जो प्रभु (क) **अमृतम्**=अमृत हैं, प्रभु स्वयं जन्म-मृत्यु से ऊपर हैं। 'न मृतं यस्मात्'=प्रभु का स्मरण करनेवाला भी मृत्यु से ऊपर उठ जाता है। (ख) **धाम**=ये प्रभु तेज के पुञ्ज हैं (धाम=तेजस्) अथवा ये प्रभु सबके **धाम**=घर हैं। यही भावना गत मन्त्र में 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' शब्द से कही गई थी। वे प्रभु सबके अद्वितीय आधार हैं। (ग) **विभृतं गुहा**=ये प्रभु बुद्धिरूप गुहा में निहित हैं। यह हृदय-स्थली ही 'परम-परार्ध' कहलाती है। यहाँ प्रभु का सर्वोत्कृष्ट निवासस्थान है। विशेषकर इसलिए कि यहाँ प्रभु का दर्शन होना है। (घ) **सत्**=वे प्रभु पूर्ण निर्विकार हैं अथवा सदा उपस्थित हैं। मैं मिलने जाऊँ और वे घर पर न हों यह नहीं हो सकता। ३. एवं, वे प्रभु 'अमृत' हैं, 'धाम' हैं और 'सत्' हैं। **अस्य**=उस प्रभु के **त्रीणि पदानि**=ये तीन पद गुहा **निहिता**=गुहा में निहित हैं, अर्थात् अत्यन्त गुह्य=रहस्यमय हैं। **यः**=जो **तानि**=प्रभु के इन तीन पदों को, ज्ञेय बातों को

वेद=जानता है **सः**=वह **पितुः** =पिता का भी **पिता असत्**=पिता होता है। ज्ञान को देनेवाला 'पिता' कहलाता है। प्रभु के तीन पदों को जाननेवाला ज्ञानियों का भी ज्ञानी होता है, अतः इसे यहाँ पिता का भी पिता कहा है।

भावार्थ—उस 'अमृत, सत्, धाम' का प्रवचन ज्ञानी लोग करें। हम प्रभु के इन पदों को जानकर पिताओं के पिता—ज्ञानियों के भी ज्ञानी बनें।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तृतीय धाम

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥१०॥

१. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे **बन्धुः**=बन्धु हैं। बन्धु शब्द में मौलिक भावना 'बन्धन' की है। रिश्तेदार भी 'बन्धु' इसीलिए कहलाते हैं कि वे हमें एक बन्धन में बाँध देते हैं। २. **जनिता**=वे प्रभु हमें जन्म देनेवाले हैं, पिता हैं। कर्मानुसार उस-उस योनि में जन्म देने के कारण वे प्रभु हमारे 'जनिता' हैं। ३. वे प्रभु **विश्वा**=सब **भुवनानि**=लोकों को तथा **धामानि**=उन लोकों में उस-उस घर को तथा तेज को वे प्रभु **वेद**=हमें प्राप्त कराते हैं (विद् लाभे) 'यथाकर्म यथा श्रुतम्'=हमारे कर्म व ज्ञान के अनुसार वे प्रभु हमें उस-उस लोक में तथा उस-उस योनि में जन्म देते हैं। ये सब लोक-लोकान्तर भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार जन्म देने के लिए ही प्रभु ने निर्मित किये हैं। उन-उन लोकों में दिये गये शरीर 'धाम' हैं और इन शरीरों में प्राप्त करायी गई शक्ति भी 'धाम' है। ५. **यत्र**=जिस शरीर में **देवाः**=देव लोग **अमृतमानशानाः**=उस 'अमृत' प्रभु का सेवन करते हुए **तृतीये धामन्**=तृतीय स्थान में **अध्यैरयन्त**=विचरते हैं। (क) असुर लोग तमोगुण में विचरते हुए प्राकृतिक भोगों को ही परम ध्येय बनाते हैं। (ख) असुरों से ऊपर मनुष्य हैं। कुछ मनन-चिन्तन करने के कारण ये भोगों से कुछ ऊपर उठकर तमोगुण से ऊपर रजोगुण में विचरते हैं तथा शक्ति व यश को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ये नाना प्रकार के लोकहितकारी कार्यों को करके यशोलाभ करते हैं। (ग) इनसे भी ऊपर देव लोग हैं, ये सत्त्वगुण में अवस्थित हुए-हुए उस प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ये प्रभु ही तृतीय धाम हैं। देव सदा प्रभु में विचरते हैं। तृतीय धाम का चित्रण निम्न कोष्ठक से स्पष्ट है—

प्रथम : तमस्, असुर, प्रकृति, भोग व स्वार्थ
द्वितीय : रजस्, मनुष्य, जीव, यश, स्वार्थ, विरुद व परार्थ
तृतीय : सत्त्व, देव, परमात्मा, अमृतत्व व परार्थ

भावार्थ—इस शरीर में हम तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में विचरते हुए प्रकृति व जीव से परे उस तृतीय धाम प्रभु में विचरें। इसी से हम अमृतत्त्व का लाभ कर सकेंगे।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु में प्रवेश

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥११॥

१. **आत्मना**=मन से **आत्मानम् अभि सम् विवेश**=परमात्मा में प्रवेश करता है। सामान्यतः मनुष्य मन से संसार में विचरता रहता है, परन्तु जब मनुष्य अपने मन को प्रभु में लगाता है तब निम्न चार बातें करता है २. **भूतानि परीत्य**=प्राणियों को समझकर। जिस समय हम समाज में अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, उस समय यदि उनकी मनोवृत्ति को बिना समझे बात करते हैं तब झगड़े उठ खड़े होते हैं और चित्त अशान्त हो जाता है और 'अशान्त मनवाला प्रभु को पाएगा' यह तो सम्भव ही नहीं **'नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्'**। सबकी मनोवृत्ति को हम समझें और तदनुसार वर्तते हुए अपने मनों को अशान्त न होने दें। समाजशास्त्र के नियमों के अनुसार वर्तते हुए अपने जीवन को शान्त रखें। ३. **परीत्य लोकान्**=सूर्य, चन्द्र व नक्षत्रादि सब लोकों को अच्छी प्रकार समझकर। (परि+इ=to understand fully) (क) इन सब लोकों को व तत्रस्थ पदार्थों को अच्छी प्रकार समझकर ही तो हम इनका ठीक प्रयोग करेंगे और रोगों से बचे रहेंगे। (ख) साथ ही इन लोकों का ज्ञान हमें इनके अन्दर प्रभु की महिमा का भी दर्शन कराएगा। अणु की रचना का चमत्कार किस वैज्ञानिक को मुग्ध नहीं कर देता? नाममात्र स्थान परिवर्तन से खाँड का सीरा बन जाना किसको चकित नहीं कर देता? ४. **सर्वाः**=सब **प्रदिशः**=अवान्तर दिशाओं में तथा **दिशः**=पूर्वादि दिशाओं में **परीत्य**=खूब भ्रमण करके। (क) भ्रमण से मनुष्य का दृष्टिकोण व्यापक बनता है, ज्ञान बढ़ता है और मनुष्य कूपमण्डूक नहीं बना रहता। (ख) उस-उस प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य में प्रभु की महिमा को भी अनुभव करता है। ५. **ऋतस्य**=पूर्ण सत्य प्रभुकी **प्रथमजाम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में उच्चारण की गई वेदवाणी की **उपस्थाय**=उपासना करके, अर्थात् प्रतिदिन वेदवाणी का स्वाध्याय भी हमारे मनों व बुद्धियों को परिष्कृत करके हमें प्रभु के समीप पहुँचाने में सहायक होता है। एवं, प्रभु प्राप्ति के चार साधन हैं। १. जीव के मनोविज्ञान को समझना और तदनुसार व्यवहार करके झगड़ों से बचते हुए मन को शान्त रखना। २. प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन से वस्तुओं के गुण-धर्म को समझकर, उनके ठीक प्रयोग से शरीर को नीरोग बनाना। ३. व्यापक भ्रमण से दृष्टिकोण को व्यापक बनाना, उस-उस प्राकृतिक दृश्य के सौन्दर्य में प्रभु की महिमा को अनुभव करना। बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनकर सर्वज्ञ प्रभु की समीपता में स्थित होना। ४. प्रभु की वेदवाणी के अध्ययन से शरीर-मन व बुद्धि का परिमार्जन करना।

भावार्थ—मनोविज्ञान व विज्ञान के अध्ययन, भ्रमण तथा स्वाध्याय से हम अपने मन को प्रभु की ओर जानेवाला बनाएँ।

ऋषिः—**स्वयम्भु ब्रह्म**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दर्शन व तन्मयता

परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥१२॥

१. यहाँ पिछले मन्त्र के 'भूतानि' पद का स्थान 'द्यावापृथिवी' ने ले-लिया है। **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में होनेवाले प्राणियों के मनोभावों को **सद्यः**=शीघ्र ही **परि+इत्वा**=खूब समझकर। २. **परि लोकान्**=सब लोकों को समझकर। इनको समझना इनके ठीक प्रयोग के लिए आवश्यक है। प्रभु की महिमा तो इन्हीं में दिखती है। ३. **दिशः परि**=सब दिशाओं में भ्रमण करके। भ्रमण से हम बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनेंगे। सृष्टि का वैविध्य हमें विविधता के निर्माता का स्मरण कराएगा। **स्वः परि**=इस स्वयं

देदीप्यमान ज्योति सूर्य (स्वयं राजते) को देखकर। सूर्य प्रभु की सर्वमहान् विभूति है। 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' (यजुः) यह आदित्य में दिखनेवाला पुरुष ही तो वह परमात्मा है। ५. वे प्रभु 'ऋत' हैं और उस प्रभु में ही ये सारे लोक-लोकान्तर पिरोये हुए हैं। एवं, यह ऋत का तन्तु सब लोकों में ओत-प्रोत है। इस **ऋतस्य तन्तुम्**=ऋत के तन्तु को जो **विततम्**=सारे लोकों में विस्तृत है, **विचृत्य**=विश्लिष्ट रूप से जानकर **'मुञ्जादिव इषीकाम्'**=मुञ्ज को हटाकर जैसे सींक को देखते हैं, उसी प्रकार अन्नमयादि कोशों को अलग करते हुए मनुष्य क्रमशः अन्न से प्राण में, प्राण से मन में, मन से विज्ञान में और विज्ञान से आनन्द में पहुँचता हुआ **तत् अपश्यत्**=उस प्रभु को देखता है। प्रभु को देखता क्या है? **तत् अभवत्**=प्रभु-जैसा ही हो जाता है। उस प्रभु की लाली मुझे भी लाल कर देती है। उस प्रभु की अग्नि में पड़कर मैं भी अग्नि के समान चमकने लगता हूँ। **तत् आसीत्**=उस प्रभु-जैसा ही तो वह जीव था। इसका साधर्म्य प्रकृति के साथ न होकर प्रभु के साथ ही तो था। प्रभु की तरह यह भी 'चित्' ही था। हाँ, अल्पज्ञता के कारण इसपर राग-द्वेषादि मलों का एक आवरण चढ़ गया था। आज प्रभु को देखकर यह उस आवरण को परे फेंककर उस-जैसा हो गया है। जीव प्रभु का ही तो छोटा रूप है। प्रभुरूप मणि तो अत्यन्त विशाल व महान् होने से मलिन ही नहीं होती, जीवरूप छोटी मणि अवश्य मलिन हो गई थी, परन्तु आज सब मल और भेद-भाव समाप्त होकर जीव प्रभु-जैसा दिखने लगता है।

भावार्थ—हम ठीक व्यवहार से मन को शान्त, वस्तुओं के ठीक प्रयोग से शरीर को नीरोग, भ्रमण से दृष्टि को विशाल, सूर्य-दर्शन से प्रभु-महिमा का दर्शन करके उस ऋत के वितत तन्तु का विश्लेषण करें और प्रभु का दर्शन कर प्रभु-जैसे ही बन जाएँ।

ऋषिः—**मेधाकामः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

बुद्धिवाद के परिणाम

सद॑स॒स्पति॒मद्भु॑तं प्रि॒यमिन्द्र॑स्य॒ काम्य॑म्। स॒निं मे॒धाम॑यासिष॒ꣳ स्वाहा॑॥१३॥

१. मन्त्र का सरलार्थ इस प्रकार है कि मैं **सदसः पतिम्**=ब्रह्माण्डरूप घर के पति, **अद्भुतम्**=अभूतपूर्व, आश्चर्यमय **इन्द्रस्य प्रियम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जितेन्द्रिय पुरुष को प्रीणित करनेवाले **काम्यम्**=चाहने में उत्तम (सभा में उत्तम 'सभ्य' की भाँति) **सनिम्**=संभजन, संविभाग करनेवाले उस प्रभु से **मेधाम्**=बुद्धि को **अयासिषम्**=माँगता हूँ। २. इस उल्लिखित अर्थ में आपाततः यह शङ्का उत्पन्न होती है कि 'तेजोसि तेजो मयि धेहि' में जैसे तेजस्वी प्रभु से तेज की याचना हुई, इस प्रकार यहाँ भी बुद्धि की याचना बुद्धि व ज्ञान के पुञ्ज प्रभु से करनी चाहिए थी न कि 'सदसस्पति व अद्भुत' प्रभु से। कपड़ेवाले से आलू माँगना मूर्खता नहीं तो और क्या है? इस शङ्का का निवारण यह सोचने से हो सकता है कि प्रभु को पाँच नामों से स्मरण करने की क्या आवश्यकता थी? क्या एक नाम से सम्बोधित करके बुद्धि नहीं माँगी जा सकती? ३. वस्तुतः वैदिक साहित्य की इस शैली को हमें समझने का प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञान का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'अमानित्वम् अदम्भित्वम्'=घमण्ड न करना, दम्भ से ऊपर उठना ही ज्ञान है। वस्तुतः ज्ञान एक वृक्ष है जिसपर अमानित्व व अदम्भित्वरूप फल लगते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी मनुष्य बुद्धि को प्राप्त करके 'सदसस्पति' आदि विशेषणोंवाला बनता है। ५. बुद्धि को अपनाने का प्रथम परिणाम यह होता है कि मनुष्य 'स्वप्रेम, गृहप्रेम, प्रान्तप्रेम व राष्ट्रप्रेम से ऊपर उठकर

'विश्वप्रेम' की ओर बढ़ता है। यह विश्वप्रेम उत्पन्न होने पर ही मनुष्य **'न वियन्ति'**=विरुद्ध दिशाओं में न जाकर, मिलकर चलते हैं और युद्धों का अन्त हो जाता है। मनुष्य 'सदसस्पति' बनता है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को मानने लगता है। ५. **अद्भुतम्**=बुद्धि को प्राप्त करके मनुष्य अद्भुत उन्नति करता है। अभूतपूर्व स्थिति को प्राप्त करता है, इतनी उन्नति करता है जितनी पहले कोई प्राप्त कर न पाये थे, अतः इसकी उन्नति आश्चर्यजनक होती है। ६. **इन्द्रस्य प्रियम्**=बुद्धिवादी मनुष्य विषयों की विषयता (बन्धन) को समझता हुआ उनमें फँसता नहीं और परिणामतः जितेन्द्रिय बनकर प्रभु का प्रिय होता है। ७. **काम्यम्**=प्रभु तो कामना में उत्तम हैं ही वे किसी से द्रोह व द्वेष करें, ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती। बुद्धिवादी देवलोग भी **'नो च विद्विषते मिथः'**=आपस में द्वेष नहीं करते। वे सदा सभी का भला चाहते है। शत्रुओं व अपकारियों का भी वे उपकार करते हैं और इस प्रकार उनके जीवन को बदलकर वे अपकारी को उपकारी बना डालते हैं। ८. **सनिम्**=वे प्रभु संविभाग करनेवाले है। प्रभु किसको भोजन नहीं देते? हाँ, कोई-कोई प्राप्त भोजन को गिरा बैठते हैं और परेशान होते हैं। मैं भी बुद्धिवाद को अपनाता हुआ बाँटना सीखूँ। एवं, बुद्धिवादी मनुष्य 'विश्वप्रेम' सीखता है, अभूतपूर्व उन्नति कर पाता है। जितेन्द्रिय बनकर प्रभु का प्रिय बनता है, सभी का भला चाहता है और सम्पत्ति का संविभागपर्वूक सेवन करता है। ९. **स्वाहा**=(क) (सु आह) यह बुद्धि की प्रार्थना बड़ी उत्तम हुई है, इससे उत्कृष्ट प्रार्थना हो ही क्या सकती है? (ख) (स्व-हा) इस बुद्धि को पाने के लिए स्व का त्याग आवश्यक है। १०. 'सदसस्पति' प्रभु की उपासना विश्वप्रेम के द्वारा ही हो सकती है, 'अद्भुत' प्रभु अभूतपूर्व उन्नति से ही उपस्थित होते हैं, 'इन्द्र के प्रिय' प्रभु को जितेन्द्रिय पुरुष ही प्रसन्न कर पाता है, 'काम्य' प्रभु की उपासना हम सबके भले की कामना करके ही कर पाते हैं और 'सनिम्' प्रभु हमारे संविभागपूर्वक खाने से ही प्रसन्न होंगे।

भावार्थ—हमारे जीवन में बुद्धिवाद के परिणामस्वरूप 'विश्वप्रेम, अद्भुत उन्नति, जितेन्द्रियता, अद्रोह-अद्वेष तथा संविभागपूर्वक खाने की प्रवृत्ति प्रवृत हो।

ऋषिः—**मेधाकामः**। देवता—**परमात्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देवगण व पितरों से उपासित बुद्धि—मेधावी

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।

तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥१४॥

१. **याम्**=जिस **मेधाम्**=बुद्धि की **देवगणाः**=देवगण **पितरः च**=और रक्षक लोग **उपासते**=उपासना करते हैं **तया मेधया**=उस मेधा से **माम्**=मुझे **अद्य**=आज **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **मेधाविनम्**=मेधावाला **कुरु**=कीजिए। **स्वाहा**=इसके लिए मैं स्वार्थ का त्याग करता हूँ। २. प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को 'अग्ने' नाम से सम्बोधित करके संकेत किया है कि सारी उन्नति बुद्धि पर ही निर्भर है। यह बुद्धि 'मेधा' है, मेरा धारण करनेवाली है। 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'=बुद्धिनाश से मनुष्य नष्ट हो जाता है। देवता जिसका नाश चाहते हैं, उसकी बुद्धि हर लेते हैं। ३. मेधा वही ठीक है जिसकी देवगण उपासना करते हैं न कि दानव। बुद्धि का ग़लत प्रयोग मनुष्य को दानव भी बना देता है। क्या अणुबम्बों को बनाकर मनुष्य दानव नहीं बन गया? इसी अणुशक्ति का प्रयोग यन्त्रों के सञ्चालन में होकर मानवहित की साधना भी हो सकती है, अतः मुझे वही मेधा चाहिए जिसकी देव

उपासना करते हैं। ४. बुद्धि वही ठीक है जो मुझे रक्षक बनाती है। मैं बुद्धि का प्रयोग औरों के ध्वंस में न करूँ। निज जीवन में जो बुद्धि मुझे 'देव' बनाती है, वही बुद्धि सामाजिक जीवन में मुझे 'पितर' बनाती है। ५. इस बुद्धि को मैं आज ही प्राप्त कर सकूँ। इस बुद्धि को जितना शीघ्र प्राप्त कर सकें उतना ही ठीक। इसमें जितनी देर होती है उतना ही हानिकारक है।

भावार्थ—प्रभु मुझे बुद्धि दें, जिससे मैं देव व 'पितर'=रक्षक बन पाऊँ। सदा उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता जाऊँ।

ऋषिः—**मेधाकामः**। देवता—**परमेश्वरविद्वांसौ**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

धारण-मार्ग

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥१५॥

१. **मे**=मुझे **वरुणः**=वरुण **मेधाम्**=बुद्धि को **ददातु**=दे। वरुण का अर्थ है जो वरण करता है (one who elects) और इस प्रकार श्रेष्ठ (वरुण=वर=श्रेष्ठ) बनता है। संसार में 'प्रेय व श्रेय' में यदि मन्दबुद्धिता से मैंने प्रेय का वरण कर लिया तो लक्ष्य तक न पहुँच पाऊँगा। श्रेय का वरण करके श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर बनता चलूँगा। 'प्रातः उठना' व 'प्रातः सो लेना' इसमें मैं जागरण का ही वरण करूँ, सोने का नहीं। २. **अग्निः**=अग्नि नामक प्रभु मुझे **मेधाम्**=बुद्धि दें। इस बुद्धि पर ही तो मेरी सारी अग्रगति व उन्नति निर्भर करती है। बौद्धिक प्रकर्ष ही उन्नति का मापक है। **३. प्रजापतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभु मुझे बुद्धि दें। उन्नत होकर मुझे प्रजा की रक्षा में लगना है। ४. **इन्द्रः च**=और इन्द्र मुझे **मेधाम्**=बुद्धि दे। मेरी बुद्धि मुझे जितेन्द्रियता की ओर प्रेरित करे। मैं अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ। ५. **वायुः च**=और वायु मुझे बुद्धि दे। 'वा गतौ' मैं सदा क्रियाशील बना रहूँ। क्रियाशीलता से ही तो इन्द्रियों की शक्ति बनी रहेगी और वे कुमार्ग में न जाएँगी। आलस्य ही सब व्यसनों का मूल है। ६. **धाता**=सर्वधारक प्रभु **मे**=मुझे **मेधाम्**=बुद्धि **दधातु**=धारण कराए। **स्वाहा**=इस बुद्धि के धारण के लिए मैं त्याग करता हूँ। बुद्धि के द्वारा ही मैं अपना धारण करनेवाला बनता हूँ। वस्तुतः प्रभु के उक्त नामों में धारण के मार्ग का संकेत है। (क) ठीक चुनाव करके (वरुण), आगे-और-आगे बढ़ते चलना (अग्नि), निजू उन्नति करके प्रजारक्षण कार्य में लगे रहना (प्रजापति), प्रजारक्षण की योग्यता-वृद्धि के लिए जितेन्द्रिय बनना (इन्द्र), और जितेन्द्रियता के लिए सदा क्रियाशील जीवन बिताना (वायु) यही धारण मार्ग है (धाता)। जो मनुष्य अपना धारण व अविनाश चाहता है, उसे उल्लिखित मार्ग ही अपनाना होगा। ७. धारण के लिए, विनाश से बचने के लिए प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधाकाम' मेधा की कामना करता है। मेधा प्राप्त करके यह योग्य मार्ग का वरण करता है, उसपर चलकर यह अधिकाधिक उन्नत होता चलता है और प्रजारक्षण के कार्य में व्याप्त रहकर यह जितेन्द्रिय बनता है, सदा क्रियाशील रहता है। इस प्रकार अपना धारण करता हुआ यह वास्तविक 'श्री' को प्राप्त करता है। इस 'श्री' का ही उल्लेख अगले मन्त्र में है।

भावार्थ—मैं 'वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु व धाता' इन नामों से सूचित मार्ग को अपनाऊँ। मेरी बुद्धि श्रेष्ठ हो और ठीक मार्ग को अपनाकर मैं अपना धारण कर सकूँ।

ऋषिः—**श्रीकामः**। देवता—**विद्वद्राजानौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

श्री त्रितय (ब्रह्मश्री, क्षत्रश्री, देवश्री) ज्ञान+बल+विनय

(उत्-उत्तर-उत्तम) Head, Hand, Heart

इ॒दं मे॒ ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं चो॒भे श्रिय॑मश्नुताम्।

मयि॑ दे॒वा द॑धतु॒ श्रिय॒मुत्त॑मां॒ तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑॥१६॥

१. **इदम्**=यह **मे**=मेरा **ब्रह्म च**=ज्ञान **क्षत्रम् च**=और बल **उभे**=दोनों **श्रियम्**=श्री को **अश्नुताम्**=प्राप्त करें। 'ब्रह्म' शब्द बृहि वृद्धौ से बनकर 'बढ़ानेवाले' अर्थ का वाचक है। ज्ञान ही सब वृद्धियों का मूल है, अतः ब्रह्मशब्द 'ज्ञान' का वाचक हो जाता है। यही ज्ञान अन्ततः सदावृद्ध 'ब्रह्म' का दर्शन कराता है। 'क्षत्र' शब्द मूल में 'क्षत से त्राण' (चोट से रक्षा) की भावना को कहता है। चोट से रक्षा बल के द्वारा होती है, अतः क्षत्र शब्द बल का वाचक हो गया है। 'बल' कर्म से उत्पन्न होता है, अतः 'क्षत्र' कर्म का प्रतीक हो जाता है। 'क्षत्र' उस वृक्ष को कहते हैं जिसके फूल-फल तो 'चोट से रक्षण' हैं, तना व शाखाएँ बल हैं और मूल कर्म है। एवं ब्रह्म का अभिप्राय ज्ञान है, क्षत्र का अभिप्राय कर्म व बल है। मुझमें ये दोनों ही फूलें व फलें। मेरा ज्ञान भी बढ़े, मेरा बल व क्रियाशक्ति भी बढ़े। ज्ञान के विकास से मेरी श्री 'उत्' (उत्कृष्ट) होगी, बल व क्रिया के विकास से वह 'उत्तर' (अधिक उत्कृष्ट) हो जाएगी। केवल ज्ञान की श्रीवाला उस युवति के समान है जिसकी मुखाकृति बड़ी सुन्दर है, परन्तु हाथ कटे हैं। कर्म व बल की श्रीवाला उस युवति के समान है जिसकी मुखाकृति तो सुन्दर है ही, हाथ भी बड़े सुन्दर हैं। २. मुख भी सुन्दर हो, हाथ आदि भी सुन्दर हों, परन्तु यदि उसका हृदय काला हो तो वह युवति उस बेर से ही उपमा देने योग्य होती है, जो केवल बाहर से सुन्दर है। इससे तो कुरूप परन्तु उत्तम हृदयवाली युवति ही ठीक है जो नारियल के समान बाहर से सुन्दर न होती हुई भी अन्दर से मधुरजल से पूर्ण है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **मयि**=मुझमें **देवाः**=दिव्यगुण **उत्तमाम् श्रियम्**=उत्तम श्री को **दधतु**=धारण करें। मेरे हृदय में दिव्यता हो, दैवी सम्पत्ति की चरमसीमा 'नातिमानिता' में है। मेरा हृदय अभिमान—घमण्ड से रहित हो। उसमें विनीतता हो। मस्तिष्क में ब्रह्म, हाथों में क्षत्र तथा हृदय में दिव्यता व विनय—यही जीवन का चरमोत्कर्ष है। मानव-जीवन की यात्रा की पूर्णता इस दिव्यता में ही है। मस्तिष्क Head की पूर्णता ज्ञान से, हाथ Hand की क्षत्र से व हृदय Heart की पूर्णता दिव्यता से होती है। इन तीनों के पूर्ण होने में ही पूर्णता है। ३. यह **श्री**=लक्ष्मी विष्णु की पत्नी है। विष्णु त्रिविक्रम हैं। यदि मनुष्य केवल **ब्रह्म**=ज्ञान को महत्त्व देता है तो वह **एक-विक्रम** होता है, **क्षत्र**=बल को भी अपनाने पर वह **द्वि-विक्रम** हो जाता है और दिव्यता को अपनाने पर वह **त्रिविक्रम** बनता है। वस्तुतः अब वह श्री-पति बन जाता है। ४. **तस्यै**=उस उत्तम श्री के लिए मैं **ते**=हे प्रभो! आपके प्रति **स्वाहा**=(स्व-हा) अपना समर्पण करता हूँ। प्रभु चित्रकार हैं, जीवरूप चित्र का अच्छा बनना इसी बात पर निर्भर करता है कि यह चित्रकार को चित्र बनाने दे, किसी प्रकार का विघ्न न करे तभी तो प्रभु उसे अपने अनुरूप बनाएँगे।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा हमारी श्री उत्कृष्ट हो, ज्ञान+बल के द्वारा वह उत्कृष्टतर हो, और ज्ञान+बल+दिव्यता से वह उत्कृष्टतम हो। इस श्री की प्राप्ति के लिए हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। हम वह चित्र हों, जिसके चित्रकार प्रभु हों।

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः॥

अथ त्र्यस्त्रिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**वत्सप्रीः**। देवता—**अग्नयः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रभुभक्त का जीवन

अस्याजरासो दमामरित्राऽअर्चद्धूमासोऽअग्नयः पावकाः।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः॥१॥

१. **अस्य**=इस प्रभु के भक्त **अजरासः**=जीर्ण नहीं होते। मनुष्य जब प्रकृति की ओर झुकता है तब भोगप्रवण होकर क्षीण होने लगता है। प्रभुभक्त प्रकृति में न फँसकर अक्षीण बना रहता है। २. ये प्रभुभक्त अक्षीण इसलिए बने रहते हैं कि ये **दमाम्**=दमन करनेवाली वासनाओं में से **अरित्राः**=शत्रुभूत वासनाओं से अपना त्राण करते हैं। काम-क्रोधादि वासनाएँ मनुष्य की शत्रुभूत हैं, उनसे यह प्रभुभक्त अपने को बचाता है, अतएव अक्षीण बना रहता है।

३. इन शत्रुभूत वासनाओं से ये अपने को इसलिए बचा पाते हैं कि ये **अर्चत्**=प्रभु की अर्चना करनेवाले होते हैं और इस प्रकार **धूमासः**=वासनाओं को प्रकम्पित करके दूर भगा देते हैं (अर्चन्तः धूमासः, धूञ् कम्पने)। ४. वासनाओं को कम्पित करके ये **अग्नयः**=अग्नि बनते हैं, आगे बढ़ते हैं। ५. इस प्रकार उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते हुए ये अपने को **पावकाः**=पवित्र कर लेते हैं। भटकने से ही अपवित्रता आती है। न ये भटकते हैं, न अपवित्र होते हैं। ६. **श्वितीचयः**='श्वितिं चिन्वन्ति'=ये शुद्धता का सञ्चय करते हैं अथवा 'श्वितिं अञ्चन्ति=शुक्लमार्ग से ही गति करते हैं। निष्कामता से यज्ञों को करना ही शुक्ल मार्ग है। इस मार्ग पर चलते हुए ये ७. **श्वात्रासः**=कल्याणवाले होते हैं अथवा उस ज्ञानरूप धनवाले होते हैं जो 'श्वि'=वृद्धि का हेतु व 'त्र' त्राण-रक्षण का कारण बनता है। ८. इस प्रकार वैयक्तिक जीवन को उल्लिखित सप्त रत्नों से भरकर ये **भुरण्यवः**=सब लोगों का भरण करनेवाले बनते हैं। ९. **वनर्षदः**=(वन्=worshipping, a ray of light) अपने खाली समय को ये पूजा में या ज्ञान-प्राप्ति में व्यय करते हैं (वन्=पूजा या ज्ञानप्राप्ति, सद्=बैठना)। १०. **वायवः न**=ये वायुओं के समान सदा गतिशील होते हैं और वायु की भाँति ही ये प्रजा में प्राण का सञ्चार करते हैं। ११. इस स्थिति में स्वाभाविक है कि लोगों से इन्हें मान व पूजा प्राप्त हो, परन्तु इन्हें चाहिए कि उस पूजा से अपने मस्तिष्क को विकृत न होने दें और **सोमाः**=सौम्य बने रहें। अधिक-से-अधिक आदृत, परन्तु अधिक-से-अधिक विनीत। इस प्रकार बनने पर ही ये प्रभु के **वत्स**=प्रिय होते हैं। ये अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन (वद=बोलना) कर रहे होते हैं और इसी कारण प्रभु को प्रीणित=प्रसन्न कर पाते हैं और इस मन्त्र के ऋषि 'वत्सप्री' होते हैं।

भावार्थ—मन्त्रोक्त ग्यारह बातें हमारे जीवन में आनूदित हों और हम सच्चे प्रभुभक्त बनें।

ऋषिः—**विश्वरूपः**। देवता—**अग्नयः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रभुभक्त=धूमकेतु

हरयो धूमकेतवो वातजूताऽउप द्यवि। यतन्ते वृथगग्नयः॥२॥

१. गतमन्त्र-वर्णित प्रभुभक्त **हरयः**=औरों के दुःखों को हरण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः ये औरों के दुःखों को अपना बना लेते हैं और उसे दूर किये बिना शान्ति अनुभव नहीं करते। २. **धूमकेतवः**=(धूम=वासनाओं को कम्पित करना, **केतु**=ज्ञानवाला) इनका ज्ञान वासनाओं को दूर करनेवाला होता है। इस ज्ञान को देकर वासना-विनाश के द्वारा ये लोगों को दुःखों से ऊपर उठाते हैं। ३. **वातजूताः**=अपने इस ज्ञान-प्रसार के कार्य में ये वायु से प्रेरित होते हैं। वायु से प्रेरणा प्राप्त करके ये निरन्तर ज्ञान-प्रसाररूप कार्य में लगे रहते हैं। ४. जिनका ये हित कर रहे हैं वे लोग सम्भवतः इनके कृतज्ञ न होकर इनका अपमान भी कर दें, परन्तु ये तो **वृथक्**=वृथा ही, अर्थात् किसी भी प्रकार की फलाशा को न लेकर **उपद्यवि**=उस द्योतनात्मक प्रभु के चरणों में स्थित हुए-हुए **यतन्ते**=उद्योग में लगे रहते हैं। यह 'सर्वभूतहित में लगना ही तो सच्ची प्रभुभक्ति है. और अन्ततः ५. **अग्नयः**='अग्रेणीः' औरों को भी आगे ले-चलनेवाले होते हैं। स्वयं अग्नि बनकर ये औरों को भी अग्नि बना पाते हैं। लोकहित में लगे हुए ये सबमें अपने को ही देखते हैं और इस कारण 'विश्वरूप' हो जाते हैं, सभी के सुख में ये सुख का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम स्वयं अग्नि बनकर औरों को भी अग्नि बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

स्वागत की तैयारी

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ२॥ऽऋतं बृहत्। अग्ने यक्षि स्वं दमम्॥३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित 'अग्नि' बनने के लिए हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप अग्नि हैं, आपके सम्पर्क से हम भी अग्नि बन पाएँगे। आप **नः**=हमारे साथ **मित्रावरुणा**=प्राण और अपान का **यज**=मेल कीजिए (यज= सङ्गतिकरण)। रोगों से (मि) बचाने के कारण (त्र) प्राण ही 'मित्र' है और रोगों का निवारण (**वरुण**) करने से अपान 'वरुण' है। इस प्राणापान की शक्ति से सङ्गत होकर हम नीरोग बनेंगे। स्वस्थ शरीर से हम अपनी जीवन-यात्रा को सफलता से सिद्ध कर पाएँगे। २. हे अग्ने! आप हमें प्राणापान के द्वारा स्वस्थ बनाकर **देवान्**=दिव्य गुणों को **यज**=प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से जहाँ हमारा शरीर स्वस्थ हो वहाँ हमारा मन भी पूर्णरूप से स्वस्थ हो। इस मन से राग-द्वेष-मोहरूप मल नष्ट हो जाएँ और उसमें दिव्य गुणों का विकास हो। **'येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः**'=देव न परस्पर विरुद्ध गति करते हैं, न ही परस्पर द्वेष करते हैं। हम भी द्वेष से ऊपर उठकर देव बनें। ३. हे प्रभो! **ऋतम्**=ऋत को **यज**=हमारे साथ सङ्गत कीजिए। **ऋत**=right=ठीक—ठीक वह है जो ठीक स्थान पर हो और ठीक समय पर हो। प्रभो! हम आपके अनुग्रह से सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करनेवाले हों, क्योंकि यह ऋत ही **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) हमारी वृद्धि का कारण बनेगा। ४. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **स्वं दमम्**=आत्म-दमन को **यक्षि**=हमारे साथ सङ्गत कीजिए। हम अपना दमन करना सीखें। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाने के लिए चार प्रार्थनाएँ करता है—१. मुझे प्राणापान २. दिव्य गुण ३. वृद्धि का कारणभूत ऋत व ४. आत्मदमन की शक्ति प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु के स्वागत की तैयारी का स्वरूप यही है कि हम १. स्वास्थ्य के द्वारा शरीर को रोगरूप मलों से दूर करते हैं २. दिव्य गुणों के द्वारा द्वेषरूप मानसमल को दूर करते हैं ३. ऋत के द्वारा उन्नति के विघ्नों को समाप्त करते हैं और ४. आत्मदमन से अपने

सब मलों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**विश्वरूपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

स्वागत

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२॥ऽअश्वाँ२॥ऽअग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्यः सदः॥४॥

१. हे **अग्ने!**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **रथीः इव**=उत्तम सारथि के समान **हि**=निश्चय से **देवहूत-मान्**=अधिक-से-अधिक दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले **अश्वान्**=इन्द्रियरूप अश्वों को **युक्ष्व**=इस शरीररूप रथ में जोतिए। मेरे इस रथ के सारथि आप ही हैं। आपने ही यह रथ दिया है, उसमें घोड़े भी आपने ही जोतने हैं। २. अब दिव्य गुणों का पुञ्ज बनकर सब प्रकार के मलों को दूर करके मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि (क) **होता**=आप सब पदार्थों के देनेवाले हैं (ख) **पूर्व्यः**=आप सबसे पूर्व स्थान में स्थित हैं, सबसे अग्रणी हैं, परमेष्ठी हैं। आप **निसदः**=यथाशक्ति पवित्र किये गये मेरे इस हृदय-मन्दिर में विराजमान हों। ३. संसार में हम किसी भी मान्य पुरुष को आमन्त्रित करते हैं तो अपने घर को साफ़-सुथरा करने का प्रयत्न करते हैं। आज प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'विश्वरूप' ने प्रभु को आमन्त्रित करना है, अतः उसने अपनी सभी इन्द्रियों को शुद्धतम करने का प्रयत्न किया है। शरीर, मन, आत्मा व इन्द्रियाँ—सभी को शुद्ध बनाकर वह प्रभु से कहता है कि हे प्रभो! आइए और मेरे हृदयासन पर विराजिए। मैंने यथासम्भव अपने हृदय को द्वेषरूप मल से शून्य किया है। द्वेष से ऊपर उठकर सभी में आत्मभावना करके मैंने 'विश्वरूप' बनकर सच्चे 'विश्वरूप' आपका दर्शन करने की कामना की है। आप आइए, मेरे हृदय में आसन ग्रहण कीजिए, जिससे मैं आपके दर्शन से कृतकृत्य हो सकूँ।

भावार्थ—इन्द्रियों को परिशुद्ध करके हम अपने हृदयों में प्रभु का आह्वान करें।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

धात्रीद्वय स्तन्यपान

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थेऽअन्यान्या वत्समुप धापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रोऽअन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः॥५॥

१. ३१वें अध्याय की समाप्ति पर 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' इन शब्दों में कहा था कि 'धन व ज्ञान' वे दो तेरी पत्नियाँ हैं। इसी बात को 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च' इन शब्दों में दुहराया गया है (क्षत्रमिति धननाम—नि० २।१०)। यहाँ 'ब्रह्म' ज्ञान का वाचक है और 'क्षत्र' धन का। ये दोनों ही मनुष्य के पालन करनेवाले हैं। यहाँ इनका पालक धात्रियों के रूप में चित्रण है। **द्वे**=ये 'श्री और लक्ष्मी' दोनों **विरूपे**=परस्पर भिन्न रूपवाली हैं—एक आन्तर है तो दूसरी बाह्य। अथवा ये दोनों ही विशिष्ट रूपवाली हैं। **चरतः**=(परिचरतः) ये दोनों इस प्रभुभक्त की परिचर्या=सेवा करती है। मानव-जीवन के लिए धन व ज्ञान दोनों सहायक हैं। **स्वर्थे**=(सु अर्थ) दोनों ही उत्तम प्रयोजनवाले हैं। **अन्यान्या**=दोनों अलग-अलग **वत्सम्**=उस प्रभु के प्रिय को अथवा अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन करनेवाले को (वदति) **उपधापयेते**=दूध पिलाती हैं, अर्थात् उसका पोषण करती हैं। २. इनमें से **अन्यस्याम्**=एक में तो यह वत्स=प्रभु का प्रिय पुत्र (क) **हरिः**=अपने दुःखों को दूर करनेवाला तथा (ख) **स्वधावान्**=अपना धारण करनेवाला **भवति**=होता है, अर्थात् धन के द्वारा ये दुःखों को दूर करने के लिए आवश्यक वस्तुओं को जुटा पाता है, रोगादि होने पर

औषधों के लिए धन का विनियोग करता है और अपने धारण के लिए आवश्यक भोजनादि सामग्री का संग्रह करने में समर्थ होता है। एवं, प्रभुभक्त के लिए श्री के दो ही उपयोग हैं १. दुःख दूर करने के लिए और २. धारण के लिए आवश्यक सामग्री का संग्रह। ३. **अन्यस्याम्**=दूसरी लक्ष्मीरूप धात्री में यह **शुक्रः**=ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल तथा **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस् व तेजवाला **ददृशे**=दिखता है। शुक्र शब्द 'शुच् दीप्तौ' धातु से बना है। ज्ञानाग्नि से यह दीप्त होता है, क्योंकि ज्ञानाग्नि इसके मलों को नष्ट कर देती है। ज्ञान से काम-क्रोध अथवा राग-द्वेषादि के मल भस्म कर दिये जाते हैं। वासनारूप मल के नष्ट होने पर यह भी परिणाम होता है कि यह भोगविलास में न फँसने से उत्तम तेजवाला बना रहता है। एवं, प्रभुभक्त में ज्ञान के भी दो परिणाम दिखते हैं १. नैर्मल्य के कारण दीप्ति, तथा २. विलास से दूर रहने के कारण विशिष्ट तेजस्विता। अपने ज्ञान से व ज्ञानजन्य तेजस्विता से सब शत्रुभूत वासनाओं को समाप्त करनेवाला यह वत्स=प्रभुभक्त 'कुत्स' कहलाता है (कुथ हिंसायाम्) काम-क्रोधादि का हिंसन करनेवाला।

भावार्थ—लक्ष्मी व श्रीरूप धात्रियों का दुग्धपान करके हम 'हरि, स्वाधावान्, शुक्र व सुवर्चाः' बनें। हम सब दुःखों से दूर हों, अपना धारण करने में समर्थ हों, देदीप्यमान व तेजस्वी हों।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रभु के प्रिय कौन? (प्रभु का प्रकाश किनमें?)

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित प्रकार से धात्रीद्वय (श्री+लक्ष्मी) का स्तन्यपान करके जो अपना धारण करते हैं उन्हीं **धातृभिः**=उत्तम प्रकार से धारण करनेवालों से **इह**=इस मानव-जीवन में **अयम् प्रथमः**=यह चतुर्थ मन्त्र का 'पूर्व्य'=सबसे प्रथम होनेवाला परमेष्ठी प्रभु **धायि**=धारण किया जाता है। प्रभु का धारण वही कर पाता है जो शरीर को नीरोग रखता (हरि) है (ख) शरीर के धारण के लिए ही भोजनाच्छादन का प्रयोग करता (स्वधावान्) है (ग) ज्ञानाग्नि से मन के मैलों को जलाकर चमकता है (शुक्र) तथा विलास में न फँसने से तेजस्वी होता है। २. ये प्रभु ही (क) **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं। क्या धन और क्या ज्ञान ये प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। (ख) **यजिष्ठः**=ये सर्वोत्तम वस्तुओं का हमारे साथ सम्बन्ध करनेवाले हैं। हम अज्ञानवश ग़लत वस्तु की भी कामना कर सकते हैं, प्रभु हमें उत्तम ही वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं। (ग) हम उत्तम साधनों को प्राप्त करके जो भी लोकसंग्रह व परोपकार के उत्तम कर्म कर पाते हैं, उन सब **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञों में **ईड्यः**=वे प्रभु ही स्तुति के योग्य हैं। वस्तुतः सब उत्तम कर्म प्रभु की शक्ति व कृपा से ही हो रहे होते हैं। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **अप्नवानः**=उत्तम यज्ञिय कर्मोंवाले लोग तथा **भृगवः**=ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले तपस्वी ज्ञानी ही **विरुरुचुः**=प्रिय होते हैं। प्रभु का प्रिय बनने के लिए कर्म व ज्ञान का समन्वय आवश्यक है, क्योंकि वैदिक गणित का यही समीकरण है—ज्ञान+कर्म=भक्ति। ४. ये प्रभु **वनेषु**=(वन=संभजन) अपने संभजन करनेवाले भक्तों में **चित्रम्**=ज्ञान को देनेवाले हैं। प्रभु अग्नि है, यह भक्त भी अग्नि-सा बन जाता है, इसकी ज्ञानाग्नि भी चमक उठती है। ५. जो व्यक्ति स्वार्थी न रहकर अपने जीवन को औरों के जीवन से जोड़ देता है वह 'विश' कहलाता है। **विशेविशे**=वसुधा को ही कुटुम्ब

समझनेवाले प्रत्येक ऐसे व्यक्ति में **विभ्वम्**=वे प्रभु (विभू=to become manifest in) प्रकाशित होते हैं। इनके जीवनों में प्रभु की शक्ति प्रकट होती है और सामान्य लोग ऐसे लोगों में प्रभु की महिमा का दर्शन करते हैं। इस शक्ति के अवतरण से ये सब शत्रुओं का संहार करके 'कुत्स' नामवाले हुए हैं। 'विभु' शब्द का अर्थ शक्तिशाली भी है। प्रभु को धारण करनेवाले ये प्रभु की शक्ति को धारण करके सचमुच शक्तिशाली हो गये हैं।

भावार्थ—हम कर्मनिष्ठ, तपस्वी, ज्ञानी बनकर प्रभु के प्रिय बनें, उपासक बनकर ज्ञान प्राप्त करें, सबके साथ अद्वैत का अनुभव करते हुए शक्तिशाली बनें, प्रभु की शक्ति का प्रकाश करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वमित्रः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवों की अनुकूलता

त्रीणि शता त्री सहस्त्राण्यग्निं त्रिꣳशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा॑ऽआदिद्धोतारं न्यसादयन्त॥७॥

१. **त्रीणि शता**=तीन सौ **त्री सहस्त्राणि**=तीन हज़ार **त्रिंशत् च**=और तीस **नव च**=और नौ **देवाः**=देव, अर्थात् कुल ३३३९ देव **अग्निम्**=इस उन्नति-पथ पर चलनेवाले की **असपर्यन्**=पूजा करते हैं, अर्थात् सब देव अग्नि के अनुकूल होते हैं। इनकी अनुकूलता का ही परिणाम होता है कि यह अग्नि पूर्ण स्वस्थ बन पाता है। शतपथ ११।६।३। ४-५ में कहा है कि **'कतमे वै देवाः? त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्त्रेति। स याज्ञवल्क्यो होवाच महिमान एवैषां देवानां एते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति**'=देव कितने हैं? तीन और तीन सौ, तीन और तीन हज़ार, अर्थात् तीन हजार तीन सौ छह। इसपर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवता तो ३३ ही हैं यह ३३०६ या ३३३९ संख्या तो उनकी महिमा की सूचनमात्र है। वस्तुतः द्यौः, अन्तरिक्ष व पृथिवी, अर्थात् उनमें स्थित ३३ देवों की शान्ति व अनुकूलता पर ही मनुष्य का शारीरिक, मानस व मस्तिष्क का स्वास्थ्य निर्भर करता है। २. ये अनुकूल बने हुए देव ही इस **अग्नि**=उन्नतिशील पुरुष को **घृतैः**=मलों के क्षरण= दूरीकरण तथा दीप्ति से **औक्षन्**=सिक्त करते हैं। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन व स्वस्थ मस्तिष्क तो होते ही हैं। देवों की अनुकूलता में शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त होता है, मन भी राग-द्वेष के मैल से रहित हो जाता है। इन मलों का दूरीकरण होकर मन प्रसादमय हो उठता है। मस्तिष्क भी स्वस्थ होता है। इन देवों ने शरीर में स्वास्थ्य, मन में नैर्मल्य तथा मस्तिष्क में दीप्ति को प्राप्त कराया है। ३. इस अग्नि के लिए इन देवों ने **बर्हिः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण (विनाश) कर दिया गया है ऐसे हृदयासन को **अस्तृणन्**=बिछाया है। चतुर्थ मन्त्र में उस होता=सर्वप्रदाता प्रभु से हृदय में आसीन होने के लिए प्रार्थना की गई थी। अब सब प्रकार से तैयारी करके **आत् इत्**=ठीक समय बाद **होतारम्**=उस स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति को देनेवाले प्रभु को **न्यसादयन्त**=इस पवित्र हृदयासन पर आसीन करते हैं। देवों की अनुकूलता हमें महादेव का भी प्रिय बना सकती है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है, सभी के साथ स्नेह करनेवाला है। यह किसी से द्वेष नहीं करता और इसी कारण यह प्रभु का प्रिय बनता है।

भावार्थ—सब प्राकृतिक देवों की अनुकूलता होने पर हमें स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति प्राप्त होती है और हमारा हृदय प्रभु का आसन बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवकृत अग्नि का विकास

मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥८॥

प्राकृतिक देवों की अनुकूलता होने पर **देवाः**='माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देव **अग्निम्**=इस उन्नतिशील पुरुष को **आजनयन्त**=सर्वथा बना देते हैं। कैसा?

१. **दिवः मूर्धानम्**=ज्ञान-दीप्ति का शिखर। **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'** इस वचन के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य को प्राप्त करनेवाला पुरुष ज्ञानी बनता है। ज्ञान का ही परिणाम होता है कि वह २. **अरतिम् पृथिव्याः**=पार्थिव भोगों के प्रति रतिवाला नहीं होता। ज्ञान आसक्ति को नष्ट कर देता है। भोगों में लिप्त न होकर यह ज्ञानी ३. **वैश्वारनम्**=(विश्वनरहितम्) सब लोगों के हित में प्रवृत्त होता है। भोगप्रवण मनुष्य स्वार्थी हुआ करता है। ज्ञानी परमार्थ में ही आनन्द का अनुभव करता है ४. **ऋते आजातम्**=(ऋतम् एव अनुभवितुं जातम्) यह अपनी जीवन-यात्रा में सदा सत्य का पालन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों ऋत का ही अनुभव लेने के लिए यह पैदा हुआ हो। असत्य से यह सदा दूर रहता है, इसलिए ५. **अग्निम्**=आगे-और-आगे बढ़ता चलता है, औरों को भी यह आगे ले-चलता है। ६. आगे ले-चलने के लिए **कविम्**=(कौति सर्वा विद्याः) सब विद्याओं का यह उपदेश करता है अथवा स्वयं आगे बढ़ने के लिए क्रान्तदर्शी बनता है, वस्तुओं की आपातरमणीयता से आकृष्ट नहीं होता। विषयों से आकृष्ट न होने के कारण ७. **सम्राजम्**=इसका जीवन बड़ा दीप्त व व्यवस्थित (regulated) होता है। ८. यह दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाला 'विश्वामित्र'=सभी का स्नेही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि **जनानाम्**=लोगों का **अतिथिम्**=सातत्येन गमनवाला होता है। जहाँ भी दुःख देखता है वहीं पहुँच जाता है और उन लोगों का कल्याण करने का प्रयत्न करता है। ९. यह **आसन्**=मुख के द्वारा **पात्रम्**=रक्षा करनेवाला होता है, अर्थात् मुख के द्वारा दूसरों को ज्ञान देता हैं और उनमें उत्साह का सञ्चार करता है। यह सभी के हित में प्रवृत्त हुआ-हुआ व्यक्ति सचमुच प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है।

प्रस्तुत मन्त्र में उन्नति के कारणों का संकेत बड़ी सुन्दरता से किया गया है कि १. **देवाः**=प्राकृतिक देवों की अनुकूलता तो चाहिए ही २. प्रशस्त माता-पिता व आचार्य का मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है। ३. और फिर **'अग्निम्'**=उस व्यक्ति के अन्दर आगे बढ़ने की भावना का जागना भी नितान्त अपेक्षित है। इस भावना के जागे बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं।

भावार्थ—देवों की कृपा से हमारा जीवन मन्त्र-वर्णित बातों से युक्त होकर नव (नवीन) ही बन जाए और सबका स्तुत्य (नू स्तुतौ) हो सके।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

अग्नि का वृत्रहनन

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया। समिद्धः शुक्रऽआहुतः ॥९॥

१. **अग्निः**=हमारी सब उन्नतियों के साधक वे प्रभु **वृत्राणि**=ज्ञान पर पर्दा डालनेवाली कामादि वासनाओं को **जंघनत्**=नष्ट करते हैं। जीव स्वयं वासना के विजय में समर्थ नहीं।

प्रभु से मिलकर ही हम काम को जीत पाते हैं। २. यह वासना-विनाशरूप कार्य प्रभु करते तभी हैं जब **द्रविणस्युः**=द्रविण के चाहनेवाले प्रभु को हम अपने द्रविण की भेंट कर दें। अथर्ववेद का मन्त्र बड़ी सुन्दरता से कहता है कि यदि मोक्ष चाहते हो तो 'मह्यं दत्त्वा'=यह द्रविण मुझे लौटा दो। हमने धन लौटाया और वासना-वृक्ष का मूल कटा। ३. प्रभु को धन लौटाकर हम वासनाओं को जीत पाते हैं, यदि उस प्रभु का स्मरण करते रहें **विपन्यया**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा। इसी विशिष्ट स्तुति का स्वरूप मन्त्र के उत्तरार्ध में व्यक्त किया गया है (क) **समिद्धः**=दीप्त किया गया (ख) **शुक्रः**=(शुक गतौ) जाया गया (ग) **आहुतः**=अर्पण किया गया। (क) हम उस प्रभु की भावना को अपने हृदयों में दीप्त करें, उसका चिन्तन करें। योग के शब्दों में 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'=उसके नाम का जप और प्रणव के अर्थ का चिन्तन करें। (ख) इस प्रकार उस प्रभु का स्तवन करके उसकी ओर चलें, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें। मार्ग में आनेवाले विघ्नों को जीतकर उसकी ओर बढ़ते चलें। (ग) उसके समीप पहुँचकर उसके प्रति अपने को अर्पित कर दें। (घ) वासनाओं को नष्ट करके यह प्रभुभक्त अपने अन्दर शक्ति (वाज) का भरण (भरद्) करता है, अतः 'भरद्वाज' नामवाला हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने का प्रयत्न करें, इसी उद्देश्य से धनों का यज्ञों में विनियोग करें, जिससे प्रभु हमपर आक्रमण करनेवाले वृत्रों का विनाश करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सौम्य मधु का पान

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्नऽइन्द्रेण वायुना। पिबा मित्रस्य धामभिः ॥१०॥

१. हे **अग्ने**=(अगि गतौ) निरन्तर प्रभु की ओर चलनेवाले। उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले जीव! तू **मित्रस्य**=अपने मित्र प्रभु के **धामभिः**=तेजों के उद्देश्य से **सोम्यम् मधु**=सौम्य मधु को **इन्द्रेण**=इन्द्र से, अर्थात् इन्द्र बनकर और **वायुना**=वायु से अर्थात् प्राणों की साधना से **पिब**=पान कर। २. गतमन्त्र में 'भरद्वाज' ने प्रभु को समिद्ध किया, उसकी ओर चला और अन्त में उसके प्रति अपना अर्पण किया, इस प्रकार वह प्रभु का 'सयुज-सखा'=साथ रहनेवाला मित्र बन गया। 'इस मित्र के तेजों को यह भारद्वाज भी प्राप्त करना चाहे' यह स्वाभाविक ही है। प्रभुभक्त प्रभु-जैसा क्यों न बने? ३. इन तेजों को प्राप्त करने के लिए ही मन्त्र में 'सोम्य मधु' के पान का उल्लेख (विधान) है। वीर्यशक्ति (semen) ही सोम है। यह अन्न का सारभूत होने से मधु कहा गया है। मधु (शहद) भी पुष्परसों का सार होता है। यह शक्ति शरीर में सुरक्षित होने पर मनुष्य को 'सौम्य' बनाती है तथा उसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके उसे (स+उमा) ब्रह्मज्ञानसहित करती है, इसी से इसका नाम 'सौम्य' पड़ गया है। ४. इस सोम का पान करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य 'इन्द्र' बने, जितेन्द्रिय हो। इन्द्रियों का अधिष्ठाता इन्द्र ही सोम का पान करता है। ५. इन इन्द्रियों के वशीकरण व निर्दोषता के लिए प्राणों की साधना अत्यन्त उपयोगी है। **वायुना**=प्राणों के द्वारा, प्राणायाम से ही इन्द्रियों के मल नष्ट होते हैं। साथ ही इस प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति भी सिद्ध होती है और मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बन पाता है। यह रेतस् ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और यह साधक दीप्त बुद्धि को प्राप्त करके 'मेधातिथि' बन जाता है, निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला।

भावार्थ—हम जितेन्द्रियता व प्राणसाधना के द्वारा 'सोम्य मधु' (वीर्य) का पान

करनेवाले बनें, जिससे अपने मित्र उस प्रभु के तेजों से तेजस्वी बन सकें।

ऋषिः—**पराशरः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

जनन-सूदन

आ यदिषे नृपतिं तेजऽआनट् शुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।
अग्निः शर्द्धमनवद्यं युवानꣳ स्वाध्यं जनयत्सूदयच्च॥११॥

१. संसार में मनुष्य प्रयत्न करता है, परन्तु शतशः प्रयत्नों के होते हुए भी कई बार वह ठीक मार्ग पर नहीं चल पाता। विघ्न प्रबल होते हैं, वह उन्हें नहीं जीत पाता, परन्तु प्रभु की **इषे**=प्रेरणा होने पर **नृपतिम्**=(ना चासौ पतिश्च) इस आगे बढ़नेवाले इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **तेजः**=तेज **यत्**=जब **आनट्**=समन्तात व्याप्त होता है तब **शुचि रेतः**=वह शुद्ध रेतस् (वीर्य) **द्यौः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **अभीके**=समीप, अर्थात् ज्ञानाग्नि में **निषिक्तम्**=सिक्त होता है, यह वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और यह **नृपति**=जितेन्द्रिय मनुष्य उस **नृपतिः**=सब मनुष्यों के स्वामी प्रभु के दर्शन के योग्य बनता है। एवं, इस मन्त्र के पूर्वार्ध में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) उन्नति प्रभुकृपा से ही होती है जब मनुष्य प्रभुप्रेरणा को सुन पाता है तभी उसमें इन्द्रियों का स्वामी बनने की भावना जागती है। (ख) यह जितेन्द्रिय (नृपति) ही तेजस्वी बन पाता है। (ग) इसका यह वासनाओं से अदूषित, पवित्र तेज इसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। २. दीप्त ज्ञानाग्निवाला यह **अग्निः**=उन्नतिशील पुरुष **जनयत्**=उस प्रभु के दर्शन करता है, हृदय में उसका प्रादुर्भाव कर पाता है, जो प्रभु (क) **शर्द्धम्**=तेज हैं, तेज के पुञ्ज हैं। (ख) **अनवद्यम्**=जिनमें किसी प्रकार का अवद्य पाप नहीं है, जो अपापविद्ध हैं। (ग) **युवानम्**=जो अशुभ को दूर करके शुभ के साथ हमें संपृक्त करनेवाले हैं। (घ) **स्वाध्यम्**=(सु आध्य) उत्तमता से सर्वथा ध्यान करने योग्य हैं।

इस प्रभु के प्रादुर्भाव से यह आत्मा भी तेजस्वी, निष्पाप व अशुभ से दूर व शुभ से युक्त होती है। ३. प्रभु का अपने हृदयान्तरिक्ष में प्रादुर्भाव करनेवाला यह अग्नि इस प्रभु का मित्र बनकर **सूदयत् च**=सब काम-क्रोधादि वासनाओं को नष्ट कर देता है (सूद to kill)। जब तक जीव अकेला था, वासनाओं का शिकार हो जाता था, परन्तु अब प्रभु से मित्रता करके यह वासनाओं को भस्म करने योग्य हो गया है।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा से जितेन्द्रिय बन हम ऊर्ध्वरेतस् बनें, ज्ञानाग्नि को दीप्त कर प्रभु-दर्शन करें। वासनाओं को सुदूर विशरण करनेवाला व्यक्ति ही 'पराशर' है।

ऋषिः—**विश्ववारा**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का आशीर्वाद व आदेश

अग्ने शर्द्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यꣳ सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महाꣳसि॥१२॥

प्रभु-दर्शन से पाप-प्रमथन करनेवाले अग्नि को प्रभु आशीर्वाद देते हैं कि १. **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले जीव! तू **महते सौभगाय**=महान् सौन्दर्य के लिए **शर्ध**=(to strive) पूर्ण प्रयत्न करनेवाला हो। तेरा कोई भी काम असत् प्रकार से न किया जाए। तू अपने जीवन में संवेदनशीलता (Sensitiveness) तथा परिहास (Humour) का समन्वय करके अपने प्रत्येक कार्य व व्यवहार को सुन्दर बना सके। सौभग शब्द में निम्न छह भावनाएँ हैं—

ऐश्वर्य, धर्म, यशस्, श्री, ज्ञान और वैराग्य। इन सबको तू अपने जीवन में समन्वित करके इसे सुन्दर बनानेवाला हो। २. **तव**=तेरे **द्युम्नानि**=तेज, ज्योति (Splendour), बल (Power), धन Wealth, प्रेरणाएँ Inspiration=तथा यज्ञिय कर्म ये सबके-सब **उत्तमानि सन्तु**=उत्तम हों। बुद्धि व शरीर के स्वास्थ्य का साधन करके तू तेजस्वी व बलवान् हो। मस्तिष्क की उज्ज्वलता से उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त कर। तेरा पवित्र हृदय सदा यज्ञिय कर्मों की ओर झुका रहे। ३. **संजास्पत्यम्**=अपने उत्तम दाम्पत्य को **सुयमम्** 'उत्तम यम, संयमवाला **आकृणुष्व**=कर। यह संयम ही गृहस्थ को स्वर्ग बनाता है। माता-पिता व सन्तान सभी का स्वास्थ्य इसी संयम पर निर्भर करता है। गृहस्थ होते हुए संयमी होना सर्वमहान् साधना है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ व संन्यासी तो परिस्थिति से संयमी बन ही सकते हैं, परन्तु सब सामग्रियों के बीच में भी तपस्वी रह जाना तो महत्त्व रखता है। ४. इस प्रकार संयम से शक्तिशाली बनकर तू **शत्रूयताम्**=तेरे प्रति शत्रुता का आचरण करनेवाले इन कामादि के **महाँसि**=तेजों को **अभितिष्ठ**=कुचल डाल। ५. प्रभु के आशीर्वाद से सब बातों का (विश्व) वरण करनेवाली आत्मा (वारा) 'विश्ववारा' कहलाती है। प्रभु के इस आशीर्वाद में ये चार प्रेरणाएँ निहित है। ये ही प्रभु के निर्देश व आदेश है। इनका पालन करनेवाला उस **विश्व**=सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का वरणीय होता है, इसलिए भी इसका नाम 'विश्ववारा' हो गया है।

भावार्थ—हम महान् सौभग के लिए प्रयत्न करें, हमारे द्युम्न उत्तम हों। हमारा दाम्पत्य संयमवाला हो और हम क्रोधादि के वेग को समाप्त कर दें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मन्द्रतम इन्द्र व वायु का आराधन

त्वाᳪहि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने।

इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः ॥१३॥

१. गत मन्त्र के आशीर्वाद को सुनकर अग्नि प्रभु से कहता है कि **मन्द्रतमम्**=अत्यन्त आनन्दमय (Delightful) और प्रशंसनीय (praise worthy) **त्वां हि**=निश्चय से तुझे ही **अर्कशोकैः**=(अर्च्, शुच्) पूजाओं व ज्ञानदीप्तियों के द्वारा **ववृमहे**=हम वरते हैं। हमारी पूजा की वृत्ति व ज्ञान की दीप्तियों से प्रसन्न **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **महि**=महत्ता व बुद्धि (greatness व Intellect) **श्रोषि**=देने की प्रतिज्ञा करते हैं। (प्रतिश्रु=to promise, to give, सन्तुष्टि=a boon) उपर्युक्त कथन में तीन बातें स्पष्ट हैं—(क) प्रभु अत्यन्त आनन्दमय हैं (ख) उस आनन्दमय प्रभु का आराधन **अर्कशोकैः**=अर्चना-मन्त्रों से तथा ज्ञान की दीप्तियों से होता है, (ग) प्रसन्न हुए-हुए प्रभु हमें बुद्धि व महत्ता प्राप्त कराते हैं। यह समझदारी व उदार-हृदयता हमें भी आनन्दमय बनाती है। २. **इन्द्रं न**=सूर्य के समान देदीप्यमान **त्वा**=आपको **देवता**=दैवी सम्पत्तिवाले लोग **शवसा**=बल के द्वारा **पृणन्ति**=प्रसन्न व प्रीणित करते हैं। **'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'** (यजुः०) वे प्रभु सूर्य के समान ज्योतिर्मय हैं। उस प्रभु की ज्योति की कल्पना तभी कुछ हो सकती है यदि हज़ारों सूर्यों की ज्योति आकाश में इकट्ठी उठ खड़ी हो। इस सूर्य के समान ज्योतिर्मय प्रभु को आराधित करने के लिए आराधक ने भी **देवता**=(दीपनाद्वा द्योतनाद्व) चमकने व चमकानेवाला बनना है। ज्ञान की ज्योति के साथ उसने (शवसा) बल का भी सम्पादन करना है। ३. **वायुम्**=(वा गतौ) वायु की भाँति निरन्तर गतिशील आपको, स्वाभाविक क्रियावाले आपको, **नृतमाः**=अपने

को अधिक-से-अधिक उन्नति करनेवाले लोग **राधसा**=(राध सिद्धौ) सिद्धि व सफलता के द्वारा **पृणन्ति**=प्रीणित करते हैं। क्रियाशील प्रभु को वही आराधित कर सकेगा जो पौरुष को अपनाकर मनुष्यों में उत्कृष्ट मनुष्य (नृतम) बनेगा। ४. अपने अन्दर **शवस्**=शक्ति का **भरद्**=भरनेवाला 'भरद्वाज' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ-(क) हम उपासना व ज्ञानदीप्ति से आनन्दमय प्रभु को आराधित करके हृदय की महत्ता व बुद्धि को प्राप्त करें। ये ही दो वस्तुएँ हमारे जीवन को आनन्दमय बनाती हैं। (ख) हम देव बनकर बल की साधना से उस सर्वशक्तिसम्पन्न इन्द्र का आराधन करें तथा (ग) सदा क्रियाशील प्रभु को पौरुषमय जीवन से प्राप्त करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः**। देवता-**विद्वांसः**। छन्दः-**अनुष्टुप्**। स्वरः-**गान्धारः**॥

प्रभु के प्रिय कौन?

त्वेऽअग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान्दयन्त गोनाम्॥१४॥

हे **अग्ने**=सबके अग्रणी=सबको उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले प्रभो! **स्वाहुत** (सु आ हुत)=अत्यन्त उत्तमता से सब ओर, सब-कुछ देनेवाले प्रभो! **त्वे**=आपके **प्रियासः**=प्रिय **सन्तु**=हों। कौन? १. **सूरयः** =जो विद्वान् हैं। ज्ञानी पुरुष ही प्रभु को प्रिय है। **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'**=ज्ञानी तो मुझे आत्मतुल्य प्रिय है। २. **यन्तारः**=जो इस शरीररूप रथ के उत्तम सारथि बनते हैं। जो इन्द्रियरूप घोड़ों को मनरूप लगाम से काबू करने में कुशल हैं। ३. **ये**=जो **जनानाम्**=लोगों में **मघवानः**=उस ऐश्वर्यवाले हैं, जिसमें (मा अघ) पाप का लवलेश भी नहीं। या (मघ=मख) जो लोगों में यज्ञिय प्रवृत्तिवाले हैं। यज्ञमय जीवन बनाकर जो सदा अमृत का सेवन करते हैं तथा अन्त में ४. **गोनाम्**=(गाव इन्द्रियाणि) इन्द्रियों की **ऊर्वान्**=हिंसाओं को **दयन्त**=हिंसित करते हैं। काम सर्वप्रथम इन इन्द्रियों को अपना शिकार बनाता है, तभी यह 'पञ्चबाण' है। इसका एक-एक बाण एक-एक इन्द्रिय पर आक्रमण करता है। जो व्यक्ति इन्द्रियों के 'हिंसक काम को अपनी ज्ञानाग्नि से भस्म कर पाते हैं, वे ही प्रभु के प्रिय बनते हैं। जब मन्त्रार्थ 'राज' परक होता है तब अर्थ यह होता है कि 'जो गोहिंसकों के हिंसक होते हैं वे मुझे प्रिय हैं'। राजा ने **'यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसोऽवीरहा'**=गौ, अश्व व पुरुषों के हिंसकों से राष्ट्र की रक्षा करनी है।

अपने जीवन पर पूर्ण नियमन करनेवाला 'यन्ता' ही 'वसिष्ठ' है, वशियों में श्रेष्ठ व उत्तम निवासवाला है। यह 'वसिष्ठ' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ-हम 'सूरि, यन्ता, मघवा व इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले' बनकर प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः-**प्रस्कण्वः**। देवता-**अग्निः**। छन्दः-**बृहती**। स्वरः-**मध्यमः**।

स्नेह, दान, यज्ञ

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रोऽअर्यमा प्रातर्यावाणोऽअध्वरम्॥१५॥

१. हे **श्रुत्कर्ण**=ज्ञान का विकीर्ण करनेवाले (श्रुत=ज्ञान, कर्ण=विकीर्ण करना) और इस प्रकार **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **श्रुधि**=आप हमारी प्रार्थना को सुनिए। प्रभु ज्ञान को सदैव

प्रसृत कर रहे हैं। उस प्रसृत होते हुए ज्ञान को ग्रहण वही कर पाता है जिसका हृदय पवित्र होता है। इस पवित्र हृदय की प्रार्थना का स्वरूप है—२. **वह्निभिः**=(वह to carry) आप तक प्राप्त करानेवाले तथा **सयावभिः**=सदा साथ-साथ प्राप्त होनेवाले **देवैः**=देवों के साथ **बर्हिषि**=मेरे उस हृदय में, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है तथा जो (बृहि वृद्धौ) बढ़ा हुआ है, अर्थात् विशाल है, उस हृदय में **प्रातः**=प्रातः **आसीदन्तु**=आकर विराजें। कौन?—(क) **मित्रः**=स्नेह की भावना (ख) **अर्यमा**=देने की भावना (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) (ग) हृदय 'बर्हि' तब कहलाता है जब इसमें से वासनाओं को उखाड़ फेंक दिया जाए और इसे तनिक विशाल बना लिया जाए। (घ) हमारे हृदयों में सभी के लिए स्नेह हो, परन्तु वह केवल शाब्दिक न होकर आर्थिक भी हो, अर्थात् हम दुःखी की सहायता के लिए कुछ-न-कुछ दें भी। प्रातः उठते ही हमारे अन्दर यज्ञिय कार्यों को करने की प्रवृत्ति हो। ४. उल्लिखित कामना करनेवाला ही 'प्रस्कण्व'=मेधावी है। बुद्धिमान् पुरुष सदा ऐसा ही बनना चाहता है और वस्तुतः वही प्रार्थना 'श्रुत्कर्ण' प्रभु को प्रिय लगती है।

भावार्थ—हमारे हृदयों में स्नेह, दान व यज्ञोपस्थान की वृत्तियाँ हों।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अदिति, अतिथि, अविता

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामवऽआवृणानः सुमृडीको भवतु जातवेदाः॥१६॥

१. (क) गत मन्त्र में 'हम यज्ञों में जानेवाले हों', इन शब्दों से प्रार्थना समाप्त हुई थी। इन **विश्वेषाम्**=सब **यज्ञियानाम्**=यज्ञ की वृत्तिवाले व्यक्तियों का वह प्रभु **अदितिः**=खण्डन न करनेवाला=शरीर को ठीक रखनेवाला है। वस्तुतः यज्ञिय भावना पुरुष को विलास से बचाकर स्वास्थ्य का धनी बनाती है। (ख) 'अदिति' शब्द का अर्थ 'अदीना देवमाता' भी है, न गिड़गिड़ानेवाली, अर्थात् आत्मसम्मान की भावना से युक्त और दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली। यज्ञिय वृत्ति होने पर दिव्य गुण पनपते हैं। २. वे प्रभु **विश्वेषाम्**=सब **मानुषाणाम्**=मनुष्यों का हित करनेवालों के **अतिथिः**=मेहमान व प्राप्त होनेवाले हैं। प्रभुभक्त वे ही हैं जो 'सर्वभूतहिते रत' हैं। मनुष्य-मनुष्य की सहायता करता है तो प्रभु उसके हृदय में आसीन होते हैं। प्रभु को पाने का उपाय जन-सेवा भी है। ३. मानवहित में लगा हुआ व्यक्ति देव बन जाता है और **देवानाम्**=इन देवों का **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु **अवः**=रक्षण **आवृणानः** =करते हैं ४. **जातवेदाः**=वे सर्वज्ञ प्रभु 'अदिति व मानुष' के लिए **सुमृडीकः भवतु**=उत्तम सुख प्राप्त करानेवाले हों। यज्ञिय, मानुष व देव बननेवाला व्यक्ति प्रशस्तेन्द्रिय होने से 'गोतम' कहलाता है। वही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ=हम यज्ञिय बनेंगे तो प्रभु हमारे लिए 'अदिति' होंगे। हम मानुष बनें प्रभु अतिथि होंगे। हम देव बनें प्रभु हमारा रक्षण करेंगे। वे जातवेद प्रभु हमें सदा सुख देते हैं।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

निष्पापता व कल्याण

महोऽअग्नेः समिधानस्य शर्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये।
श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्देवानामवोऽअद्या वृणीमहे॥१७॥

१. **महः अग्नेः**=उस महान्, अग्निवत् प्रकाशमय, दोषों के दहन करनेवाले प्रभु के

समिधानस्य=जिसे हमने अपने हृदयान्तरिक्ष में समिद्ध किया है, **शर्मणि**=शरण में **अनागाः**=हम निष्पाप बनते हैं। जिस समय हम प्रभु को अपने हृदयों में देखते हैं तो हमारा जीवन निष्पाप हो जाता है। क्या हम प्रभु के समीप पाप करेंगे? २. **मित्रे**=स्नेह की भावना होने पर, और **वरुणे**=द्वेष का निवारण करके हम **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए होते हैं। मानवकल्याण तभी होता है जब द्वेष समाप्त हो जाए और प्रेम का प्रसार हो। ईर्ष्या-द्वेष मनुष्य के मन को जलाते रहते हैं। ३. द्वेषों से ऊपर उठकर सदा प्रेम में रहने के लिए आवश्यक है कि हम **सवितुः**=प्रेरक प्रभु की **श्रेष्ठे सवीमनि**=श्रेष्ठ प्रेरणा में **स्याम**=हों। अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे तो हम द्वेष से अवश्य दूर रहने का प्रयत्न करेंगे और सभी के साथ प्रेम से चल पाएँगे। ४. **तत्**=उस प्रेरणा को सुनने के द्वारा **देवानाम्**=देवों के **अवः**=रक्षण को **अद्य**=आज ही **वृणीमहे**=हम वरते हैं। जो प्रभु-प्रेरणा को सुनता है, वह सब वासनाओं से अपनी रक्षा कर पाता है। सब प्राकृतिक देव उसके अनुकूल होते हैं। ५. प्रभु की शरण में निष्पापता को सिद्ध करनेवाला, प्रेम व द्वेषाभाव से कल्याणी स्थितिवाला, सदा प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला और देवरक्षण का वरण करनेवाला, यह ऋषि अपने को सब वासनाओं से मुक्त करनेवाला (Loose=to release) और सद्गुणों से अपने को अलंकृत करनेवाला (लूष् to adorn) 'लुशः' नामवाला होता है और सब प्रकार से अपना धारण करनेवाला यह अपने में गुणों का आधान करता हुआ 'धानाकः' कहलाता है।

भावार्थ—हम निष्पाप बनें, कल्याण प्राप्त करें, प्रभु प्रेरणा में चलें, देवरक्षण को वरें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आप्यायन

आप॑श्चित्पिप्यु स्त॒र्यो॒ न गावो॒ नक्ष॑न्नृतं ज॑रि॒तार॑स्तऽइन्द्र।
या॒हि वा॒युर्न नि॒युतो॑ नो॒ऽअच्छा॒ त्वꣳ हि धी॒भिर्दय॑से॒ वि वाजा॑न्॥१८॥

१. जब हम देववरण करके वासनाओं को दूर भगाते हैं तब **आपः**=रेतस् (आपः रेतो भूत्वा) **चित्**=निश्चय से **पिप्युः**=हमारा आप्यायन करते हैं। वीर्यशक्ति के द्वारा रोग कम्पित करके दूर भगा दिये जाते हैं। मन में दुर्भावनाएँ उत्पन्न नहीं होती। वीर्यरक्षा से सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं, परिणामतः **गावः**=हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ **न स्तर्यः**=(Sterilize) वन्ध्या नहीं होतीं, ये उपजाऊ होती हैं। नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा इस वीर्य के द्वारा ही समिद्ध होती है। २. हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! सुरक्षित वीर्यवाले ये व्यक्ति **ते जरितारः**=तेरे स्तोता बनते हैं और **ऋतं नक्षन्**=ऋत को प्राप्त होते हैं। प्रभु-स्तवन करनेवाले व्यक्ति में सदा ऋत का अधिकाधिक पोषण होता है, सूर्य और चन्द्रमा की भाँति इसका जीवन-मार्ग बड़ा नियमित हो जाता है। ३. **वायुः न**=वायु के समान **नियुतः**=निश्चय से ऋतमय कर्मों में लगे हुए **नः अच्छ**=हमारी ओर **याहि**=प्राप्त होओ। वायु जैसे निरन्तर चल रही है, इसी प्रकार यह प्रभु का स्तोता निरन्तर कार्यों में लगा रहता है। इन निरन्तर क्रियाशील व्यक्तियों को प्रभु प्राप्त होते हैं। ४. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **धीभिः**=प्रज्ञानों व कर्मों से **वाजान्**=धनों व शक्तियों को **विदयसे**=विशेषरूप से देनेवाले होते हैं। हम प्रज्ञानों को प्राप्त करके उत्तम कर्मों में लगते हैं तो हमें धन भी प्राप्त होते हैं और शक्तियाँ भी। एवं, धनों व शक्तियों को प्राप्त करके अपने जीवन को उत्तम बनानेवाला यह उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' बनता है।

भावार्थ—हम रेतस्-रक्षा द्वारा अपना आप्यायन करनेवाले, शक्तिशाली ज्ञानेन्द्रियोंवाले, ऋत को प्राप्त, वायु की भाँति नियत कर्मों में व्याप्त, प्रज्ञानों व कर्मों से शक्ति व धनों को

प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्योतिर्मय कर्ण

गावऽउपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा। उभा कर्णा हिरण्यया॥१९॥

१. **गावः**=हे वेदवाणियो! **अवतम्**=हृदयान्तरिक्ष को, मेरी हृदयरूप गुहा को **उपावतम्**=(अव=भाग, वृद्धि) अपना भाग बनाओ—उसका सेवन करो और उसका वर्धन करो। वेदवाणियाँ हमारे हृदयों में स्फुरित हों। उनके स्फुरण से हमारे हृदय विशाल बनें। २. ये वेदवाणियाँ **मही**=महान् (पूजनीय) हैं अथवा हमारे हृदयों को महान् बनानेवाली हैं तथा **यज्ञस्य**=श्रेष्ठतम कर्मों का **रप्सुदा**=उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाली हैं। इन वेदवाणियों में यज्ञों का उपदेश दिया गया है। ३. इन वेदवाणियों से **उभा कर्णा**=हमारे दोनों कान **हिरण्यया**=ज्योतिर्मय हो उठे हैं। कानों में ज्ञान की वाणियों के प्रवेश से हमारा अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया है। इस अज्ञानान्धकार के नष्ट होने से प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि स्वार्थ-भावनाओं से ऊपर उठकर 'पुरुमीढ' बन गया है, बहुत का पालन-पोषण करनेवाला हो गया है। यह क्रियाशीलता के द्वारा सभी के सुखों को बढ़ानेवाला होने से 'अजमीढ' नामवाला बना है।

भावार्थ—हमारे हृदयों में वेदवाणी का प्रादुर्भाव हो। इन वेदवाणियों से हमारे हृदय विशाल बनें व यज्ञिय भावनावाले हों। हमारे कान सदा इन वाणियों के श्रवण से पवित्र व हितकर हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान-सूर्योदय

यदद्य सूरऽउदितेऽनागा मित्रोऽअर्यमा। सुवाति सविता भगः॥२०॥

गतमन्त्र में वेदवाणियों से दोनों कानों के ज्योतिर्मय होने का उल्लेख था। उसी से प्रस्तुत मन्त्र को प्रारम्भ करते हैं कि १. **यत्**=यदि **अद्य**=आज **सूरे उदिते**=इस ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर मैं **अनागाः**=निष्पाप बनता हूँ, **मित्रः**=सबके साथ स्नेह की भावनावाला होता हूँ और **अर्यमा**=केवल शाब्दिक सहानुभूति न करके कुछ देनेवाला बनता हूँ (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) तो **सविता**=वह सब ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु **भगः सुवाति**=धन को मेरी ओर प्रेरित करता है, सब सुन्दर व भजनीय वस्तुओं को मुझे देता है। २. वेदवाणियों के सुनने से मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य उदय होता है। जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस ज्ञानसूर्य के उदय होने पर मानस पटल से सब मालिन्यरूप अन्धकार भाग जाता है और वह मन अत्यन्त पवित्र हो जाता है। मन की पवित्रता मनुष्य को निष्पाप बना देती है (अनागाः)। ३. यह पाप-भावना से शून्य हृदय सबके प्रति स्नेहवाला होता है (मित्रः) इसमें किसी के प्रति द्वेष की भावना नहीं रहती। दुःखी व्यक्ति के साथ इस व्यक्ति की सहानुभूति केवल शाब्दिक नहीं होती। यह सहायतार्थ कुछ-न-कुछ देता ही है (अर्यमा)। इसकी सहानुभूति यथार्थ होती है। ४. सबकी सहायता के लिए धन का विनियोग करना होता है, अतः प्रभु इसको योग्य अधिकारी समझकर धन प्राप्त कराते हैं (सुवाति)। सब धन तो उस प्रभु का है, हमें तो उसका ठीक विनियोग करना होता है। करते हैं, तो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं। यह धनादि के लोभ में न फँसनेवाला व्यक्ति ही उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' कहलाता है।

भावार्थ—ज्ञान-सूर्योदय से हम निष्पाप, स्नेहमय व दातृत्व की भावनावाले बनकर प्रभु से दीयमान भग के पात्र बनें।

ऋषिः—**सुनीतिः**। देवता—**वेनः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वियोग-संयोग

आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम्। रसा दधीत वृषभम्॥२१॥

गतमन्त्र में भावना थी कि दो और पाओ। दोगे, प्रभु तुम्हें देंगे। वही भावना प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कही जा रही है कि **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में ऐश्वर्य का लाभ होने पर **श्रियम्**=इस श्री को **आसिञ्चत** =चारों ओर सिक्त करो। यह अपने जीवन को विलासमय बनाने के लिए तुम्हें नहीं दी गई, यह प्रभु से लोकहित के लिए दी गई है। इस सम्पत्ति के दान द्वारा तुम **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी में, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् में **अभिश्रियम्**=दोनों ओर—जीवनकाल में भी और मृत्यु के बाद भी (अभि) श्री को, शोभा को, **सिञ्चत**=सिक्त करो। **'जुहोत प्र च तिष्ठत'**=दो और प्रतिष्ठा पाओ, यह प्रभु स्पष्ट कह रहे हैं। मनुष्य श्री=धन का क्या सेचन करता है उसकी श्री=शोभा का ही सर्वत्र सेचन हो जाता है। अथवा द्युलोक व पृथिवीलोक में इस दान देनेवाले के लिए सर्वत्र धन की वर्षा होने लगती है। धन का त्याग करने से इसे और अधिक धन प्राप्त होता है।

३. धन-त्याग में एक अद्भुत आनन्द है। मनुष्य प्रकृति को छोड़ता है और प्रभु को पाता है। **रसाः** =हे आनन्द प्राप्त जीवो! तुम **वृषभम्**=उस शक्तिशाली व सब सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभु का **दधीत**=धारण करो। प्रभु को अपनाने की नीति को अपनानेवाला 'सुनीति' है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—धन का दान देनेवाला व्यक्ति सर्वत्र यश प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मैं को विस्तृत करना—विश्वरूप बनना

आतिष्ठन्तं परि विश्वेऽअभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत्तद् वृष्णोऽअसुरस्य नामा विश्वरूपोऽअमृतानि तस्थौ॥२२॥

१. **आतिष्ठन्तम्**=जो केवल अपने में स्थित न होकर सबमें स्थित है (one who is not self-centred), उस सबमें—विश्व में 'मैं' की भावना करनेवाले को, **विश्वे**=सब दिव्य गुण **परि अभूषन्**=समन्तात् अलंकृत करते हैं। स्वार्थ ही मनुष्य को 'असुर'=राक्षस बना देता है। **'स्वेषु आस्येषु जुह्वतश्चेरुः'**=ये अपने ही मुख में आहुति देने लगता है तो असुर बन जाता है। स्वार्थत्याग से दुर्गुणों का त्याग होता है और यह परार्थ में रत व्यक्ति दिव्य गुणों से सुभूषित हो जाता है। २. दिव्य गुणों से सुभूषित होकर यह **श्रियः वसानः**=श्री का धारण करनेवाला बनता है, इसका जीवन श्रीसम्पन्न होता है। पिछले मन्त्रों में यही तो कहा था कि यह अपनी श्री का दान करनेवाला बनता है तो इसके लिए द्युलोक व पृथिवीलोक श्रीसम्पन्न हो जाते हैं। ३. श्रीसम्पन्न बनकर यह आराम में नहीं फँस जाता। यह **चरति**=गतिशील होता है। इसका जीवन सदा पुरुषार्थमय बना रहता है। वस्तुतः पुरुषार्थ ने ही इसे श्रीसम्पन्न बनाया था। ४. **स्वरोचिः**=इस पुरुषार्थी व परार्थी पुरुष का जीवन स्व=आत्मा की रोचिः=कान्तिवाला होता है। इसे आत्मतेज प्राप्त होता है अथवा इसकी शोभा अपने जीवन (स्व) से ही होती है, यह अपने बन्धुओं व किन्हीं अन्य सम्बन्धों के कारण यशस्वी हो,

ऐसी बात नहीं होती। ४. इस **वृष्णः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले **असुरस्य**=प्राणसाधना के द्वारा (असवः प्राणाः) सब वासनाओं को दूर फेंकनेवाले (असु क्षेपणे) इस विश्वरूप बननेवाले का **तत् नाम**=यह यश **महत्**=महान् होता है। संसार में यह यश प्राप्त करता है। उस यश का यदि इसे कोई गर्व नहीं होता तो ५. **विश्वरूपः**=सारे संसार को ही 'मैं' के रूप में देखनेवाला 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनावाला यह **अमृतानि**=मोक्षसुखों में **आतस्थौ**=विराजमान होता है। आत्मा की दृष्टि से तो सब अमर हैं, यह बारम्बार जन्म न लेने से वस्तुतः ही अमर हो जाता है। सभी के साथ प्रेम करने के कारण यह इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है।

भावार्थ—हम अपनी 'मैं' को विस्तृत करके विश्वरूप बनें और परिणामतः अमर हो जाएँ।

ऋषिः—**सुचीकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विश्वरूप प्रभु की उपासना

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑माना॒यान्ध॑सो॒ऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय विश्वा॒भुवे॑।
इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒ सुम॑खं॒ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्यतः॑ ॥२३॥

१. गतमन्त्र का विषय 'विश्वरूप' बनना था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि विश्वरूप बनने के लिए उस विश्वरूप प्रभु की उपासना करो। **वः**=तुम्हारे **महे**=महनीय, पूजनीय व महस्=शक्ति देनेवाले **मन्दमानाय**=अत्यन्त आनन्दस्वरूप **विश्वानराय**=सब मनुष्यों के स्वामी (विश्वे नरा यस्य)=किसी व्यक्ति व जातिविशेष से प्रेम न करनेवाले **विश्वाभुवे**=सम्पूर्ण विश्व में चारों ओर व्याप्त उस प्रभु के लिए **अन्धसः** =सोम के द्वारा, सोम के रक्षण से **प्र अर्च**=खूब अर्चना करो। २. वे प्रभु (क) शक्ति देनेवाले हैं (ख) आनन्दमय होने से आनन्द प्राप्त करानेवाले हैं (ग) सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं (घ) सबमें व्याप्त होकर रह रहे हैं। इस प्रभु की उपासना से ही मनुष्य भी विश्वरूप बनता है। उपासना का साधन यह है कि हम प्रभु से दी गई सर्वोत्तम वस्तु सोम की रक्षा करें। इसकी रक्षा ही ब्रह्मचर्य है—'ब्रह्म की ओर चलना' है। ३. उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु की तू उपासना कर **यस्य**=जिसके **सुमखम्**=उत्तम यज्ञ—सृष्टिरूप यज्ञ को **सहः**=सहनशीलता को **महिश्रवः**=महनीय ज्ञान को **नृम्णम् च**=और बल को **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **सपर्य्यतः**=पूज रहे हैं। ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी, आकाश को आच्छादित करनेवाले तारे उस प्रभु का ही स्तवन करते हैं। भक्त जीव भी अनुभव करते हैं कि वे प्रभु कितने सहनशील हैं और किस प्रकार उसके हृदय को ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित कर रहे हैं। एवं, सारा प्राकृतिक जगत् व सम्पूर्ण चेतन जगत् प्रभु की ही महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। इस विश्वरूप प्रभु की उपासना से उपासक भी 'विश्वरूप' बनता है और सभी के साथ प्रेम से वर्तता हुआ 'सुचीक'=प्रभु का उत्तम सम्पर्क करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम विश्वरूप प्रभु की उपासना करें और स्वयं विश्वरूप बनकर अमरता का लाभ करें।

ऋषिः—**त्रिशोकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

जिनके प्रभु मित्र हैं

बृ॒हन्नि॒दि॒ध्मऽए॑षां॒ भूरि॑ श॒स्तं पृ॒थुः स्वरुः॑। येषा॒मिन्द्रो॒ युवा॒ सखा॑ ॥२४॥

१. **येषाम्**=जिनके **युवा**=दुरितों से दूर करके (यु=अमिश्रण) भद्रों से सम्पृक्त करानेवाले (यु=मिश्रण) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **सखा**=मित्र होते हैं **एषाम्**=इनकी **इध्मः**=ज्ञानदीप्ति **इत्**=निश्चय से **बृहत्**=बहुत अधिक बढ़ी हुई होती है। प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं, प्रभु का मित्र भी इस ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठता है। प्रभु अग्नि हैं, उनका उपासक जीव भी अग्नितुल्य होकर दीप्त हो उठता है। २. इन प्रभु-सखाओं का **भूरिशस्तम्**=कर्म अत्यधिक प्रशस्त होता है। 'भृ=धारणपोषण', इनके कर्म सदा धारण- पोषणात्मक होते हैं। निर्माण के कार्यों में लगे रहने से इनकी सर्वत्र प्रशंसा होती है। ये हित करते हैं, लोक इनका गुणगान करता है। ३. इस प्रकार सदा लोकहित में लगे हुए इन लोगों का **स्वरुः**=त्याग (Sacrifice) **पृथुः**=अत्यन्त विशाल होता है। ये विश्वरूप होने से सारे विश्व के लिए त्याग करते हैं। ४. इस प्रकार ज्ञान से इसका मस्तिष्क उज्ज्वल हुआ है, कर्मों से हाथ पवित्र हो उठे हैं और त्याग ने इसके हृदय को चमका दिया है, वहाँ स्वार्थ का मालिन्य नहीं है, अतः मस्तिष्क, हाथ व हृदय—तीनों को दीप्त करके यह 'त्रिशोक' इस अन्वर्थ नामवाला हो गया है।

भावार्थ—ज्ञान से हमारा मस्तिष्क दीप्त हो, पोषक कर्म हमारे हाथों को प्रशस्त करें और त्याग का भाव हमारे हृदयों को निष्कलंक बनाये।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सोम से सोम की प्राप्ति

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ२॥ऽअभिष्टिरोजसा ॥२५॥

प्रभु जीव को उपदेश देते हैं कि १. **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **इहि**=क्रियाशील बन और **अन्धसः**=सोम से, शरीर में सुरक्षित वीर्यशक्ति से **मत्सि**=आनन्द का अनुभव कर। वीर्यरक्षा के लिए यहाँ दो साधनों की सूचना हुई है (क) एक, इन्द्रियों को वश में करना। उपस्थ के संयम के लिए जिह्वा का संयम आवश्यक है। (ख) दूसरा, क्रिया में लगे रहना। ऐसे जितेन्द्रिय, क्रियाशील लोग ही सोम का पान कर पाते हैं। २. इन **विश्वेभिः**=सब **सोमपर्वभिः**=सोम के पूरणों से हे जीव! तू **महान्**=बड़ा बन 'मह पूजायाम्'। तू प्रभु की पूजा करनेवाला हो। ३. **अभिष्टिः**=इस सुरक्षित सोम के द्वारा **ओजसा**=शक्ति से शरीर में रोगों पर आक्रमण करनेवाला हो। 'वीर्य' का तो अर्थ ही 'वि ईर'=विशेष रूप से कम्पित करनेवाला है। यह 'रोगों' का सर्वोत्तम औषध है। ४. वीर्य की रक्षा करनेवाले के हृदय में अशुभ भावनाएँ कभी नहीं जागती। यह सदा सभी की शुभकामना करता हुआ मधुर इच्छाओंवाला सचमुच 'मधुच्छन्दा' कहलाने के योग्य है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्यवाला व्यक्ति सदा प्रफुल्लित वदन (Smiling face) होता है, यह महान् बनता है, इसका दिल छोटा नहीं होता तथा साथ ही यह प्रभु का पुजारी होता है और शक्ति से रोगों पर आक्रमण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

राजा के कर्तव्य

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्द्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः।
अहन् व्यꣳसमुशधग्वनेष्वाविर्धेनाऽअकृणोद्राम्याणाम्॥२६॥

१. राजनीति में उन्नति के विघातक तत्त्वों को 'वृत्र' कहते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश

को रोकने से **बादल** 'वृत्र' है, जिस प्रकार ज्ञान पर पर्दा डालने से **वासना** 'वृत्र' है, उसी प्रकार राष्ट्र की उन्नति में रुकावट डालनेवाले तत्त्व 'वृत्र' कहलाते हैं। जातीय विद्वेष फैलाकर उन्नति को रोकनेवाले साम्प्रदायिक Communalists 'वृत्र' हैं। **शर्धनीतिः**=शक्तिशाली नीतिवाला **इन्द्रः**=राजा **वृत्रम्**=इस उन्नति-विघातक तत्त्व को **अवृणोत्**=रोकता है। वस्तुतः साम्प्रदायिकता बढ़ने से राष्ट्र का अस्तित्व ख़तरे में पड़ जाता है, अतः राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए राजा को शक्तिशाली नीतिवाला बनना चाहिए। ढिल-मिल नीतिवाला शासन नहीं कर सकता। राजा के मौलिक गुण 'शौर्य तेजः' हैं। २. **वर्पणीतिः**=(वर्प=praise) प्रशंसनीय नीतिवाला राजा **मायिनाम्**=जादूगरों के तमाशे आदि कार्यों को **प्र अमिनात्**=बहुत कम कर देता है, क्योंकि ये तमाशे लोगों की उत्पादक शक्ति को या उत्पादक घण्टों को कम कर देते हैं और लोगों की जेबों पर बोझ बनते हैं। ३. **व्यंसम्**=धोखेबाजों को राजा **अहन्**=वध दण्ड देता है, चूँकि समाज के ये सबसे बड़े अभिशाप होते हैं। ४. **उशधक्**=(उश+धक्=वश्-दह) दूसरों की सम्पत्ति की कामना करनेवालों को यह जला देता है। चोर-डाकूओं को तो राजा ने समाप्त करना ही है। इनके कारण औरों का धन ही नहीं जीवन भी असुरक्षित हो जाता है। ५. उन्नति के विघातक तत्त्वों को समाप्त कर राष्ट्र में **वनेषु**=ज्ञान की किरणों के निमित्त **राम्याणाम्**=ज्ञान के प्रचार से लोगों को आनन्दित करनेवालों की **धेनाः**=वाणियों को **आविः अकृणोत्**=प्रकट करता है, अर्थात् प्रेमपूर्वक प्रचार करनेवाले लोगों के द्वारा राष्ट्र में ज्ञान-प्रसार करता है। ६. यह राजा प्रजामात्र का मित्र होता है, अतः 'विश्वामित्र' कहलाता है।

भावार्थ—राजा के पाँच कर्तव्य हैं। इन कर्तव्यों का पालन करनेवाला राजा ही राजा कहलाने के योग्य होता है।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

राजा स्वच्छन्द नहीं

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं तऽइत्था।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत्तेऽअस्मे॥२७॥

१. राजा कितना भी अच्छा हो, उसे पूर्ण स्वच्छन्दता प्राप्त नहीं। उसे मन्त्रियों से विचार करके ही कार्य करना चाहिए। **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक! **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली राजन्! **माहिनः सन्**=पूज्य होता हुआ या शक्तिशाली mighty होता हुआ भी **त्वम्**=तू **कुतः**=क्यों **एकः यासि**=अकेला चलता है, अर्थात् जो मन में आता है वही कर देता है, मन्त्रियों से विचार नहीं करता। **ते**=तेरा **इत्था**=इस प्रकार चलना **किम्**=कुत्सित है। (स किं सखा=वह कुत्सित मित्र है)। २. **समराणः**=उत्तम गति करता हुआ तू **शुभानैः**=शुभ चाहनेवाले मन्त्रियों से **संपृच्छसे**=जिज्ञासा किया कर, इस प्रकार दोषों की सम्भावना कम हो जाती है। ३. हे **हरिवः**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाले राजन्! **यत्**=जो **ते**=तेरा विषय **अस्मे**=हममें निहित है **तत्**=उसे **नः**=हमें **वोचेः**=कहिए। जो विषय जिस-जिस मन्त्री का हो उसकी चर्चा उस-उस मन्त्री से करनी ही चाहिए। ४. उल्लिखत प्रकार से चलनेवाला राजा ही 'अगस्त्य'=पाप का संहार करनेवाला बनता है।

भावार्थ—राजा को कभी स्वच्छन्द न होना चाहिए। मन्त्रीपरिषद् से सलाह करके ही कार्य करना चाहिए।

ऋषिः—**गौरीवीतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

जितेन्द्रियता व वेद-दोहन

आ तत्तऽइन्द्रायवः पनन्ताभि यऽऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान्।
सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीᳬं सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन्॥२८॥

'इन्द्र' शब्द का अर्थ राजा भी होता है, तो प्रसंगवश २६ व २७वें मन्त्र में राजा का उल्लेख करके फिर आत्मा के विषय में कहते हैं कि १. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्, परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आयवः**=गतिशील **ते**=वे मनुष्य **तत्**=तेरा **आपनन्त**=सर्वथा स्तवन करते हैं **ये**=जो **गोमन्तं ऊर्वम्**=इस इन्द्रियों के समूह को **अभि**=लक्ष्य करके **तितृत्सान्**=हिंसित करते हैं, अर्थात् जो इन्द्रियों को मार लेते हैं, वश में कर लेते हैं। इन्द्रियों को जीतना और प्रभु का स्तवन करना, इन दोनों बातों में भेद नहीं है। प्रभु इन्द्र हैं, हम भी इन्द्र=जितेन्द्रिय बनकर उस इन्द्र का स्तवन कर पाएँगे। २. हे प्रभो! आपकी स्तुति वे करते है जो **बृहतीम्**=वेदवाणी को, सर्वप्रकार की उन्नतियों के साधनभूत वेद को **दुदुक्षन्**=दोहते हैं। किस वेदवाणी को? (क) **सकृत्स्वम्**=एक ही बार जन्म देनेवाली को, या दूसरे शब्दों में पुर्नजन्म को रोकनेवाली को। इस वेदवाणी से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य बार-बार के जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। (ख) **पुरुपुत्राम्**=यह वेदवाणी पालन व पूरण के द्वारा (पृ) पवित्र करती है (पूः) और इस प्रकार मनुष्य की रक्षा करनेवाली होती है (त्र)। (ग) **महीम्**=यह महनीय है। इसका अध्येता भी महान् हो जाता है। (घ) **सहस्त्रधाराम्**=सहस्त्रों प्रकार से धारण करनेवाली है। सब प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान देकर यह हमारा धारण करती है। इस वाणी के अध्ययन से 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु व कीर्ति-सभी कुछ जीव को मिलता है। ३. इस वेद का दोहन करनेवाले को 'गौरीवीति'= सात्त्विक भोजनवाला तो होना ही चाहिए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'जितेन्द्रियता' व 'वेद-दोहन' से हुआ करती है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

वेदवाणी का भरण

इमां ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्तऽआनजे।
तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु॥२९॥

१. हे **महः**=महान् प्रभो! **इमाम्**=इस **ते**=तेरी **महीम्**=महिमा को प्राप्त करानेवाली **धियम्**=बुद्धि को, प्रज्ञा व कर्मों की प्रतिपादक वेदवाणी को **प्रभरे**=मैं प्रकर्षेण अपने में भरता हूँ। गतमन्त्र में इस वेदवाणी के दोहन का उल्लेख हुआ था। 'दोहन' के स्थान में प्रस्तुत मन्त्र में 'भरण' शब्द आया है। बात एक ही है। दोहन प्रपूरण ही तो है (दुह प्रपूरणे)। २. **अस्य स्तोत्रे**=इस प्रभु के स्तोता के लिए **यत्**=जब **ते धिषणा**=तेरी बुद्धि **आनजे**=प्राप्त होती है। वेदवाणी को अपने अन्दर भरने का प्रथम परिणाम यह है कि प्रभु की वेदप्रतिपादित बुद्धि प्राप्त होती है। ३. **तम्**=उस **उत्सवे**=खुशी में **प्रसवे च**=और पीड़ा में भी **सासहिम्**=सहनेवाले, मन के स्वास्थ्य को न खोनेवाले **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **देवासः**=सब देव **शवसा**=शक्ति से **अनु**=निश्चय **अमदन्**=हर्षित करते हैं। इस अर्थ में निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—वेदवाणी के दोहन से प्रभु की दी गई 'धी' को अपने में भरने से (क) मनुष्य की बुद्धि का विकास होता है, (ख) सुख-दुःख में यह सम रहता

है, (ग) जितेन्द्रिय बनता है, (घ) देव इसके अनुकूल होते हैं, (ङ) इसे शक्ति प्राप्त होती है, (च) और इसका जीवन आनन्दमय होता है। ५. इस प्रकार वेदवाणी के दोहन से सब बुराइयों को समाप्त करनेवाला यह 'कुत्स' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि सचमुच कुत्स बनता है। (कुथ हिंसायाम्)।

भावार्थ—मैं वेदवाणी को अपने अन्दर भरनेवाला बनूँ, जिससे सम-दु:ख-सुख बनकर आनन्दमय जीवनवाला हो सकूँ।

ऋषि:—**विभ्राट्**। देवता—**सूर्य:**। छन्द:—**विराड्जगती**। स्वर:—**निषाद:**॥

ज्ञान-सूर्य

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम्।
वातजूतो योऽअभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति॥३०॥

१. पिछले मन्त्र में वेदवाणी को अपने में भरने का वर्णन था। यह पुरुष **विभ्राट्**=विशिष्ट ज्ञान की दीप्ति से चमकता है (वि-भ्राज्) और इसका हृदय **बृहत्**=विशाल बनता है। 'विज्ञानमयकोश ज्ञान से जगमगाता हो और मनोमयकोश राग-द्वेष से ऊपर उठकर विशाल बन गया हो' तो वह जीवन कितना सुन्दर होगा! २. इन दोनों कार्यों के लिए यह **सोम्यम् मधु**=सोम-वीर्यरूप मधुरतम वस्तु का **पिबतु**=पान करे। इस सोम की रक्षा से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हृदय संकुचित भावनाओं से ऊपर उठता है। यह ज्ञान के सूर्य से चमकनेवाला विशाल हृदय पुरुष ३. **आयु:**=अपने सम्पूर्ण जीवन को, जिसको इसने **'अविह्रुतम्'**=अकुटिल बनाया है **यज्ञपतौ**=यज्ञों के पति प्रभु में **दधत्**=धारण करता है। अपने सम्पूर्ण जीवन को प्रभु-अर्पण करता है। जब हम इस समर्पण की भावना से चलेंगे तब जीवन को अधिक-से-अधिक सरल बनाएँगे ही। **'आर्जवं ब्रह्मण: पदम्'** सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। ४. समर्पण के लिए यह **वातजूत:**=वायु से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ, वायु की भाँति सरलता से कार्य करता है, वायु की भाँति औरों को जीवन देनेवाला होता है। शरीर में वायु के पुञ्ज प्राणों की साधना करता हुआ **य:**=यह **त्मना**=स्वयं **अभिरक्षति**=चारों ओर से अपनी रक्षा करता है, अर्थात् वासनाओं से अपने को बचाता है। प्राणसाधना से सब इन्द्रिय-दोषों का दहन हो जाता है। ५. यह **प्रजा: पुपोष**=उत्तम सन्तानों का पोषण करता है अथवा प्रजाओं का पालन करता है और **पुरुधा**=बहुत प्रकार से **विराजति**=विशेषरूप से चमकता है। (क) ज्ञान के सूर्य से चमकता हो (विभ्राट्), (ख) मन की विशालता से शोभायमान हो (बृहत्), (ग) सोम्य मधु का पानकर यह नीरोग बनकर स्वास्थ्य की ज्योति से चमकता है। (घ) प्रभु के प्रति समर्पण से यह निराभिमानता के कारण सुशोभित हुआ, (ङ) प्राणसाधना से वासनाओं पर विजय से यह अलंकृत हुआ। (च) प्रजाओं के पोषण के कारण यह यश से उज्ज्वल हो उठा! एवं, सतत् उज्ज्वल होकर यह सचमुच 'विराट्' इस अन्वर्थक नामवाला बना।

भावार्थ—हम 'विराट्'=सर्वत्र दीप्तिवाले बनें।

ऋषि:—**प्रस्कण्व:**। देवता—**सूर्य:**। छन्द:—**निचृद्गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**॥

विश्व-दर्शन

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥३१॥

पिछले मन्त्र का 'विराट्' यहाँ 'प्रस्कण्व' 'अत्यन्त मेधावी' इस नाम से कहा गया है।

यह १. **उत्**=निश्चय से प्रकृति से ऊपर उठता है। उत्=out। यह प्रकृति के अन्दर उलझा नहीं रहता। २. प्रकृति से ऊपर उठकर **केतवः**=ये ज्ञानी लोग **त्यम्**=उस अव्यक्त प्रभु को जो **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ व सर्वव्यापक (जाते विद्यते) हैं तथा **देवम्**=दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं और **सूर्यम्**=सदा हृदयस्थरूपेण उत्तम कर्मों की प्रेरणा दे रहे हैं (सुवति), उस प्रभु को ये विराट् व प्रस्कण्व लोग **वहन्ति**=धारण करते हैं। जैसे शरीर में प्राणों के संयम से ज्ञान-सूर्य का उदय होता है, जैसे सूर्य में मन का संयम करने से सम्पूर्ण भुवन का ज्ञान होता है, उसी प्रकार उस सूर्यरूप प्रभु का धारण करने से सम्पूर्ण देवों का ज्ञान हुआ करता है। २. **दृशे विश्वाय**=सम्पूर्ण विश्व का दर्शन करने के लिए ये ज्ञानी लोग प्रभु का धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु के ज्ञान में सब विज्ञान समा जाते हैं।

भावार्थ—हम प्रकृति से ऊपर उठें, प्रभु को धारण करें, जिससे विश्व का दर्शन कर पाएँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

भुरण्यन् जन

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ२॥ऽअनु। त्वं वरुण पश्यसि॥३२॥

१. प्रभु **पावक**=पवित्र करनेवाले हैं। गतमन्त्र में ब्रह्मज्ञान का उल्लेख था। यह ब्रह्मज्ञान मनुष्य के जीवन को पवित्र करता है। ब्रह्मदर्शन करने पर पाप सम्भव ही नहीं। पापों को दूर करके वे प्रभु अपने सखा जीव के जीवन को सुन्दर बनाते हैं, प्रभु वरुण हैं, क्योंकि द्वेषादि बुराइयों का वारण करके वे हमें पवित्र व श्रेष्ठ बनाते हैं। हे प्रभो! **येन चक्षसा**=जिस ज्ञान के द्वारा आप हमें पवित्र व श्रेष्ठ बनाते हैं, वह ज्ञान हमें प्राप्त कराइए। २. **भुरण्यन्तं जनान्**=इन औरों का भरण करनेवाले लोगों का हे **वरुण**=श्रेष्ठ व शरणीय प्रभो! **त्वम्**=आप **अनुपश्यसि**=पालन व पोषण Look after करते हो। मनुष्य साथी प्राणियों का ध्यान करता है तो प्रभु उस मनुष्य का ध्यान करते हैं। ३. मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व=अत्यन्त बुद्धिमान् है। वह वेद में आदिष्ट प्रभु की आज्ञाओं का पालन करता हुआ यज्ञमय जीवन बिताता है। (क) ज्ञान प्राप्त करता है (ख) अन्यों का भरण-पोषण करता है। (ग) द्वेष का निवारण करता है। इन सब बातों के परिणामस्वरूप प्रभु उसका ध्यान करते हैं।

भावार्थ—ज्ञान से हम अपने जीवन को पवित्र करें, लोकधारण करनेवाले बनें। तब वह प्रभु हमारा उसी प्रकार धारण व ध्यान करेंगे जैसे माता पुत्र का।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

उपाय-चतुष्टय

दैव्यावध्वर्यूऽआ गतꣳ रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे॥३३॥

पिछले मन्त्र में प्रस्कण्व ने प्रभु से प्रार्थना की है कि हे प्रभो! आप मेरा ध्यान कीजिए। प्रभु उसे कहते हैं कि १. **दैव्यौ**=तुम दोनों पति-पत्नी दिव्य गुणोंवाले बने हो। यहाँ द्विवचन से यह भी संकेत है कि मनुष्य ने अकेले ही मुक्त नहीं होना, पति-पत्नी दोनों ने ही सम्मिलित रूप से अच्छा बनने का प्रयत्न करना है। २. **अध्वर्यू**=तुम दोनों (अध्वर-यु) अहिंसात्मक यज्ञों से अपने को जोड़नेवाले बनो। तुम्हारा जीवन यज्ञमय हो। तुम्हारा कोई कार्य किसी की हिंसा का कारण न बने। ३. **सूर्यत्वचा रथेन**=सूर्य के समान त्वचावाले

इस शरीररूप रथ से **आगतम्**=तुम मेरे समीप आओ। यदि शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है तो इस रथ की आवरणभूत त्वचा सूर्य के समान चमकने लगती है। प्रभु-प्राप्ति के लिए जहाँ (क) दिव्यता (ख) यज्ञमयता आवश्यक हैं, वहाँ (ग) शरीर का स्वास्थ्य भी अत्यन्त आवश्यक है। ४. स्वस्थ शरीर के साथ माधुर्य भी अनिवार्य है। **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=यज्ञात्मक विष्णु को **समञ्जाथे**=तुम प्राप्त होओ (अञ्ज्=गति)। हमें दिव्य, अहिंसक, स्वस्थ बनकर पूर्ण मधुर बनना है, 'भूयासं मधुसंदृशः'=मैं मधु-जैसा ही हो जाऊँ।

सामान्यतः मनुष्य बाहर भागता रहता है, कोई विरला धीर पुरुष ही उस परमात्मा का वरण करता है। यह प्रभु का वरण करनेवाला ही 'वेन'=मेधावी है। इस वृत्ति के पति-पत्नी (क) दिव्य गुणों को अपनाने का प्रयत्न करते हैं (ख) अहिंसात्मक कर्मों में लगे रहते हैं, (ग) स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करके अपने शरीर-रथ को सूर्यत्वच बनाते हैं और (घ) अत्यन्त मधुर व्यवहारवाले होते हैं।

भावार्थ—दिव्यता, अहिंसा, स्वास्थ्य व माधुर्य—मनुष्य को प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञानयज्ञों का प्रस्ताव

आ नऽइडाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देवऽएतु।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्वं जगदभिपित्वे मनीषा॥३४॥

१. **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **इडाभिः**=वाणियों के द्वारा **सुशस्ति**=(सप्तमी का लुक्) उत्तम शंसन होने पर **विश्वानरः**=सबको उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाला **सविता**=सबका प्रेरक **देवः**=देव **नः**=हमें **आ** =सर्वथा **एतु**=प्राप्त हो। यदि हम घरों में ज्ञानयज्ञों की परिपाटी डालें, सब घरवाले उपस्थित होकर धर्मग्रन्थों का पाठ करें तो यह पाठ हमारी प्रवृत्ति को अवश्य प्रभु-प्रवण करेगा। २. इसका परिणाम **अपि**=यह भी होगा कि **नः युवानः**=हमारे नौजवान, तरुण **मत्सथा**=मत्त नहीं हो जाते। छोटी उमर में वासना का वेग होता ही नहीं, वृद्धावस्था में वह शान्तप्राय हो जाता है, यौवन ही क्षोभ की अवस्था है। इस ज्ञानयज्ञ के निरन्तर चलने से यौवन में भी जीवन-समुद्र क्षुब्ध न होकर शान्त रहता है। इस ज्ञानयज्ञ के होने पर ३. **विश्वं जगत् अभिपित्वे**=सम्पूर्ण जगत् की प्राप्ति में हम **मनीषा**=बुद्धि से चलते हैं। हमारी प्रत्येक वस्तु के लिए एक बुद्धिपूर्वक पहुँच wise approach होती है। हम किसी भी कार्य में नासमझी से प्रवृत्त नहीं होते। इसी का परिणाम होता है कि हम पापों में नहीं फँसते। यह पापों में न फँसनेवाला व्यक्ति ही 'अगस्त्य' है।

भावार्थ—हम अपने घर के सदस्यों को ज्ञानयज्ञों में प्रवृत्त करें और उनमें प्रभु की, ऋषियों की वाणियाँ पढ़ें तो हमारा झुकाव १. प्रभु की ओर रहेगा २. जीवन में मद न हो पाएगा तथा ३. प्रत्येक स्थिति में हम समझ से चलेंगे।

ऋषिः—**श्रुतकक्षसुकक्षौ**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रबल इच्छा

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगाऽअभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे॥३५॥

१. प्रभु ज्ञानयज्ञों का विस्तार करनेवालों से कहते हैं कि हे **वृत्रहन्**=वासना को नष्ट करनेवाले **सूर्य**=ज्ञान-सूर्य के समान चमकनेवाले! तू **यत्**=जो **अद्य**=आज **कत् च**=या कभी

भी, जब भी **उत्**=प्रकृति से ऊपर उठकर मेरी=प्रभु की ओर चल सकता है। इच्छा होनी चाहिए, इच्छा होने पर रास्ता निकल आता है। प्रकृति से ऊपर उठना कठिन है, परन्तु सकंल्प कर लेने पर कुछ कठिन नहीं रह जाता। क्रम यह है १. संकल्प २. ज्ञान-प्राप्ति, ज्ञान के सूर्य का उदय ३. वासना का विनाश ४. प्रभु की ओर चलना व प्रभु को पाना। २. मन्त्रार्थ इस रूप में भी ठीक है–हे वासनाओं को नष्ट करनेवाले! ज्ञान से सूर्य के समान चमकनेवाले इन्द्र! आज या कल जब भी तू प्रकृति से ऊपर उठकर मेरी ओर आता है **तत्**=तब **सर्वम्**=सब **ते वश**=तेरे वश में हो जाता है। जिसने प्रभु को पा लिया, उसने सभी कुछ पा लिया।

ज्ञान-विज्ञान के सूर्य को अपने में उदित करनेवाले 'श्रुतकक्ष व सुकक्ष' प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हैं। यह ज्ञान को ही अपनी शरण समझते है, श्रुत ही कक्ष है और यह ज्ञानरूप शरण कितनी उत्तम है? इसी से यह सुकक्ष है।

भावार्थ–हम अपनी इच्छा ज्ञानप्राप्ति की बनाएँ, उससे वासना का विनाश करके प्रभु की ओर चलें और प्रभु को पाकर ब्रह्माण्ड को वश में करनेवाले हों।

ऋषिः–**प्रस्कण्वः**। देवता–**सूर्यः**। छन्दः–**निचृद्गायत्री**। स्वरः–**षड्जः**॥

प्रभु का आदेश

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनम्॥३६॥

१. गतमन्त्र में 'वृत्रहन्' व 'सूर्य' से प्रभु कहते हैं कि ब्रह्माण्ड तेरे वश में हो गया, दूसरे शब्दों में तूने सब-कुछ पा लिया, तूने अपने जीवन की साधना कर ली, परन्तु इतने से तू अपने को कृतकृत्य न समझ लेना। अपने आप सब-कुछ पाकर अब तूने–(क) **तरणिः**=नाव बनना है। नाव स्वयं तो पानी में डूबती ही नहीं, औरों को भी डूबने से बचाती है, तूने भी इसी प्रकार औरों को तारना है। अपने आप तर जाने में ही साफल्य नहीं है। (ख) **विश्वदर्शतः**=तूने सबको देखनेवाला बनना है, केवल अपने को नहीं। मोक्ष भी केवल अपने लिए नहीं चाहना। (ग) सभी को मोक्षमार्ग पर ले-जाने के विचार से हे **सूर्य**=स्वयं ज्ञानसूर्य के समान चमकनेवाले! तू **ज्योतिष्कृत् असि**=ज्योति को फैलानेवाला है। तू ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ज्ञान के प्रकाश को विकीर्ण करता है (घ) इस ज्ञान के विकिरण से तू **विश्वम् आभासि**=सारे संसार को सब ओर से दीप्त करता है। इस ज्ञान-विकिरण की क्रिया में तू **रोचनम्**=बड़ी रोचकता से कार्य करता है। तू ज्ञान के प्रचार में मधुर, श्लक्षण वाणी का प्रयोग करता है।

भावार्थ–हम तरणि बनें, नाव वही ठीक जो स्वयं नहीं डूबती और परिणामतः औरों को तराने का कारण बनती है।

ऋषिः–**कुत्सः**। देवता–**सूर्यः**। छन्दः–**त्रिष्टुप्**। स्वरः–**धैवतः**॥

उपसंहार=Retirement

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तोर्विततꣳ सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥३७॥

१. **तत्**=तभी **सूर्यस्य**=गतमन्त्र में वर्णित सूर्य का **देवत्वम्**=देवपन व **तत्**=तभी **महित्वम्**=बड़प्पन, महिमा होती है **यदा**=जब **मध्या कर्त्तोः**=कामों के बीच में **विततम्**=फैले हुए क्रिया-जाल को **संजभार**=मनुष्य संगृहीत करता है। संसार के कार्यभारों–व्यापार आदि

को समेटकर २. **यदा**=जब यह **इत्**=निश्चय से **सधस्थात्**=सदा साथ रहनेवाले प्रभु से **हरितः**=ज्ञान की रश्मियों को **अयुक्त**=अपने साथ जोड़ता है। मनुष्य कार्यों से निपटकर जब प्रभु के समीप बैठता है, तब उसे ज्ञानधन प्रभु की ज्ञानरश्मियाँ क्यों न दीप्त करेंगी? इन ज्ञानरश्मियों से द्योतित होकर ही यह 'देव'=चमकनेवाला बनता है। चमकने पर ही इसकी महिमा होती है। इस प्रकार यह देवत्व व महत्त्व को प्राप्त करता है। ३. **आत्**=अन्यथा, कार्यों का उपसंहार करके प्रभु की गोद में न बैठने पर **रात्री**=अज्ञानान्धकार **सिमस्मै**=सबके लिए **वासः**=अन्धकारवस्त्र को **तनुते**=तान देती है, अर्थात् मनुष्य गरीब हुआ तो नमक-तेल-ईंधन की चिन्ता में और धनी हुआ तो रुपये-पैसे की चिन्ता में जीवन को बिता देता है। उसे ''कोऽहं कुत आजातः''='मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ' इन प्रश्नों के सोचने का समय ही नहीं मिलता। ४. इस अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला व्यक्ति ही 'कुत्स' है। यह 'कुथ हिंसायाम्' अज्ञान की हिंसा करने के लिए ज्ञान के सूर्य का अपने में उदय करता है। इस सूर्योदय के लिए ही लौकिक कार्यों से निवृत्त होकर प्रभु-चरणों में बैठता है।

भावार्थ—हम जीविका के कार्यों का उपसंहार करके सधस्थ प्रभु से ज्ञान प्राप्त करें, जिससे हमपर अज्ञान का पर्दा न पड़ा रहे।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्वास्थ्य व सन्तोष

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥३८॥

१. **सूर्यः**=ज्ञान-सूर्य को अपने अन्दर उदित करनेवाला यह व्यक्ति **द्योः**=उस प्रकाशमय प्रभु के **उपस्थे**=समीप, उसकी गोद में बैठता हुआ **मित्रस्य**=स्नेह की भावना को तथा **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की भावना को **अभिचक्षे**=एकत्व दर्शन के लिए **तत् रूपम्**=प्रकाश को अपने अन्दर **कृणुते**=करता है। (**रूपम्**=प्रज्ञानम्—नि० १०।१३)। ज्ञान का प्रथम परिणाम ही यह है कि मनुष्य द्वेष से ऊपर उठता है और स्नेह से वर्त्तता है। २. **अस्य**=ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान इस पुरुष का **पाजः**=बल **अनन्तम्**=बहुत अधिक होता है। **अन्यत्**=विलक्षण होता है और **रुशत्**=देदीप्यमान होता है। वस्तुतः प्रभु के सम्पर्क के कारण इसमें प्रभु की ही शक्ति काम करने लगती है, अतः इसकी शक्ति का असाधारण व विलक्षण प्रतीत होना स्वाभाविक ही है। ३. **हरितः**=इसकी ये ज्ञानरश्मियाँ (इस सूर्य के ये अश्व) **अन्यत्**=एक विलक्षण ही **कृष्णम्**='कृषिर्भूवाचकः शब्द, णश्च निर्वृतिवाचकः' भू और निर्वृति, स्वास्थ्य और सन्तोष को **संभरन्ति**=सबके अन्दर भरती हैं। सूर्योदय होता है और उसकी किरणें सबमें प्राणशक्ति का सञ्चार करती हैं, इसीप्रकार इस कुत्स की जो ज्ञान का सूर्य बन गया है, ज्ञानकिरणें सभी को स्वास्थ्य व सन्तोष देनेवाली होती हैं। 'कृष्णम्' शब्द का अर्थ आकर्षण भी है। इसकी ये ज्ञानकिरणें बड़े आकर्षक ढंग से लोगों में ज्ञान भरती हैं। यही भावना ३६वें मन्त्र में 'रोचनम्' शब्द से कही गई थी।

भावार्थ—हम प्रभु का उपस्थान करते हुए ज्ञान प्राप्त करें और सभी के साथ स्नेह करनेवाले बनें। तेजस्वी बनें और औरों को भी ज्ञान देनेवाले बनें।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

जगदग्नि का प्रभु-स्तवन=द्रष्टा व श्रोता

बण्महाँ२॥ऽअसि सूर्य बडादित्य महाँ२॥ऽअसि।
महस्तै सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ२॥ऽअसि॥३९॥

१. जब प्रभु के चरणों में बैठकर ज्ञानप्राप्त करने का उपक्रम होगा, तब गतमन्त्र के अनुसार 'द्योरुपस्थे' अवश्य ही एक दिन हम प्रभु का साक्षात्कार करेंगे। साक्षात्कार करने के कारण प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि' है। 'जमदग्निर्वै चक्षुः' इस वाक्य के अनुसार जमदग्नि चक्षु है, जो देखता है। उस प्रभु को देखने पर यह अनुभव करता है कि प्रभु कितने महान् है। उसके मुखसे निम्न वाक्य उच्चरित होने लगते हैं—२. **सूर्य**=हे सूर्य के समान देदीप्यमान प्रभो! आप **बट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् हैं, अतएव पूजनीय हैं (मह पूजायाम्)। प्रभु सूर्य के समान चमकते हैं। ३. उस प्रकाशमय प्रभु ने इस सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ग्रहण किया हुआ है 'आदानात् आदित्यः'=इस आदान के कारण ही वे प्रभु आदित्य हैं। सारे ज्योतिर्मय पदार्थ उनके गर्भ में है, तभी तो वे 'हिरण्यगर्भ' कहलाये हैं। ब्रह्माण्ड ही अनन्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु इतना विशाल संसार प्रभु के एक देश में ही है **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'**। प्रभु कितने महान् हैं? जमदग्नि कहता है कि हे **आदित्य**=सभी को गर्भ में धारण करनेवाले प्रभो! **बट्**=सचमुच आप **महान् असि**=बड़े हैं। ४. यह जमदग्नि उस प्रभु को, जो इन सूर्य आदि को भी तेजस्विता प्राप्त करा रहे हैं (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) एक तेज के पुञ्ज के रूप में देखता है और कहता है कि **महः**=तेज के पुञ्ज के रूप में **सतः**=होते हुए **ते**=आपकी तेजस्विता से प्रभावित मेरी वाणी आपकी **महिमा पनस्यते**=महिमा की स्तुति करने लगती है। सूर्यादि सभी को तेजस्वी बनानेवाले वे सचमुच तेज के पुञ्ज ही हैं। यह तेज मुझे भी तेजस्वी बनाता है और मेरी वाणी आपका स्तवन करने लगती है। ५. हे **देव**=सब देवताओं को देवत्व प्राप्त करानेवाले दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **अद्धा**=सचमुच **महान् असि**=महान् है। सब देव महान् हैं, प्रभु तो देवों के भी देव, देवाधिदेव हैं। वे तो महतो महान् हैं। ६. एवं, जमदग्नि प्रभु को 'महान्' देखता है। वे प्रभु क्यों महान् हैं, क्योंकि वे (क) सूर्य हैं, (ख) वे आदित्य हैं, (ग) वे महस् हैं, (घ) वे देव हैं। वस्तुतः महान् बनने के ये ही चार उपाय हैं। हमें भी महान् बनने के लिए सूर्य, आदित्य, महस् व देव बनना होगा।

(क) हम अपना खाली समय ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति में बिताएँ और इस प्रकार अपने मस्तिष्करूप गगन में ज्ञान के सूर्य का उदय करने का प्रयत्न करें। (ख) हम अपनी 'मैं' को विशाल बनाएँ कि हमारी 'मैं' में परिवार, कुल, प्रान्त व देश ही नहीं, वसुधा भी समा जाए। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** हमारा जीवनध्येय बन जाए। (ग) हम मात्रा में भोजन का स्वीकार करते हुए संयमी जीवन बनाकर तेजस्वी बनें। और (घ) अन्त में हम देव बनें। देव बनने के लिए द्वेष को हृदय में आने से रोकें (वरुण) सबके साथ स्नेह करें (मित्र) तथा यथोचित आर्थिक सहानुभूति भी दर्शाएँ (अर्यमा)। इन तीन बातों से हम दिव्य गुणों को अवश्य अपना पाएँगे। एवं सूर्य, आदित्य, महस् व देव बनकर हम प्रभु का सच्चा स्तवन कर पाएँगे।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करें, उदार हृदय बनें, तेजस्विता की साधना करें, और दिव्य गुणों को अपनाने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

अदाभ्य ज्योति

बट् सूर्य श्रवसा महाँ२॥ऽअसि सत्रा देव महाँ२॥ऽअसि।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्॥४०॥

१. स्तवन करते हुए जमदग्नि कहते हैं कि हे **श्रवसा सूर्य**=ज्ञान से सूर्य के समान चमकनेवाले प्रभो! आप **बट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् हैं। २. **सत्रा**=सचमुच ही **देव**=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **महान् असि**=आप महान् हैं। ३. हे प्रभो! आप ही **मह्ना**=अपनी महिमा से **देवानाम्**=सब देवों के **असुर्यः**=(असून् राति, तेषु साधु) उत्तम प्राणशक्तिदाता हैं। सूर्यादि देवों में अपना देवत्व थोड़े ही है। इन सबका देवत्व इन्हें प्रभु से ही प्राप्त हो रहा है **'तेन देवा देवतामग्रमायन्'**। सूर्यादि सब देदीप्मान पिण्ड प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो रहे हैं। विद्वान्, बलवान् व तेजस्वी पुरुष भी प्रभु से ही बुद्धि, बल व तेजस्विता प्राप्त कर रहे हैं, ४. **पुरोहितः**=ये प्रभु पुरोहित हैं, सब देवों से पूर्व विद्यमान हैं 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'। सबसे पूर्व विद्यमान होते हुए ही ये उन सब देवों को देवत्व प्राप्त करा रहे हैं। सब जीवों के लिए प्रभु एक पुरोहित (model=आदर्श) के रूप में हैं, जिनके अनुसार जीव ने अपने जीवन को बनाना होता है। ५. वे प्रभु **विभु ज्योतिः**=एक व्यापक प्रकाश हैं जोकि **अदाभ्यम्**=न दबने योग्य हैं। सूर्य निकलता है और तारों का प्रकाश दब जाता है। 'इस प्रकार प्रभु का प्रकाश किसी अन्य प्रकाश से दबेगा' यह बात नहीं है। वे प्रभु तो एक न दबनेवाला प्रकाश है। इसी अदाभ्य ज्योति को हमने भी प्राप्त करना है, इसको प्राप्त करके हम उस महान् प्रभु के सच्चे उपासक बनेंगे। ज्ञान जितना व्यापक (विभु) हो उतना ही ठीक। व्यापक ज्ञान ही उन्नति के मन्दिर की दृढ़ नींव बनता है।

भावार्थ—मैं देव बनूँ, जिससे प्रभु मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार करें और मैं एक अदाभ्य ज्योतिवाला बन जाऊँ।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

साम्यवाद "In the sweat of thy labour"=स्वेदस्य

श्रायन्तऽइव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमानऽओजसा प्रति भागं न दीधिम॥४१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृ-मेध' है, जो सब नरों से मिलकर चलता है (मेध= संगम)। 'यह अकेला खाएगा' यह कैसे हो सकता है! इसका विचार है कि **सूर्यम् इव**= सूर्य की भाँति **श्रायन्तः**=(to sweat, to perspire) श्रम के कारण पसीने से तर-बतर होते हुए **विश्वा इत्**=सभी प्राणी **इन्द्रस्य**=उस प्रभु से दिये गये भोजन का **भक्षत**=भक्षण करें।

इस मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है—(क) सबने अधिक-से-अधिक श्रम करना है, और (ख) अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार सबने भोजन प्राप्त करना है। वस्तुतः राष्ट्र को इस प्रकार के नियम बना देने चाहिएँ कि कोई व्यक्ति बिना कर्म किये न खा सके और कोई भी कर्म करनेवाला अपनी आवश्यकताओं को न पा सके, यह न हो। २. हम **ओजसा**=शक्ति के द्वारा **जाते**=धनों के उत्पन्न होने पर और **जनमाने**=आगे उत्पन्न होनेवाले धनों में **वसूनि**=धनों को **भागं न**=सेवनीय भाग के अनुसार **प्रतिदीधिम**=प्रत्येक व्यक्ति के लिए धारण करें। अपनी शक्ति के अनुसार हम कमाएँ, परन्तु उसे सारा अपने पर व्यय करने के

स्थान में भाग के अनुसार सबको दें। घर में यह साम्यवाद कितना सुन्दर चलता है। पिता कमाता है, वह कम खाता है, परन्तु न कमानेवाला बच्चा सबसे अधिक खाता है। एवं, घर में ये दोनों सिद्धान्त कार्य करते दिखते हैं। (क) काम सब शक्ति के अनुसार करते हैं और (ख) खाते सब आवश्यकतानुसार हैं। यही दो सिद्धान्त सारे राष्ट्र में लागू हों तो न राष्ट्र निर्धन हो और ना ही कोई भूखा मरे।

भावार्थ—सूर्य की भाँति हम श्रमशील हों, उत्पन्न धनों को सबके साथ बाँटकर खाएँ, धनों को प्रभु का समझें।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चैक का कैश होना

अ॒द्या दे॑वा॒ऽउदि॑ता॒ सूर्य॑स्य॒ निर॑ꣳह॑सः पिपृ॒ता निर॑व॒द्यात्।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑ति॒: सिन्धु॑: पृथि॒वीऽउ॒त द्यौः॥४२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कुत्स' है। यह वासनाओं को ('कुथ हिंसायाम्') कुचल डालता है, इसके जीवन का यही ध्येय बनता है। यह प्रार्थना करता है कि **देवाः**=हे देवो! अथवा हे दिव्य वृत्तियो! **अद्य**=आज **उदिता सूर्यस्य**=सूर्योदय होते ही **अंहसः**=कष्ट व पीड़ा से **निःपिपृत**=हमें पार ले-चलो। **निः अवद्यात्**=पीड़ा से दूर करने के लिए हमें निन्द्य पापों से बचाओ। (क) 'पीड़ा से दूर होना, (ख) पीड़ा से दूर होने के लिए पापों से ऊपर उठना' यह है कुत्स का निश्चय। इस निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए उसका मुहूर्त कल का नहीं है, आज ही और अभी सूर्योदय के समय ही। यह कुत्स कल-कल की उपासना नहीं करता।

२. **नः**=हमारे **तत्**=इस संकल्प को **मित्रः**=स्नेह का देवता **वरुणः**=द्वेषनिवारण का देवता **अदितिः**=अखण्डन व स्वास्थ्य का देवता **सिन्धुः**='एतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः'=जिससे ये पाँच भूत बद्ध (integrated) हैं, वह सोमशक्ति **पृथिवी**=(प्रथ विस्तारे) विस्तार व उदारता **उत**=और **द्यौः**=दिव्=प्रकाश=मस्तिष्क की उज्ज्वलता व ज्ञान की देवता—ये सब **मामहन्ताम्**=आदृत करें।

बैंक में जैसे एक चैक आदृत हो जाता है, अर्थात् केश कर दिया जाता है उसी प्रकार कुत्स का 'पीड़ा व पाप से दूर होने का निश्चय' ही एक चैक है। उस चैक का आदर मित्रादि देवों के बैंक ने करना है। इन देवों के बैंक में हमारा क्रेडिट=पूँजी होगी तभी चैक आदृत होगा, अतः हमें 'स्नेह व द्वेषराहित्य, स्वास्थ्य, सोम, उदारता व प्रकाश' इन गुणों का बैंक बनने का प्रयत्न करना है। इन्हीं का आदान-प्रदान करनेवाला होना है। इन पाँच का विकास करनेवाले ही 'पञ्चजन' हैं।

भावार्थ—कुत्स ऋषि वह है जो 'स्नेह व निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, सोम, उदारता व प्रकाश' का पुञ्ज बनने का प्रयत्न करता है। इसी से वह 'पञ्जजन' कहलाएगा।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ऊर्ध्व रेतस् बनना=हिरण्यस्तूप

आ कृ॒ष्णेन॒ रज॑सा॒ वर्त्त॑मानो निवे॒शय॑न्न॒मृतं॒ मर्त्यं॑ च।
हि॒र॒ण्यये॑न सवि॒ता रथे॒ना दे॒वो या॑ति॒ भुव॑नानि॒ पश्य॑न्॥४३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अपनी पाँच वस्तुओं का विकास करके, विकास ही नहीं

अपितु विकास के मूलभूत सोम की रक्षा करके प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यस्तूप' बना है (हिरण्यं वीर्यम् स्तूप=to raise), शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाला हुआ है। इसके जीवन में निम्न बातें होती है। १. यह **आकृष्णेन**=आकर्षक अथवा (कृषिर्भूवाचकः णश्च निर्वृतिवाचकः) स्वास्थ्य व सन्तोष का सञ्चार करनेवाले **रजसा**=(रजः कर्मणि) कर्मसमूह के साथ **वर्त्तमानः**=वर्त्तमान होता है। इसका कार्य स्वास्थ्य व सन्तोष को फैलाना होता है, और अपने इस कार्य को यह बड़ी मधुरता से करता है। २. **अमृतं मर्त्यं च**=(क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते) अपने क्षरांश इस पाँचभौतिक शरीर को और अक्षरांश कूटस्थ आत्मतत्त्व को **निवेशयन्**=निश्चय से स्वस्थान में निविष्ट करनेवाला होता है। सामान्य भाषा में यह शारीरिक व आत्मिक दृष्टिकोण से स्वस्थ बनने का प्रयत्न करता है। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ होता हुआ ही यह स्वास्थ्य का सञ्चार कर पाता है। मानस व आत्मदृष्टि से सन्तुष्ट यह सन्तोष को फैलाता है। स्वयं स्वस्थ व सन्तुष्ट ही तो औरों को स्वस्थ व सन्तुष्ट बना सकता है। ३. यह **सविता**=सबको प्रेरणा देनेवाला हिरण्यस्तूप ऋषि **देवः**=स्वयं दिव्य गुणोंवाला बनता है और **हिरण्येन रथेन**=ज्योतिर्मय रथ से चलता है। ज्ञान को बढ़ाकर स्वयं प्रकाशमय बनकर, यह औरों को भी मार्गदर्शन करने में समर्थ होता है। मन में दिव्यता और मस्तिष्क में ज्योति को लेकर जब यह प्रजा का नेतृत्व करने चलता है तब उनको भटकाने का कारण नहीं बन जाता। ४. स्वस्थ शरीर, दिव्य मन व उज्ज्वल मस्तिष्क को पाकर ही यह स्वयं को कृतकृत्य नहीं मान बैठता, अपितु यह **भुवनानि पश्यन्**=सब भूतों का ध्यान करता हुआ (Looking after all) **याति**=चलता है। अथवा **याति**=प्रभु की ओर बढ़ता है, सर्वभूतहिते रतः ही प्रभु का सच्चा भक्त होता है।

भावार्थ—हम हिरण्यस्तूप बनकर शरीर व आत्मा को स्वस्थ रखते हुए प्रजाओं में भी स्वास्थ्य को फैलाने का प्रयत्न करते हुए प्रभु की ओर चलें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वसिष्ठ—उत्तम जीवन

प्र वा॑वृजे सुप्र॒या ब॒र्हिरे॑षा॒मा वि॒श्पती॑व॒ बीरि॑टऽइयाते।

वि॒शाम॒क्तोरु॒षसः॑ पू॒र्वहू॑तौ वा॒युः पू॒षा स्व॒स्तये॑ नि॒युत्वा॑न्॥४४॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है, उत्तम निवासवाला। इसके जीवन की निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. **प्रवावृजे**=यह वासनाओं का स्वयं ही वर्जन करता है, काम-क्रोध आदि का अपने को शिकार नहीं होने देता। २. **सुप्रया**=इस उद्देश्य से यह सात्त्विक अन्नवाला होता है, अथवा उत्तम प्रयत्नवाला होता है (प्रयस् =अन्न, प्रयत्न) ३. **एषां बर्हिः**= इसी से इनका हृदय बर्हि बनता है, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है तथा जो अत्यन्त बृंहित=बढ़ा हुआ, विशाल बना है। ४. **आविश्पती इव**=यह समन्तात् प्रजाओं का रक्षक-सा बनता है। विशाल व निर्वासन हृदयवाला बनकर यह सभी का हित साधन करता है। ५. ऐसे अच्छे, आकर्षक (आकृष्णेन, रोचनम्) ढंग से प्रचार करता है कि यह **विशाम्**=प्रजाओं के **बीरिटे**=हृदयान्तरिक्ष में **इयाते**=पहुँच जाता है (Touches their heart), उनको अपनी बात अच्छी प्रकार हृदयंगम करा देता है। ४. **अक्तोः**=रात्रि के तथा **उषसः**=उषाकाल के **पूर्वहूतौ**=प्रथम पुकार में, अर्थात् सायं व प्रातः की प्रार्थना में यह आराधना करता हुआ कहता है कि मैं (क) **वायुः**=वायु की भाँति सदा गतिशील बनूँ, **पूषा**=सूर्य की भाँति सब प्रजाओं में प्राण का सञ्चार करूँ (ग) **नियुत्वान्**='नियुत्' शब्द

वायु के घोड़ों के लिए प्रयुक्त होता है। जीवात्मा 'वायु' है **'वायुरनिलममृतम्'**। इन्द्रियाँ उसके घोड़े हैं। मैं उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाला बनूँ। यह उत्तम इन्द्रियाँश्वोंवाला ही अपनी जीवन-यात्रा उत्तम ढंग से पूर्ण कर पाता है। इसप्रकार मैं **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए होऊँ। मेरा कल्याण हो, मैं औरों का कल्याण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन निर्वासन (वासनारहित), सात्त्विक व पवित्र हृदयवाला हो। मैं लोकसंग्रह करता हुआ लोगों के हृदयों तक पहुँचने का प्रयत्न करूँ। प्रातः-सायं यही आराधना करूँ कि—मैं क्रियाशील, पोषण करनेवाला व उत्तम इन्द्रियोंवाला बनकर उत्तम स्थिति में होऊँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

दिव्य गुणों का आराधन

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्। आदित्यान्मारुतं गणम्॥४५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि रात्रि व उषा के प्रारम्भ में प्रथम पुकार (प्रार्थना) के समय 'वायु व पूषा' को पुकारते हैं। उसी प्रार्थना को कुछ विस्तार से प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। 'मेधातिथि' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है—जीवन-यात्रा में समझदारी से चलनेवाला। यह प्रातः-सायं निम्न देवों का आराधन करता है १. **इन्द्रवायू**=मैं इन्द्र और वायु को पुकारता हूँ। 'इन्द्र', अर्थात् इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ, ऐश्वर्यशाली बनूँ (इदि परमैश्वर्ये) मेरे कर्म शक्तिशाली हों (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य) वायु बनूँ (वा गतिगन्धनयोः), निरन्तर क्रियाशीलता के द्वारा बुराई का संहार करनेवाला बनूँ। ३. **बृहस्पतिम्**=बृहस्पति को पुकारता हूँ। बृहस्पति ऊर्ध्वा दिशा का अधिपति है। मैं भी उन्नति के शिखर पर पहुँचता हूँ। बृहस्पति देवगुरु हैं। मैं भी ज्ञानियों का गुरु, ज्ञानियों का भी ज्ञानी, उत्कृष्ट ज्ञानी बनता हूँ। ४. **मित्राग्निम्**=मित्र और अग्नि को पुकारता हूँ। (मित्रः प्रमीतेः त्रायते) अपने को मृत्यु व पाप से बचाता हूँ और इस प्रकार आगे बढ़ता हूँ (अग्निः अग्रेणीः)। मित्र शब्द की भावना (मिद् स्नेहने) स्नेह करने की भी है। उन्नति-पथ वस्तुतः प्रेम-पथ ही है। ५. **पूषणं भगम्** =मैं पूषा व भग को पुकारता हूँ। अपना पोषण करके औरों के भी पोषण के लिए प्रयत्नशील होता हूँ। पोषण के लिए भग (ऐश्वर्य) को बाँटता हूँ। पोषण के लिए पर्याप्त धन से अधिक धन की कामना नहीं करता हूँ। ६. **आदित्यान्**=मैं आदित्यों को पुकारता हूँ। 'आदानात् आदित्यः' आदित्य वे हैं जो अपनी 'मैं' में सभी को समाविष्ट कर लेते हैं। उदार-हृदय बनकर मैं वसुधा को कुटुम्ब समझने का प्रयत्न करता हूँ। इस हृदय की विशालता के लिए ही ७. **मारुतं गणम्**=प्राणसमूह को पुकारता हूँ। वस्तुतः प्राणसाधना से ही हृदय निर्द्वेष व विशाल बनेगा।

भावार्थ—मैं प्राणसाधना के द्वारा इन्द्र, वायु, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषन्, भग व आदित्य को अपने अन्दर धारण करता हूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

निर्वैरता व स्नेह=वरुण व मित्र द्वारा सुराधाः बनना

वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः। करतां नः सुराधसः॥४६॥

१. 'वरुण' देवता वारण करती है, द्वेषादि को हृदयों में उत्पन्न नहीं होने देती। द्वेषादि को हृदय में आने से रोककर यह हमारे हृदय को मलिन होने से बचाती है। **वरुणः**=वरुण

प्राविता=रक्षक **भुवत्**=हो। २. 'मित्र' स्नेह करने की देवता है। 'हम द्वेष न करें' इतना ही नहीं, हम परस्पर प्रेम करनेवाले बनें। मित्र का अर्थ यास्क 'प्रमीतेः त्रायते' भी करते हैं, पापों व रोगों से बचाता है, अतः **मित्रः**=यह मित्र देवता **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब संरक्षणों के द्वारा हमें पाप व रोग से बचानेवाला हो। ३. 'वरुण और मित्र' ये दोनों देव एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। 'द्वेष न करना' एक पहलू है 'स्नेह करना' दूसरा। एवं, वरुण और मित्र मिलकर **नः**=हमें इस संसार में **सुराधसः**=उत्तम साफल्यवाला (राध=सिद्धि) **करताम्**=करें। ५. गतमन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' था। वही प्रस्तुत मन्त्र का भी ऋषि है। संसार में समझदारी से चलना (मेधया अतति) ही मेधातिथि बनना है। मन के स्वास्थ्य को न खोने के कारण यह अपने कार्यों में सफलता प्राप्त करता है और सचमुच 'सुराधाः' बनता है।

भावार्थ—'वैर न करना और स्नेह से चलना' जीवन को सफल करना है।

ऋषिः—**कुसीदी**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**स्वराडार्चीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के साथ सजात्य

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम्। इता मरुतोऽअश्विना॥४७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कुसीदी' (कौ सदति) पृथिवी पर स्थिरता से चलनेवाला है, हवा में उड़नेवाला नहीं, हवाईकिले बनानेवाला नहीं, और इसीलिए यह 'कुस संश्लेषणे' प्रभु से आलिंगन करनेवाला सचमुच 'कुसीदी' बन पाता है। यह कहता है—२. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! सर्वैश्वर्यशाली प्रभो! **विष्णो**=हे सर्वव्यापक परमात्मन्! आप **नः**=हम **सजात्यानाम्**=समान जातिवालों के **अधि**=अधिष्ठाता हैं। हम आपके सजात्य हैं। आपकी भाँति हम भी चेतन हैं। आपमें और हममें बड़े-छोटे का ही अन्तर है, हम आत्मा हैं तो आप परमात्मा। हम सजात्यों के आप अधिष्ठाता हैं। २. कुसीदी की इस बात को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **मरुतः**=मितराविणः=अरे भाई! कम बोलनेवाले होकर, रिश्तेदारी की दुहाई न देते हुए, हम प्रभु के रिश्तेदार है, ऐसा घमण्ड न करते हुए **अश्विना**=प्राणापान की साधना के द्वारा **इत**=मुझे प्राप्त होओ। प्रभु के नाते का राग आलापने से यह उत्तम है कि हम शोर न मचाते हुए संयत वाणीवाले होकर प्राणसाधना करें और प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इस प्राणसाधना से ही असुर नष्ट-भ्रष्ट होंगे। अन्य इन्द्रियों को असुर पराजित कर लेते हैं, अतः उनसे प्रभु का उपासन नहीं चल पाता। प्रभु की उपासना प्राणों से ही होगी।

भावार्थ—हम प्रभु से अपना सजात्य अनुभव करें और वासनाओं में फँसने को अपनी शान के विरुद्ध समझें।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्रः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चतुर्दश रत्न

अग्नऽइन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्द्धः प्र यन्त मारुतोत विष्णो।
उभा नासत्या रुद्रोऽअध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त॥४८॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रतिक्षत्र' है—प्रत्येक अङ्ग को क्षत (हानि) से बचानेवाला। यह प्रार्थना करता है कि **प्रयन्त**=प्रकर्षेण प्राप्त हों, इसकी ओर आएँ। कौन-कौन? १. **अग्ने**=हे अग्ने! तुम मुझे प्राप्त होओ, अर्थात् मेरे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो। मैं 'अग्रेणीः' होऊँ। 'उन्नति Progress' यह मेरे जीवन का मूलमन्त्र हो। २. **इन्द्र**=हे इन्द्र! तुम मुझे प्राप्त

होओ। (क) मैं इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ (ख) मैं शक्तिशाली बनूँ, (ग) मैं ऐश्वर्य प्राप्त करूँ। उन्नति के लिए ये तीनों बातें आवश्यक हैं। धन के बिना भी उन्नति सम्भव नहीं होती। ३. **वरुणः**=मैं वरुण को प्राप्त करूँ। विघ्नों का वारण करनेवाला बनूँ। सबसे महान् विघ्न ईर्ष्या-द्वेष हैं, इन्हें मैं रोकूँ। मेरे हृदय में ईर्ष्या का प्रवेश न हो पाये। ४. **मित्र**=हे मित्र! आप मुझे प्राप्त होओ। मैं जीवन-यात्रा में सबके प्रति स्नेह से चलूँ। अपने को पापों से बचाऊँ (प्रमीतेः त्रायते), हिंसा की वृत्ति को दूर रक्खूँ। ५. **देवाः**=हे देवो! मेरी ओर आओ मैं दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **शर्धः**=शक्ति मुझे प्राप्त हो। दिव्य गुणों को शक्ति से ही पाऊँगा। वीरत्व ही Virtue है और वीर न बनना ही evil है। ७. **मारुत**=हे मारुत! मेरी ओर आओ। मैं मितरावी बनूँ। वस्तुतः दिव्य गुणों से अपने को परिपूर्ण करके मैं मितरावी बन जाऊँगा। ८. **विष्णो**=हे विष्णो! मेरी ओर आओ। दिव्य गुणों को अपने में भरकर मैं व्यापक व विशाल मनोवृत्तिवाला बनूँ। मेरी 'मैं' में सारी वसुधा समा जाए।

९. **उभा नासत्या**=दोनों अश्विनीदेव=प्राणापान **जुषन्त**=मेरा सेवन करें। मैं प्राणापान की साधना करूँ। इस साधना ही ने मेरे हृदय को निर्मल व विशाल बनाना है। १०. **रुद्रः**=रुद्र मेरा सेवन करें। मैं रुद्र की भाँति प्राणापान की साधना करके असुरों के लिए प्रलय करनेवाला हो जाऊँ। इस प्राणापान से टकराकर ही असुर नष्ट-भ्रष्ट हुए थे। 'रुत्+र' का अभिप्राय उपदेश देनेवाला भी है। वह हृदयस्थ प्रभु मुझे उपदेश दें। प्राणापान की साधना से निर्मलहृदय प्रभुवाणी को सुनेगा ही।

११. **अध ग्नाः**=अब देवपत्नियाँ अथवा वेदवाणियाँ मेरा सेवन करें। देवपत्नियाँ देवों की शक्तियाँ ही है। पत्नी=शक्ति। घर में भी पत्नी ही वस्तुतः पति की शक्ति होती है। १२. **पूषा**=पूषा, अर्थात् सूर्यदेव मेरा सेवन करें और प्राणशक्ति के पोषण का कारण बने। १३. **भगः**=(भज सेवायाम्) सेवनीय धन मुझे प्राप्त हो। सब प्रकार के पोषण के लिए धन की आवश्यकता होती है। १४. **सरस्वती**=ज्ञान की देवता मेरा सेवन करे। मैं ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। वस्तुतः ज्ञान ने ही मेरे ऐश्वर्य पर कुछ प्रतिबन्ध रखना है, अन्यथा ऐश्वर्य तो वासनासक्ति का कारण बन जाता है। यहाँ मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रथम देवता 'अग्नि' है और अन्तिम 'सरस्वती' दोनों को मिलाकर देखें तो भावना यह है कि उन्नति का मूलमन्त्र ज्ञान है। उन्नति की चरमावधि ज्ञान की परिनिष्ठा में ही है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं ज्ञानी बनूँ और इस ज्ञान से ऐश्वर्य का सदुपयोग करनेवाला होऊँ, तभी मुझे मन्त्रोक्त चौदह रत्नों की प्राप्ति होगी।

ऋषिः—**वत्सारः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

देवताओं का आवाहन

इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिꣳ स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताँ२॥ऽअपः।
हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शꣳसꣳसवितारमूतये ॥४९॥

मन्त्र का ऋषि 'अवत्सार' है, अवत्सार ही प्रथमाक्षर के उच्चारण न होने पर वत्सार भी कहा जाता है। यह सारभूत वस्तु सोम की रक्षा के कारण 'अवत्सार' हुआ है। यह अवत्सार **हुवे**=आवाहन करता है, पुकारता हैं, किनको—१. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि को। इन्द्र बल की देवता है तो अग्नि प्रकाश की। मैं बल भी प्राप्त करूँ और प्रकाश भी। क्षत्र

भी, ब्रह्म भी। शक्ति व ज्ञान दोनों का मेरे जीव में समन्वय हो। २. **मित्रावरुणा**=मैं स्नेह की देवता को पुकारता हूँ और निर्द्वेषता व ईर्ष्या आदि के निवारण का प्रयत्न करता हूँ। मैं सभी के साथ स्नेह से चलूँ, किसी से द्वेष न करूँ। उन्नति के मार्ग में द्वेष सर्वमहान् विघ्न है। ३. **अदितिम्**=मैं अदिति को पुकारता हूँ। मेरे जीवन में खण्डन न हो। मैं स्वस्थ बनूँ। वस्तुतः स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है और स्वस्थ शरीर व मन में ही बल, ज्ञान, स्नेह व निर्द्वेषता का निवास होता है। ४. स्वास्थ्य के लिए मैं **स्वः**=स्वयं राजमानता, अदासता को पुकारता हूँ, मैं इन्द्रियों का दास नहीं बनता। इन्द्रियों की दासता ही हमें विलासमय बनाकर रोगाभिभूत कर देती है। ५. **पृथिवीं द्याम्**=मैं पृथिवी व द्यौ को पुकारता हूँ। पृथिवी (प्रथ विस्तारे) विशालता का प्रतीक है और द्यौ प्रकाश का। मेरा हृदय विशाल हो और मस्तिष्क ज्ञान से जगमगाता हो। ६. इस विशालता व प्रकाश को अपने में लाने के लिए **पर्वतान्**=पर्वतों को पुकारता हूँ (पर्व पूरणे अपने में शक्ति के भरने का प्रयत्न करता हूँ। यह शक्ति व ज्ञान को अपने में भरना ही 'ब्रह्मचर्य' है। इस ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु को भी दूर किया जाता है। ८. ब्रह्मचर्य के लिए व शक्ति को व्यर्थ न होने देने के लिए मैं **अपः**=कर्मों को पुकारता हूँ। मेरा जीवन कर्ममय होता है। कर्म में लगा हुआ व्यक्ति वासनाओं का शिकार नहीं होता। ९. शक्ति को भरके मैं **विष्णुम्**=विष्णु को पुकारता हूँ। विष्णु धारक देवता है। मैं धारण करनेवाला बनता हूँ। 'यज्ञो वै विष्णुः'=मेरा जीवन यज्ञमय होता है। १०. **पूषणम्**=पूषा को पुकारता हूँ। अपना पोषण करते हुए सभी का पोषण करता हूँ। सूर्य के समान सभी में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला बनता हूँ। ११. **ब्रह्मणस्पतिम्**=पोषण-क्रिया में ग़लती न हो जाए, अतः मैं ज्ञान के पति को पुकारता हूँ, अधिक-से-अधिक ज्ञानी बनने का प्रयत्न करता हूँ। १२. **भगम्**=इस लोकहित में परतन्त्र न हो जाने के लिए भग को, ऐश्वर्य की देवता को पुकारता हूँ। ऐश्वर्य के बिना मैं अपना भी धारण न कर सकूँगा औरों का हित कर सकने का प्रश्न ही नहीं रहता। १३. **नु**=अब मैं **शंसम्**=शंसन को पुकारता हूँ, सभी का शंसन करता हूँ। किसी के लिए निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग नहीं करता। १४. **सवितारम्**=अन्त में सविता को पुकारता हूँ। सविता प्रेरक है। मैं भी प्रेरणा देनेवाला बनता हूँ और इस प्रकार अपने जीवन को इन देवताओं से युक्त करके **ऊतये**=रक्षा के लिए समर्थ होता हूँ।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि आदि देवताओं का आवाहन करता हुआ मैं अपने जीवन की रक्षा करनेवाला बनता हूँ।

ऋषिः—**प्रगाथः**। देवता—**महेन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

तप+धन

अ॒स्मे रु॒द्रा मे॒हना॒ पर्व॑तासो वृ॒त्रह॒त्ये॒ भर॑हूतौ स॒जोषा॑ः।
यः शꣳस॑ते स्तु॒वते धायि॑ प॒ज्रऽइन्द्र॑ज्येष्ठाऽअ॒स्माँ२॥ऽअ॑वन्तु दे॒वाः॥५०॥

१. **अस्मे**=हममें **रुद्राः**=रुद्र **मेहना**=(धननाम-नि० ४.४) धन और **पर्वतासः**=शक्ति का पूरण हो। रुद्र तपस्या का प्रतीक है। रुद्र प्राण हैं। इनकी साधना करनेवाला भी रुद्र बनता है और शत्रुओं को रुलानेवाला होता है, परन्तु इस संसार में केवल तप से कार्य नहीं चलता। तपस्या यदि आत्मा व मन के बल को प्राप्त कराती है तो धन होने पर शरीर व मन दोनों सबल बन पाते हैं। दूसरे शब्दों में शक्तियों का पूरण तप व धन से साध्य हो जाता है। २. तप, धन व शक्ति का पूरण—ये **सजोषाः**=समानरूप से हमारा सेवन करनेवाले

होकर **भरहूतौ**=संग्राम की पुकार होने पर **वृत्रहत्ये**=वृत्र के विनाश में निमित्त बनते हैं। यह वृत्र और इन्द्र का संग्राम ही अध्यात्म व सात्त्विक संग्राम है। इसमें विजय पाने के लिए आवश्यक है कि हम तपस्वी हों, शरीररक्षा के लिए पर्याप्त धनवाले हों और अपने में शक्ति का सञ्चय करें। ३. **यः पज्रः**=जो बल **शंसते स्तुवते**=शंसन व स्तवन करनेवाले के लिए होता है, वह बल हममें **धायि**=धारण किया जाए। हम किसी व्यक्ति की निन्दा न करें और प्रभु का सदा स्तवन करनेवाले बनें। ऐसा करने पर हमें बल की प्राप्ति होगी। **इन्द्र-ज्येष्ठाः**=इन्द्र है ज्येष्ठ जिनमें वे **देवाः**=सब देव **अस्मान् अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। वस्तुतः सब देवों का रक्षण तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य किसी की निन्दा नहीं करता और खाली समय को प्रभु-स्तवन में बिताता है। अपने समय को प्रभु-स्तवन में बितानेवाला यह व्यक्ति **'प्रगाथ'** इस अन्वर्थक नामवाला है। प्रकृष्ट-गायन करनेवाला। इस प्रभु-गायन से ही इसे वह शक्ति प्राप्त होती है जो इसे संग्राम में काम-क्रोधादि शत्रुओं का विनाश करने के योग्य बनाती है।

भावार्थ—हम तपस्वी बनें। धन को एकदम हेय न समझ लें। धनी बनकर तप को न छोड़ दें (विलासी न बन जाएँ)। यह मार्ग हमें वह शक्ति प्राप्त कराएगा जिससे हम वासना का विनाश कर पाएँगे।

ऋषिः—**कूर्मः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

काम, क्रोध, लोभ व अभिमान का विजय

अर्वाञ्चोऽअद्या भवता यजत्राऽआ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम्।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्त्तादवपदो यजत्राः॥५१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कूर्म है—निरन्तर—क्रियाशील। क्रियाशीलता के कारण ही यह सबका धारण करनेवाला बनता है और स्वयं को शक्तिशाली बनाता है। यह सब देवों से प्रार्थना करता है—हे **यजत्राः**=यज्ञ के द्वारा त्राण करनेवाले देवो! **अद्य**=आज **अर्वाञ्चः**=हमारे समीप **भवत**=प्राप्त हानेवाले होओ। मनुष्य यज्ञशील होता है तो बुराइयों से बचा रहता है, जितना-जितना बुराइयों से दूर होता है, उतना-उतना देवों के समीप होता है। २. जब मनुष्य संसार में इस दिव्यता के मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग पर चलता है तब प्रारम्भ में कुछ चमक लगने पर भी पीछे अन्धकार-ही-अन्धकार दिखता है और यह **'कूर्म'** देवों से कहता है कि मैं **भयमानः**=डरता हुआ-सा **हार्दि**=हृदय से **वः**=आपके प्रति **आ व्ययेयम्**=सर्वथा आता हूँ। देवशून्य संसार में आसुर राज्य चलता है और उसमें एक-से-एक बढ़कर बलवाले निर्बलों को समाप्त करते हुए चलते हैं। वहाँ घात-ही-घात दृष्टिगोचर होता है, अतः कल्पना करके भी डर लगता है, इसीलिए इन असुरों से घबराकर मनुष्य फिर देवों की शरण में चलता है। ३. हे **देवाः**=देवो! **नः**=हमें **निजुरः**=निश्चय ही जीर्ण करनेवाली इस कामवासना से **त्राध्वम्**=बचाओ। **वृकस्य**=(वृक आदाने) इस आदान-ही-आदान (ला-ला) की भावनावाली लोभवृत्ति से भी हमें बचाओं। ४. **कर्तात्**=अपने आधार को ही छिन्न-भिन्न करनेवाले इस क्रोध से **त्राध्वम्**=बचाओ और हे **यजत्राः**=यज्ञों के द्वारा त्राण करनवाले देवो! **अवपदः**=नीचे की ओर ले-जानेवाले, अर्थात् पाँवों तले कुचलनेवाले इस अभिमान से भी **त्राध्वम्**=रक्षा कीजिए। अभिमान सदा पतनोन्मुख है pride goeth before a fall. इस अभिमान से आप हमारी रक्षा कीजिए। वस्तुतः कूर्म=क्रियाशील व्यक्ति ही काम, क्रोध व अभिमान पर विजय पा सकता है।

भावार्थ—हम सदा यज्ञशील बनें और यज्ञों द्वारा वासनाओं से दूर रहें।

ऋषिः—**लुशः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्राण, अग्नि, देव, धन व शक्ति

विश्वेऽअद्य मरुतो विश्वऽऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः।
विश्वे नो देवाऽअवसा गमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजोऽअस्मे ॥५२॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'लुश' है 'लुनाति, श्यति' वासना का छेदन-भेदन करता है और बुद्धि को बड़ा तीव्र बनाता है। यह प्रार्थना करता है—१. **अद्य**=आज **विश्वे मरुतः**=सब प्राण हमें प्राप्त हों। मुख्यरूप से प्राण के पाँच भेद हैं फिर उनके अवान्तर भेद होकर इनकी संख्या ४९ हो जाती है। ये सब-के-सब प्राण मेरे जीवन में ठीक कार्य करें। ये **विश्वे**=सब प्राण **ऊती**=(ऊत्या) रक्षा के हेतु से हमें प्राप्त हों। २. प्राणों के कार्य के ठीक होने पर **विश्वे अग्नयः**=सब अग्नियाँ **समिद्धाः**=हममें समिद्ध **भवन्तु**=हों। (क) स्वास्थ्य की भी एक अग्नि है, शरीर का स्वास्थ्य एक विशेष तापमान पर आश्रित है। तापमान कम होने पर निर्बलता घेर लेती है। उचित से अधिक तापमान ज्वर का चिह्न है, उस समय यह अग्नि रोगकृमियों व मलों से युद्ध कर रही होती है। युद्ध में कुछ गर्मी बढ़ ही जाती है। (ख) दूसरी अग्नि हृदय की है, जो प्रेम के रूप में प्रकट होती है। यही मर्यादा से बढ़कर 'कामाग्नि' का रूप धारण कर लेती है। (ग) तीसरी अग्नि 'ज्ञानाग्नि' है यह कामना को भस्मकर, कर्मों को पवित्र किया करती है। ये सब-की-सब अग्नियाँ प्राणों का कार्य ठीक होने पर समिद्ध रहती हैं और हमारे जीवन में शरीर, मन व मस्तिष्क की दीप्ति का कारण बनती हैं। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'लुश' का नाम अन्वर्थक हो जाता है। ३. इन अग्नियों के समिद्ध होने पर हे **देवाः**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! **विश्वे**=सब देव **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नः**=हमें **गमन्तु**=प्राप्त हों। सब अग्नियों के ठीक होने पर हमारा शरीर देवों का निवास-स्थान बनता है। ४. अब **विश्वम्**=सब **द्रविणम्**=धन संसार के निर्वाह के लिए आवश्यक सम्पत्ति (द्रविण=द्रु गतौ=जिससे कार्य सुचारुरूपेण चले) और **वाजः**=बल **अस्मे**=हमारे लिए हो। सम्पत्ति को प्राप्त करके हम 'कुबेर'=कुत्सित शरीरवाले व निर्बल न बन जाएँ। धन में आसक्त हो जाने पर निर्बल ही नहीं, मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह जाता। उसकी सब अच्छाइयाँ समाप्त हो जाती है, अतः धन के साथ 'वाज' को जोड़ दिया गया है। 'वाज' शक्ति का वाचक तो है ही, इसका अर्थ त्याग भी है। हम इस धन को सदा त्यागपूर्वक उपभोग करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम अपने जीवन को प्राणसाधना से प्रारम्भ करें, इससे हममें स्वास्थ्य, प्रेम व ज्ञान की अग्नियाँ समिद्ध होंगी। ये हमें दिव्य बनाएँगी और हम जीवन के लिए आवश्यक धन का अर्जन करते हुए उसमें आसक्त न होंगे।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मेरा हृदय देवासन बने

विश्वेदेवाः शृणुतेमꣳ हवं मे येऽअन्तरिक्षे यऽउप द्यवि ष्ठ।
येऽअग्निजिह्वाऽउत वा यजत्राऽआसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥५३॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सुहोत्र' है—सु-होत्र, जिसने उत्तम हवन किया है। इसने गत मन्त्र में 'लुश' के रूप में सभी वासनाओं को जला दिया और अब अपने जीवन-यज्ञ की

वेदि को पवित्र बनाकर यह देवों से कहता है—**विश्वेदेवाः**=सब देवो! **मे**=मेरी **इमम्**=इस **हवम्**=पुकार को **शृणुत**=सुनो। हे देवो! **ये**=जो **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में हो **ये**=जो **उपद्यवि**=द्युलोक के समीप **स्थ**=हो **उत**=और **ये**=जो **अग्निजिह्वाः**=अग्नि को अपना वक्ता (Spokesman) बनाये हुए पार्थिव देव हो **वा**=अथवा **यजत्राः**=आप सब जो यज्ञों के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले हो, वे **अस्मिन्**=इस **बर्हिषि**=निर्वासन व विशाल हृदयान्तरिक्ष में **आसद्य**=बैठकर **मादयध्वम्**=मेरे जीवन को आनन्दमय बनाओ। २. 'ये पृथिव्यां एकादशस्थ, ये अन्तरिक्ष एकादशस्थ, ये दिवि एकादशस्थ' इन शब्दों में वेद ३३ देवों का संकेत कर रहा है। ११ पृथिवीस्थ देव हैं, ११ अन्तरिक्षस्थ और ११ द्युलोक के देव हैं। द्युलोकस्थ देवों का मुखिया सूर्य है, अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया वायु व विद्युत् है और पृथिवीस्थ देवों का मुखिया अग्नि है। प्रस्तुत मन्त्र में अन्तरिक्ष व द्युलोक का तो स्पष्ट उल्लेख है, पृथिवीस्थ देवों को 'अग्निजिह्वा' शब्द से याद किया गया है, उनका अग्नि मानो वक्ता है। पृथिवीस्थ देवों का मुखिया अग्नि ही तो है। ३. **बर्हिः**=वेद में स्थान-स्थान पर हृदय को बर्हिः नाम से सूचित किया गया है। इस शब्द में मूलभावनाएँ दो हैं। (क) जहाँ से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, वह वासनारहित हृदय ही 'बर्हिः' है। (ख) 'बृहि वृद्धौ' से बनकर यह शब्द यह भावना दे रहा है कि वह हृदय 'बर्हिः' है, जो विशाल है, बढ़ा हुआ है।

४. इस हृदय में हम सब देवों का आमन्त्रण करते हैं। वास्तव में तो वासनओं को निकाल देने पर देव उस खाली स्थान को भरने के लिए स्वयं आ ही जाते हैं। देवों के लिए पवित्रस्थान बनाने के लिए ही हृदय का मार्जन किया गया है। जब हृदय के अन्दर दिव्य भावनाएँ आती हैं तब वहाँ प्रकाश व आनन्द का होना स्वाभाविक है।

भावार्थ—हम 'सुहोत्र' बनकर अग्निकुण्ड में सब वासनाओं को भस्म कर दें और अपने हृदय को देवासन बनाकर आनन्द का लाभ करें।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वामदेव को प्रभु का प्रसाद

दे॒वेभ्यो॒ हि प्र॑थ॒मं य॒ज्ञियेभ्योऽमृत॒त्वꣳ सु॒वसि॑ भा॒गमु॑त्त॒मम्।
आदि॑द्दा॒मान॑ꣳ सवित॒र्व्यूर्णुषेऽनूची॒ना जी॑वि॒ता मानु॑षेभ्यः॥५४॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार अपने हृदय को देवासन बनाकर सुहोत्र अब 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बन गया है। प्रभु 'सविता' हैं (षु प्रसवैश्वर्ययोः), सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले हैं और यह सम्पूर्ण ऐश्वर्य उन्हीं प्रभु का ही है। हे **सवितः**=आप ही देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु इन देवों को क्या-क्या प्राप्त कराते हैं, यह देखिए। २. **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **हि**=निश्चय से **यज्ञियेभ्यः**=जिन्होंने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है **प्रथमम्**=सबसे पहले **अमृतत्वम्**=अमृतत्व, रोगराहित्य को **सुवसि**=प्राप्त कराते हो। ये यज्ञमय जीवनवाले देव रोगों का शिकार नहीं होते। रोग का सम्बन्ध भोग के साथ है **'भोगे रोगभयम्'**। यज्ञमय जीवन के साथ तो अमरता का ही सम्बन्ध है। यज्ञिय जीवनवाले देव रोगाक्रान्त नहीं होते। २. जहाँ देवों को रोगशून्यता व उत्तम स्वास्थ्य मिलता है, वहाँ साथ ही उस उत्तम स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिए **उत्तमं भागम्**=उत्तम भजनीय-सेवनीय धन **सुवसि**=प्राप्त कराते हो। धन को 'भग' कहते हैं। समूचा धन यदि 'भग' है, तो उसमें से मुझे प्राप्त हानेवाला अंश ही मेरा 'भाग' है। वह सवितादेव इन यज्ञशील देवों को सात्त्विक, अकुटिल मार्ग से प्राप्त होनेवाला धन देते हैं।

३. **आत् इत्**=धन के साथ आप इन देवों को **दामानम् व्यूर्णुषे**=उदरबन्धन से आच्छादित करते हैं। इनका जीवन बड़ा संयत होता है। पेट पर मानो ये रस्सी बाँधे रखते हैं। ये दामोदर ही तो संयत जीवनवाले होते हैं। इन यज्ञिय देवों को प्रभु धन के साथ संयम शक्ति भी प्राप्त कराते हैं। ये धनों से भोगों के भोगने में नहीं लग जाते। उदर पर दाम बाँधे रखते हैं। ४. इस प्रकार **मानुषेभ्यः**=इन मनुष्यमात्र का हित करनेवाले संयमी जीवनवाले पुरुषों के लिए **जीविता**=जीवन के साधन (यैः जीवति तानि जीवितानि) **अनूचीना**=अनुकूल होते हैं। जब मनुष्य अपने जीवन को सुन्दर बनाने में लगता है तब प्रभु उसे अनुकूल जीवन-साधन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम वामदेव बनें ताकि प्रभु से प्रसाद के रूप में अमृतत्व=स्वास्थ्य, उत्तम धन, संयम व अनुकूल जीवन प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**ऋजिश्वः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

निःश्रेयस+अभ्युदय=धर्मः

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारꣳ रथप्राम्।
द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो ॥५५॥

१. गतमन्त्र का वामदेव सदा सरल मार्ग से चलता है, अतः वह प्रस्तुत मन्त्रों में ऋजिश्वः=ऋजुमार्ग से गति करनेवाला हो जाता है। (ऋजु+श्वि=गति)। देवता धनार्जन न करते हों, यह बात नहीं, परन्तु ये धर्नाजन में कभी कुटिल उपायों का अवलम्बन नहीं करते, सदा सरलमार्ग से धन कमाते हुए ये धन तो प्राप्त करते ही हैं, परन्तु साथ ही ये प्रभु को भूल नहीं जाते। इनकी बुद्धि आत्मतत्त्वप्रवण रहती है। ये अपने जीवन में निःश्रेयस व अभ्युदय दोनों का ही साधन करते हैं। २. यह ऋजिश्व कहता है कि हे प्रभो! आपने हमें मनीषा=बुद्धि दी है। यह सचमुच 'मनसः ईष्टे'=मन की ईश बने, मन का शासन करनेवाली बने और इस प्रकार बृहती (बृहि वृद्धौ) हमारी वृद्धि—सर्वतोमुखी उन्नति का कारण हो। ये मेरी **बृहती मनीषा**=वृद्धि के लिए दी गई बुद्धि **वायुम् अच्छ प्र** (सरतु) आत्मतत्त्व की ओर चले। 'आत्मा' शब्द अत सातत्यगमने से बना है तो 'वायु' शब्द=वा गतौ से बनकर उसी मूल भावना को व्यक्त कर रहा है। 'वायुः अनिलम् अमृतं, अथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्' इस मन्त्र में भी नश्वर शरीर के विरोध में अनश्वर आत्मा को वायु शब्द से स्मरण किया गया है। मेरी बुद्धि सदा प्राकृतिक वस्तुओं की ओर न भागती रहकर प्रभुप्रवण बने। यह आत्मा को कभी न भूले। यह आत्मतत्त्व को विस्मृत न करना ही धीर पुरुष का लक्षण है। यही प्रेयस् को महत्त्व न देकर श्रेयस् को अपनाना है। मैं प्रतिदिन आत्मचिन्तन अवश्य करूँ। यही निःश्रेयस का मार्ग है। ३. इस आत्मचिन्तन के साथ शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए **बृहद् रयिम्**=वृद्धि के कारणभूत धन की ओर मेरी बुद्धि जाए, अर्थात् मैं बुद्धि से धनार्जन भी करूँ। यह धन ऐसा सदुपयुक्त हो कि **विश्ववारम्**=सबसे चाहने योग्य हो। सब कहें कि धन हो तो ऐसा हो। यह धन **रथप्राम्**=हमारे इस शरीररूप रथ का पूरण (प्रा) करनेवाला हो। यह धनार्जन ही अभ्युदय है। ४. अभ्युदय व निःश्रेयस का अपने जीवन में समन्वय करता हुआ मैं अपने मस्तिष्क को ज्योतिर्मय बनाऊँ। प्रभु कहते हैं कि तू **द्युतद्यामा**=ज्योतिर्मय मस्तिष्करूप द्युलोकवाला बन। इस मस्तिष्क में तू ज्ञान के सूर्य के उदय के लिए प्रयत्नशील हो। ५. वायु के घोड़े नियुत् कहलाते हैं। 'वायु' आत्मा का नाम है। ये इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं। इन्हें उसने सदा नियत

कर्मों में लगाये रखना है। नियत कर्मों में लगाने योग्य होने से ही इन्हें 'नियुत्' कहते हैं। इन **नियुतः**=इन्द्रियाश्वों को **पत्यमानः**=(पत् गतौ) तू सदा नियत कर्मों में लगा। जब ज्ञानपूर्वक कर्म होंगे तब वे पवित्र ही होंगे। ४. **कविः**=यह क्रान्तदर्शी बनता है। वस्तुओं के तत्त्व को जानने के कारण यह उनमें फँसता नहीं। कहीं भी न उलझता हुआ यह आगे-और-आगे बढ़ता चलता है। इसका जीवन न उलझने के कारण ही सदा पवित्र व यज्ञमय बना रहता है। यह लोकहित में सदा प्रवृत्त रहता है। हे **प्रयज्यो**=यज्ञमय स्वभाववाले जीव! तू **कविम्**=उस क्रान्तदर्शी, सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले प्रभु को **इयक्षसि**=प्राप्त होता है। कवि बनकर ही तो 'कवि' को तू प्राप्त कर पाएगा।

भावार्थ—हम 'ऋजिश्व' ऋजुमार्ग से चलनेवाले बनकर, आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले बनें। सुपथ से ही धन कमाएँ। ज्योतिर्मय बनकर, कर्त्तव्य पालन करते हुए यज्ञमय जीवन बनाएँ और कवि बनकर उस कवि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक अन्न व शारीरिक स्वास्थ्य

इन्द्र॑वायूऽइ॒मे सु॒ताऽउप॒ प्रयो॑भि॒रा ग॑तम्। इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि॥५६॥

१. मन्त्र का सरलार्थ यह है—**इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु **इमे**=ये **इन्दवः**=सोमकण **सुताः**=उत्पन्न किये गये हैं। ये सोमकण **हि**=निश्चय से **वाम्**=तुम दोनों—इन्द्र और वायु को **उशन्ति**=चाहते हैं। **प्रयोभिः**=सात्त्विक अन्नों से **उप आगतम्**=इन्हें समीपता से प्राप्त होओ।

२. ये सोमकण अन्न का ही अन्तिम परिणाम हैं। यदि अन्न सात्त्विक होता है तो ये सोमकण भी सौम्य व शान्त होते हैं और शरीर में सुरक्षित रहते हैं। ये सोमकण 'इन्दवः' कहे गये हैं, क्योंकि सारी शक्ति का मूल ये ही हैं—इन्द to be powerful. इन्हीं से जीवन का धारण होता है, इनकी समाप्ति के साथ जीवन समाप्त हो जाता है। ३. 'प्रयस्' शब्द अन्न का वाचक है, साथ ही यह प्रयत्न का वाचक भी है। दोनों अर्थों को मिलाने से यह भावना प्रतीत होती है कि 'जो अन्न प्रयत्न से प्राप्त किया गया है'। वस्तुतः प्रयत्न-प्राप्त अन्न का सेवन शक्ति की रक्षा में सहायक है। ४. सोमकणों को शरीर में ही सुरक्षित करने के लिए इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनना आवश्यक है। जितेन्द्रिय पुरुष ही वीर्यरक्षा कर पाता है। इन्द्रियों का दास बनने पर सोमशक्ति की रक्षा का प्रश्न ही नहीं रहता। इन्द्रियों का वशवर्ती न होने के लिए वायु बनना चाहिए। 'वा गतौ'=निरन्तर क्रियाशील रहना चाहिए। अच्छे कार्यों में लगे रहेंगे तो बुरी भावनाएँ उत्पन्न ही नहीं होंगी। आलसी को ही ये वासनाएँ सताती हैं। ५. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है। इसने प्रस्तुत मन्त्र में निम्न मधुर इच्छाएँ की हैं (क) **इन्द्र**=मैं इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँगा। (ख) **वायु**=मेरा जीवन सतत क्रियामय होगा। (ग) **प्रयस्**=मैं प्रयत्न से प्राप्त सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला बनूँगा। (घ) **इन्दवः**=सोमकण शक्ति के स्रोत हैं, इस बात को न भूलूँगा।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें तथा निरन्तर क्रिया में लगे रहने से सोम के प्रिय बनें, अर्थात् शक्ति की रक्षा करनेवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

स्नेह व अद्वेष—मानस स्वास्थ्य

मि॒त्रꣳ हु॑वे पू॒तद॑क्षं॒ वरु॑णं च रि॒शाद॑सम्। धियं॑ घृ॒ताचीꣳ॒ साध॑न्ता॥५७॥

१. सोमकणों की रक्षा के लिए 'मानस स्वास्थ्य' की अत्यन्त आवश्यकता है। मनुष्य का मन क्षुब्ध होगा तो सोमरक्षा सम्भव न होगी, अतः 'मधुच्छन्दा' प्रार्थना करता है कि मैं **मित्रम्**=स्नेह की देवता को **हुवे**=पुकारता हूँ, जो स्नेह की देवता **पूतदक्षम्**=मेरे बल को पवित्र बनाती है। जब हमारा स्नेह व्यापक बना रहता है तब वह पवित्र होता है और वीर्य में उष्णता उत्पन्न करने का कारण नहीं बनता। यही स्नेह संकुचित होकर जब वासना का रूप धारण कर लेता है तब यह 'काम' कहलाता है और तब सोमरक्षा सम्भव नहीं होती। एवं, 'स्नेह को व्यापक बनाना' सोमरक्षा का उत्तम उपाय है। २. **वरुणम् च**=(हुवे) मैं वरुण को पुकारता हूँ। जो वरुण **रिशादसम्** (रिश+अदस्) संहारक शत्रुओं का खा जानेवाला है। (वरुणः वारयतीति सतः) 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है। द्वेष मनुष्यों की शक्ति को जलाने का हेतु बनता है। ईर्ष्यालु पुरुष अपने अन्दर जलता रहता है। एवं, सोमरक्षा के लिए 'द्वेष' से दूर रहना नितान्त आवश्यक है। द्वेष तो रिश् है (रिश हिंसायाम्), मनुष्य की हिंसा करनेवाला है। ३. ये मित्र और वरुण=स्नेह करना व द्वेष से दूर रहना, इसलिए भी आवश्यक हैं कि ये दोनों मनुष्य की **घृताचीं धियं साधन्ता**=क्षरण व दीप्ति को देनेवाली बुद्धि को सिद्ध करते हैं। घृ क्षरणदीप्त्योः=स्नेह व अद्वेष से हमारा मन स्वस्थ रहता है और हममें वह बुद्धि उत्पन्न होती है जो मलों का क्षरण कर हमें दीप्त बनाती है। जब स्नेह वासना का रूप ले-लेता है तब वह 'काम' मनुष्य के ज्ञान को नष्ट कर देता है। काम तो है ही 'मन्मथ'। (मनो मथः=ज्ञान का नष्ट करनेवाला)। द्वेष, ईर्ष्या व क्रोध मनुष्य के मन को नष्ट कर देते हैं। 'ईर्ष्योर्मृतं मनः', ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत होता है। क्रोध में बुद्धि अलसा जाती है। एवं, 'मित्रावरुण' बुद्धि के नैर्मल्य के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा' की मधुर इच्छाएँ निम्न शब्दों में व्यक्त हुई हैं—(क) **मित्र**=मैं सबके साथ स्नेह करनेवाला बनूँ। (ख) **वरुण**=मैं द्वेष का सदा वारण करनेवाला होऊँ। (ग) मलों के 'क्षरण' से मैं दीप्त बुद्धि को सिद्ध करूँ (घृताचीं धियं) और (घ) सब के प्रति स्नेहवाला बनकर द्वेष से सदा दूर रहता हुआ मैं सोमरक्षक बनूँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

प्राण-साधना

दस्रा॑ युवाक॑वः सु॒ता नास॑त्या वृ॒क्तब॑र्हिषः। आ या॑त᳖ रुद्रवर्त्तनी॥५८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'अश्विनौ' प्राणापान हैं। प्राणापान 'अश्विनौ' इसलिए कहलाते हैं कि **'न श्वः'**=आज हैं और कल नहीं। अथवा 'अश् व्याप्तौ' ये सदा कार्यों में व्याप्त रहते हैं। प्राणापान कभी सोते नहीं। प्रस्तुत मन्त्र में इन्हें 'दस्रा, नासत्या व रुद्रवर्त्तनी' कहा गया है। ये (दसु उपक्षपे) सब मलों को उपक्षीण करनेवाले हैं। शरीर के मलों को क्षीण करके शरीर को नीरोग बनाते हैं। मन से राग-द्वेष को दूर भगाकर मानस शान्ति देते हैं और बुद्धि की मन्दता को नष्ट करके बुद्धि को सूक्ष्म करते हैं। ये 'नासत्या'= नासिका में रहनेवाले हैं। इनका व्यापार घ्राणेन्द्रिय में चलता है अथवा 'न असत्यौ' ये असत्य नहीं हैं, ये सत्य-ही-सत्य हैं। इनकी साधना मनुष्य के शरीर, मन व मस्तिष्क को सत्य व निर्मल बनाती है। ये प्राणापान 'रुद्रवर्त्तनी' हों, (रुद्र इति स्तोतृनाम-निघण्टौ) स्तोता के मार्ग पर चलनेवाले हों, अर्थात् इनसे प्रभु के नामों का जप चले। मैं अपने श्वासोच्छ्वास के साथ प्रभु के नामों का स्मरण करूँ। २. मन्त्र में कहते हैं कि **दस्रा**=दोषों

का उपक्षय करनेवाले **नासत्या**=नासिका में होनेवाले व सदा सत्य **रुद्रवर्त्तनी**=स्तोता के मार्ग पर चलनेवाले प्राणापानो! तुम इन सोमकणों को जो **सुताः**=तुम्हारे शरीर में उत्पन्न हुए हैं **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणसाधना 'सोमरक्षा' का सर्वोत्तम साधन है। प्राणापान के अभ्यास से इस सोम की ऊर्ध्वगति होती है। ३. प्राणसाधना से सुरक्षित सोमकण **'युवाकवः'** हैं (यु=मिश्रण-अमिश्रण), ये हमें मलों से पृथक् करके नीरोगता, शान्ति व बुद्धि की सूक्ष्मता से युक्त करते हैं। सब दुरितों से दूर करने और भद्र से मिलानेवाले ये ही हैं। दुरितों से दूर करते हुए ये सोमकण **'वृक्तबर्हिषः'** हैं (वृक्त=purified वृक्तं बर्हिः यैः) ये हृदय को पवित्र करनेवाले हैं। हृदय की पवित्रता से ये सुरक्षित होते हैं। सुरक्षित हुए-हुए ये हृदय को और अधिक निर्मल बनाते हैं।

भावार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में मधुच्छन्दा की मधुर इच्छा यह है कि मेरे प्राण प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**कुशिकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदर्श पत्नी के कर्तव्य—आदर्श गृहिणी का गुणदशक

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ॥५९॥

१. मन्त्र का ऋषि कुशिक है (कुशा+इक) **कुशा**=घोड़े की लगाम, **इक**=वाला। इन्द्रियरूपी घोड़ों की लगामवाला। जिसने मनरूपी लगाम से इन्द्रियरूप घोड़ों को वश में किया हुआ है। यही व्यक्ति घर का उत्तम सञ्चालन कर सकता है। घर की साम्राज्ञी पत्नी होती है, वह स्वयं अपना उत्तम सञ्चालन करती हुई घर को उत्तम मार्ग से ले-चलती है। उसके कर्त्तव्यों को निम्न शब्दों में देखिए। २. **यत्**=जो **ई**=निश्चय से **सरमा**=पति के साथ ही रमण करनेवाली, जिसके सब आनन्द पति के साथ हैं **अद्रेः**=पर्वततुल्य विघ्नों के भी **रुग्णम्**=(रुजो भंगे) तोड़ने-फोड़ने को **विदत्**=जानती है, अर्थात् पत्नी का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह घर में उपस्थित होनेवाले विघ्नों को स्वयं नष्ट-भ्रष्ट कर सके। प्रसंगवश 'सरमा' शब्द ने यह भी व्यक्त कर दिया कि पति से अलग संसारिक आनन्दों का वह स्वप्न भी लेनेवाली न हो। ३. यह **सध्र्यक्**=(सह अञ्चति) पति के साथ मिलकर **पाथः**=मार्ग को **कः**=बनाती है 'घर का सञ्चालन किस प्रकार करना है' इस बात का निश्चय यह पति के साथ मिलकर करती है और दोनों एकमत से विचारपूर्वक जिस मार्ग को बनाते हैं उसकी दो विशेषताएँ होती हैं—(क) **महि**=प्रथम तो वह (मह पूजायाम्) पूजावाला है। घर के सब व्यक्ति प्रातः प्रभुपूजा से दिन को प्रारम्भ करते है और सायं पूजा के साथ ही दिन की समाप्ति करते हैं, इस प्रकार इनका मार्ग पूजामय हो जाता है। (ख) **पूर्व्यम्**=यह मार्ग ऐसा होता है कि (पृ पालनपूरणयोः) इसमें घर के सब व्यक्तियों के स्वास्थ्य का ध्यान किया गया है, यह मार्ग उनका पालन करनेवाला है और साथ ही यह उनके मनों में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने देता। १. पति-पत्नी मिलकर मार्ग न बनाएँगे तो बच्चे माता न मानेगी तो पिता से बात मनवा लेंगे। पिता न माने तो माता से मनवा लेंगे। इस प्रकार घर में 'द्वैध शासन'-सा चलेगा, जो कभी हितकर नहीं होगा, अतः **सध्र्यक्**=मिलकर ही रास्ते का निर्माण करना है। ४. पत्नी का तीसरा कर्तव्य है कि वह **अग्रं नयत्**=घर के सब व्यक्तियों को आगे-और-आगे ले-चलती है। सब सन्तानों की उन्नति का पूरा ध्यान करती है। ५. **सुपदी**=(पद गतौ) पत्नी स्वयं सदा उत्तम गतिवाली होती है। स्वयं सोयी हुई पत्नी बच्चों को 'जगाकर पढ़ने के लिए' प्रेरणा नहीं दे सकती। ६. माता के लिए यह भी

आवश्यक है कि वह **अक्षराणाम्**=प्रत्येक अक्षर के **अच्छा रवं जानती**=शुद्ध उच्चारण को जाननेवाली हो। माता से बच्चे ने उच्चारण सीखना है। ७. अन्तिम बात यह है कि माता **प्रथमा** (प्रथ विस्तारे)=उदार हृदयवाली हो। संकुचित हृदयवाली माता बच्चे को भी संकुचित हृदयवाला बना देगी। इस प्रकार उदार हृदयवाली बनकर **गात्**=यह गृहिणी घर में चलती है।

भावार्थ—आदर्श पत्नी वह है जो १. **सरमा**=पति के साथ आनन्द का अनुभव करती है। २. विघ्नों से न घबराकर उन्हें दूर करती है (विदत् रुग्णमद्रेः) ३. घर की नीति का निर्धारण पति के साथ विचार कर करती है (सध्र्यक्) ४. इसकी नीति में पूजा को प्रथम स्थान दिया जाता है (महि), ५. इसका प्रत्येक कार्य पालन व पूरण के लिए होता है (पूर्व्य)। इसकी नीति से घर में सबके शरीर स्वस्थ रहते हैं, मन व मस्तिष्क में कोई न्यूनता पैदा नहीं होती। ६. यह घर की उन्नति का कारण बनती है (अग्रं नयत्), ७. स्वयं उत्तम आचरणवाली होती है, ८. शुद्ध उच्चारणवाली होती है। ९. उदार हृदयवाली होती है (प्रथमा) १०. गतिशील होती है, आलस्य से दूर (गात्)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मार्गदर्शक प्रभु

नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद्वैश्वानरात्पुरऽएतारमग्नेः।
एमेनमवृधन्नमृताऽअमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः॥६०॥

१. **अमृताः देवाः**=देव अमृत हैं, अमर हैं। ये किसी भी सांसारिक वस्तु के पीछे भागते नही, वस्तुओं का उचित प्रयोग करते हुए ये ज्ञानीलोग उन वस्तुओं में आसक्त नहीं होते। २. ये देव **क्षैत्रजित्याय**=इस संसाररूप रणक्षेत्र में विजय पाने के लिए उस **अमर्त्यम्**=पूर्णरूप से अनासक्त एवं **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **एनम्**=इस प्रभु को **ईम्**=निश्चय से **आ अवर्धन्**=सर्वथा बढ़ाते हैं। उस प्रभु का स्तवन करते हैं। इस संसार-संग्राम में विजयी होने का एकमात्र उपाय प्रभु-स्तवन ही है। प्रभु ने ही हमारे लिए 'काम, क्रोध व लोभ' आदि शत्रुओं को जीतना है। इस शत्रु-विजय के द्वारा वे प्रभु हमारा हित साधते हैं, इसीलिए ३. **अस्मात्**=इस **वैश्वानरात्**=सर्व नरहितकारी **अग्नेः**=अग्रेणी उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभु को छोड़कर **अन्यम्**=किसी और को **पुर एतारम्**=आगे ले-चलनेवाला **स्पशम्**=मार्गदर्शक **नहि अविदन्**=नहीं जानते। देवलोग प्रभु को ही मार्गदर्शक समझते हैं। वस्तुतः 'अन्तःस्थित प्रभु की वाणी को सुनना और उसके अनुसार कार्य करना', इससे बढ़कर धर्मज्ञान का और साधन नहीं है। जब मनुष्य प्रभु को अपना नेता बनाता है तब भटकने का प्रश्न ही नहीं उठता। ४. प्रभु को ही मार्गदर्शक बनानेवाला व्यक्ति सभी को प्रभु का पुत्र जानता है, उसमें सभी के प्रति प्रीति की भावना होती है। सभी के साथ स्नेह करने के कारण इसका नाम 'विश्वामित्र' होता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना मार्गदर्शक बनाएँ। ऐसा करने पर हम भटकेंगे नहीं। संसार-संग्राम में पराजित नहीं होंगे और सभी के साथ स्नेह करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

पति-पत्नी, राजा-रानी अथवा राजा व सेनापति

उग्रा विघनिना मृधऽइन्द्राग्नी हवामहे। ता नो मृडातऽईदृशे॥६१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'इन्द्राग्नी' हैं। 'इन्द्र' पति है उसने शक्तिशाली होना है और धन कमाना है। इन्द्र असुरों का संहार करता है, पति ने भी आसुरवृत्ति का संहार करते हुए चलना है। पत्नी ने 'अग्नि' बनना है। मन्त्र संख्या ५९ में इसके लिए 'अग्रं नयत्' तो कहा ही गया है। गृहिणी वही जो घर को आगे ले-चलती है—अग्नि है। २. ये दोनों **उग्रा**=उदात्त स्वभाव के हैं। इनके शील में कहीं भी कमीनापन नहीं होता। ये उदार होते हैं। ५९ में पत्नी को 'प्रथमा'=विशाल हृदयवाली कहा ही गया है। इनकी उदात्तता पर घर की उदात्तता निर्भर करती है। इनके दिल छोटे होते हैं तो घर भी छोटा बन जाता है। ३. ये **इन्द्राग्नी**=पति-पत्नी **मृधः**=हमारा वध करनेवाले जो काम-क्रोधादि शत्रु हैं, उनका **विघनिना**=विशेषरूप से हनन करनेवाले होते हैं। काम-क्रोध पर विजय ही संसार-संग्राम में सच्चा विजय है। इसी में गृहस्थ की सफलता है। ४. ऐसे इन्द्राग्नी को ही **हवामहे**=हम पुकारते हैं, अर्थात् प्रभु से यही आराधना करते हैं कि हमारे राष्ट्र में प्रत्येक घर में ऐसे पति-पत्नी हों तभी राष्ट्र का एक-एक घर उत्तम बनकर राष्ट्र का उत्थान होगा। इन्द्राग्नी का अर्थ राजा-रानी लें तो अर्थ होगा हमारे राष्ट्र के प्रमुख पुरुष शासक व शासिकाएँ उदात्त व शत्रुनाशक हों। वे काम-क्रोध के वशीभूत न हों। इन्हीं का अनुकरण शेष प्रजा ने करना है। इन्द्राग्नी का अर्थ राजा व सेनापति लें तो बाह्य शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करने की भावना भी 'मृधः विघनिना' शब्दों से सूचित होती है। ये राष्ट्र-शत्रुओं को कुचल डालनेवाले हों। ५. **ता**=ऐसे पति-पत्नी ही **नः**=हम सबको **ईदृशे**=इस प्रलोभनमय संसार में **मृडातः**=सुखी करनेवाले होते हैं। जिस राष्ट्र में पति-पत्नी 'इन्द्राग्नी' होंगे उस राष्ट्र में न कोई भूखा मरेगा (इन्द्र=ऐश्वर्य), न ही कोई मूर्ख होगा (अग्नि=प्रकाश)। कितना सुखमय व सुन्दर होगा वह राष्ट्र! यह राष्ट्र 'भरद्वाजों' का होगा। उन लोगों का जिन्होंने काम-क्रोध को जीतकर अपने में शक्ति का भरण किया है (भरद्+वाज=भरद्=भरता है, वाज=शक्ति को)।

भावार्थ—पति-पत्नी उदात्त स्वभाव के व काम-क्रोध को जीतनेवाले हों।

ऋषिः—**देवलः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

उपासना के तीन लाभ

उपा॑स्मै गायता नरः पव॑मानायेन्द॑वे। अ॒भि दे॒वाँ२॥ऽइय॑क्षते ॥६२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि देवल है—देवों का लेनेवाला—दिव्य गुणों को अपने अन्दर बढ़ानेवाला। यह अपने को दिव्य गुणों का पुञ्ज बना पाया है, क्योंकि इसने प्रभु का उपासन किया है। यह कहता है कि २. हे **नरः**=अपने को उन्नतिपथ पर (नृ नये) ले-चलनेवाले लोगो! **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **उपगायत**=समीपता से गायन करो। घर में सब मिलकर बैठें और उस प्रभु का स्तवन करें। यही एकमात्र उपाय है जिससे कि हमारा जीवन बुराइयों से बचा रहता है। हम गुणों से युक्त होकर अपने जीवन को प्रभु-गुणगान से ही सुन्दर बना पाते हैं, अतः उस प्रभु के लिए गायन करो जो ३. **पवमानाय**=पवित्र करनेवाले हैं। प्रभु गुणगान से हमारा जीवन पवित्र बनेगा। प्रातः प्रभु के समीप बैठ, हम उसका गुणगान करें। ४. **इन्दवे**=शक्तिशाली प्रभुके लिए गुणगान करो। प्रभु का गुणगान हममें शक्ति भरेगा। ५. उस प्रभु का गान करो जो हमें **देवान् अभि इयक्षते**=देवों की ओर ले-चलनेवाले हैं। प्रभु का गुणगान हमें प्रेरणा देगा और हमारे जीवन को दिव्य गुणों से भर देगा। दिव्य गुणों को प्राप्त करके हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'देवल' बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु-उपासन के तीन लाभ हैं—'पवित्रता, शक्ति व दिव्यता'।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विप्र का लक्षण—विप्र बनने का उपाय

ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्द्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।

ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमꣳ सगणो मरुद्भिः॥६३॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। यह सभी से प्रेम करता है। यह विश्वामित्र पहला काम 'अहि-हत्या' के रूप में करता है। 'अहि' वृत्र है। ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। वृत्र कामवासना का नाम है, क्योंकि यह हमारे ज्ञान पर पर्दा डाल देती है। इसे 'अहि' नाम इसलिए दिया कि यह 'आहन्ति'=मनुष्य का विनाश करती है। इस अहि-हत्या के लिए विप्र प्रभु का वर्धन करते हैं। **ये**=जो **त्वा**=तुझे **अहि-हत्ये**=इस वृत्र व कामवासनाओं के नाश के निमित्त **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं। हे प्रभो! आप **मघवन्**=निष्पाप ऐश्वर्यवाले हैं (मा+अघ) अथवा यज्ञमय (मघ=मख) हैं। यह विप्र भी आपकी यज्ञमयता का स्तवन करता है और यज्ञमय बनता हुआ वासना को विनष्ट करता है। २. 'शंबर' ईर्ष्या का नाम है, यह मनुष्य की मानस शान्ति को समाप्त कर देती है। इस शंबर के साथ युद्ध को यहाँ 'शांबर' कहा गया है। विप्र लोग वे हैं **ये**=जो **शाम्बरे**=ईर्ष्या के साथ युद्ध में आपका स्मरण करते हैं और ईर्ष्या से ऊपर उठ जाते हैं। ३. हे प्रभो! आप 'हरिवान्' हैं, दु:खनाशक (हृ हरणे) ज्ञान की किरणोंवाले (हरयः रश्मयः) हैं। विप्र वे हैं **ये**=जो हे **हरिवः**=ज्ञान रश्मियोंवाले प्रभो! आपको **गविष्टौ**=(गो+इष्ट) ज्ञानयज्ञों में बढ़ाते हैं, अर्थात् स्तुत करते हैं। प्रभु मूल आचार्य हैं, गुरुओं के भी गुरु हैं। ५. फिर **विप्राः**=विप्र वे हैं **ये**=जो **नूनम्**=निश्चय से **त्वा**=आपको **अनुमदन्ति**=प्राप्त करने के बाद प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। आपकी प्राप्ति में ही जिन्हें आनन्द होता है, जो सभी प्राकृतिक भोगों के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं रखते। ६. एवं, विप्र वह है जो (क) काम और ईर्ष्या पर विजय पाता है, (ख) ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता है और (ग) प्रभु-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव करता है। ऐसा विप्र बनने के लिए मन्त्र की समाप्ति पर प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **सगणः**=ज्ञानेन्द्रिय पंचक, कार्मेन्द्रिय पंचक व पाँच प्राणों के गण से युक्त हुआ-हुआ **मरुद्भिः** (मरुतः=प्राण) प्राणों के द्वारा **सोमं पिब**=सोम का पान कर। जब जीव प्राणसाधना करता है तब उसके वीर्य की ऊर्ध्वगति उसे श्रीसम्पन्न बनाती है। उसी समय काम व ईर्ष्या का नाश होता है, ज्ञानयज्ञ चलता है और अन्ततः प्रभु-दर्शन होता है।

भावार्थ—विप्र वह है जो काम पर विजय पाता है, ईर्ष्या को नष्ट करता है, ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता है, प्रभु-प्राप्ति में आनन्दानुभव करता है। विप्र बनने के लिए वह जितेन्द्रिय बनकर प्राणसाधना के द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगति के लिए प्रयत्नशील होता है।

ऋषिः—**गौरीवितिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

माता का वीर पुत्र

जनिष्ठाऽउग्रः सहसे तुराय मन्द्रऽओजिष्ठो बहुलाभिमानः।

अवर्द्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा॥६४॥

१. **यत्**=जब **वीरम्**=वीर सन्तान को **धनिष्ठा**=उत्तम धनोंवाली, अर्थात् स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति-रूप सभी धनोंवाली अथवा (धन to sound) सदा उत्तम शब्दों को

बच्चे के कान में डालनेवाली, बच्चे का निर्माण करनेवाली माँ **दधनत्**=बच्चे का पालन-पोषण करती है तब वह **उग्रः**=उदात्त **जनिष्ठाः**=बनता है।

माता (क) स्वस्थ हो, पवित्र मनवाली हो, ज्ञानकी दीप्तिवाली हो (ख) वह बालक के कान में सदा **'वेदोऽसि'**=तू ज्ञानी है, **'अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव'**=तू शरीर को पत्थर-जैसा मज़बूत बना, मन की वासनाओं के लिए कुल्हाड़े के समान बन और अविच्छिन्न ज्ञान की ज्योतिवाला हो' इस प्रकार के उत्तम शब्दों को ही डालनेवाली हो, (ग) सन्तान को सदा 'वीर' शब्द से स्मरण करती हुई उसमें वीरता का सञ्चार करे, (घ) बच्चे का संकल्पपूर्वक निर्माण करे, तभी बच्चा मन्त्र के शब्दों के अनुसार निम्न गुणों के विकासवाला बन पाएगा। २. **उग्रः**=उदात्त, उत्कृष्ट स्वभाववाला, जिसकी मनोवृत्ति में कमीनापन नहीं है। **सहसे**=यह सहस् के लिए **जनिष्ठाः**=होता है। सहस् में ही शक्ति का पर्यवसान है। लोग अपमान करते हैं, परन्तु यह तैश में नहीं आता। **तुराय**=यह शत्रुओं के संहार के लिए होता है। काम-क्रोध आदि के वशीभूत नहीं होता। **मन्द्रः**=यह सदा आनन्दमय, प्रसन्न मनवाला रहता है। मनःप्रसाद इसकी सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति होती है। **ओजिष्ठः**=यह अत्यन्त ओजस्वी होता है। ओज वह शक्ति है जो इसके सर्वांगीण विकास का कारण होती है। **बहुलाभिमानः**=यह अत्यधिक उत्कर्ष की भावनावाला होता है। अपनी महिमा का आदर करता है। निराशावाद की बातें नहीं करता रहता। हिम्मत नहीं हार जाता। सदा उत्साहमय मनवाला होता है **'अहमिन्द्रः, न पराजिग्ये'**='मैं इन्द्र हूँ, पराजित थोड़े ही होता हूँ?' यह इसकी भावना होती है। ४. **अत्र**=इस जीवन में **चित्**=निश्चय से **मरुतः**=प्राण **इन्द्रम्**=इस इन्द्रियों के अधिष्ठाता को **अवर्धन्**=वृद्धि को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् यह प्राणसाधना करता है और प्राणसंयम से सब प्रकार की उन्नति करता हुआ यह आगे-ही-आगे बढ़ता है। ५. इस सबके लिए वह गौरिवीति=सात्त्विक भोजनवाला होता है। सात्त्विक भोजन से इसका अन्तःकरण शुद्ध होता है।

भावार्थ—दीप्त ज्ञानवाली माता बच्चे को सदा उदात्त, सहनशील, वासनाओं का विजेता, आनन्दमय, ओजस्वी, उत्साह-सम्पन्न व प्राणसाधना का अभ्यासी बनाए। यही वृद्धि का मार्ग है।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वामदेव का प्रभु-आराधन

आ तू नऽइन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्द्धमा गहि। महान्महीभिरूतिभिः॥६५॥

१. धनिष्ठा माता से निर्माण किया गया बालक बढ़ता हुआ 'वामदेव' बनता है, सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता है। इन्हीं गुणों का गतमन्त्रों में उल्लेख हुआ है। उन गुणों से युक्त बनना प्रभु की मित्रता में ही सम्भव होता है, अतः वामदेव प्रार्थना करता है २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे **तु**=तो **आ**=सर्वथा आप ही हो। हे **वृत्रहन्**=वृत्रों को नष्ट करनेवाले प्रभो! **अस्माकम्**=हमारी **अर्द्धम्**=वृद्धि को **आगहि**=आप प्राप्त कराइए अथवा (अर्द्धम्=side) हमारे पार्श्व में आप उपस्थित होइए। आपके द्वारा ही हमने इन वृत्रादि शत्रुओं पर विजय पानी है। ३. हे प्रभो! **महान्**=आप महान् हैं, बड़े हैं, पूज्य हैं। **महीभिः ऊतिभिः**=महनीय रक्षणों के द्वारा आप हमें प्राप्त हों। आपसे रक्षित होकर ही हम अपने देवत्व को स्थिर रख सकते हैं। वस्तुतः वामदेव बनना सम्भव ही तब होता है जब प्रभु अपने रक्षणों से हमारे समीप विद्यमान हों। प्रभु से असुरक्षित जीव

वासनाओं का शिकार हो जाएगा। हम वृत्रों=वासनाओं को थोड़े ही मारते हैं 'वृत्रहन्' तो वे प्रभु ही हैं। प्रभु की महिमा से ही हमें भी महिमा प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु इन्द्र हैं, वृत्रहन् हैं, महान् हैं। वे प्रभु हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्र=जितेन्द्रियता

त्वमिन्द्र प्रतूर्त्तिष्वभि विश्वाऽअसि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य्य तरुष्यतः॥६६॥

१. वामदेव ने गतमन्त्र में प्रभु से वृत्र-विनाश की याचना की थी। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृमेध' है जो अन्य मनुष्यों के साथ मिलकर चलता है। वस्तुतः 'सबके प्रति प्रेम होना' ही वृत्र के नाश का उपाय है। प्रेम ही संकुचित होते-होते 'वृत्र' बन जाता है। २. प्रभु जीव से कहते हैं—**इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वम्**=तू **प्रतूर्त्तिषु**=संग्रामों में **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रुओं को **अभि असि**=(अभि भवसि) अभिभूत कर लेता है। मनुष्य जितेन्द्रिय बने, यह जितेन्द्रिय बनना उसे सब शत्रुओं का विजेता बना देगा। ३. इस जितेद्रियता से सब शत्रुओं की समाप्ति होगी। परिणामतः तू **अशस्तिहा**=सब अप्रशंसनीय, अशुभ बातों का ध्वंस करेगा और **जनिता**=अपना प्रादुर्भाव-विकास करनेवाला बनेगा। इन शत्रुओं ने ही तो हमारे सब विकास को रोका हुआ था। अब यह इन्द्र **विश्वतूः असि**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाला हो गया है। हे इन्द्र! **त्वम्**=तू **तरुष्यतः**=तेरी हिंसा करनेवालों को **तूर्य**=हिंसित कर डाल। वस्तुतः जब मनुष्य इन्द्रियों को जीत नहीं पाता तब उनका दास बन जाता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें और अशुभ को दूर करके अपने जीवन को श्रीसम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

जितेन्द्रिय के लिए सब अनुकूल

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि॥६७॥

१. मनुष्य कई बार प्रतिकूलता की शिकायत करता है और कहता है कि 'ये लोग मेरे विरोधी हैं' या 'यहाँ की जल-वायु मेरे अनुकूल नहीं'—ये दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। मनुष्य जब इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है तब प्रभु कहते हैं कि **क्षोणी**=द्यावापृथिवी **ते**=तेरे **तुरयन्तं शुष्मम्**=शत्रुओं का संहार करनेवाले शोषक बल के **अनु ईयतुः**=अनुकूल गतिवाले होते हैं। उसी प्रकार अनुकूल गतिवाले होते हैं **न**=जैसे **शिशुं मातरा**=बच्चे के अनुकूल माता-पिता होते हैं। माता-पिता कभी बच्चे के प्रतिकूल नहीं हो सकते, इसी प्रकार द्यावापृथिवी तो मनुष्य के अनुकूल ही हैं, बशर्ते कि वह स्वयं अपने प्रतिकूल न हो जाए। यदि हम स्वयं इन्द्रियों के दास बनकर अन्तः शत्रुओं के शिकार हो जाते हैं तब तो सब प्रतिकूल-ही-प्रतिकूल है। हम अपने स्वामी हैं तो सब अनुकूल-ही-अनुकूल है। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **यत्**=जब **वृत्रम्**=काम को **तूर्वसि**=तू नष्ट करता है तब **ते**=तेरे **मन्यवे**=ज्ञान के लिए **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रु **श्नथयन्त**=नष्ट हो जाते हैं। वृत्र=कामवासना का नाम है, क्योंकि यह मन्मथ है, मनुष्य के ज्ञान को नष्ट कर डालती है, उसके ज्ञान पर पर्दा डाल देती है। इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव इसका विनाश

करता है। यह वृत्र सब शत्रुओं का मुखिया है। 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, व मत्सर'—ये छह शत्रु हैं। 'काम' जब ज्ञान पर पर्दा डालता है तब यह मोह (वैचित्य) का जनक होता है। किसी वस्तु का मद (शक्ति, धन व ज्ञान का मद) क्रोध को जन्म देता है और औरों की सम्पत्ति देखकर मात्सर्य होने पर लोभ बढ़ता है। एवं, ये 'काम-क्रोध-लोभ' ही नरक के द्वार हैं। इनमें भी काम-क्रोध दो ही इसके प्रमुख शत्रु हैं। इनमें भी सबसे बड़ा शत्रु काम ही है। यही शत्रु-सैन्य का सेनापति है। इसके ध्वंस होने पर ज्ञान का सूर्य ऐसे चमकने लगता है जैसे बादलों के हटने पर आकाश में सूर्य। उस ज्ञान-सूर्य के प्रकाश में सब शत्रु विलीन हो जाते हैं। मनुष्य देव बन जाता है, इसका जीवन यज्ञमय हो जाता है और इस प्रकार इसका 'नृ-मेध' यह नाम अन्वर्थक होता है।

भावार्थ—हम वृत्र का विनाश करें, हमारे ज्ञान का सूर्य चमके और सब शत्रु नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**आदित्याः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

यज्ञ=सुख

यज्ञो देवानां प्रत्यैति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत्॥६८॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवानाम्**=देवों के प्रति=ओर **सुम्नम्**=सुख के रूप में होकर **एति**=वापस आ जाता है, अर्थात् यज्ञ का परिणाम जीवन का सुखी होना है। **'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'**=यज्ञ के अभाव में न इस लोक का कल्याण है, न परलोक का। **'स्वर्गकामो यजेत'**=सुख की कामनावाला यज्ञ करे। यज्ञ सुख के रूप में लौट आता है। देवों का जीवन यज्ञमय होता है, परिणामतः वे सुखी होते हैं। २. ये देव आदित्य होते हैं। सब अच्छी वस्तुओं का आदान करने के कारण ये आदित्य हैं। प्रभु कहते हैं कि **आदित्यासः**=हे आदित्यो! **मृडयन्तः**=सभी के जीवनों को सुखी बनाते हुए **भवत**=होवो। अपने जीवन को सुन्दर बनाकर ही सन्तुष्ट न हो जाओ औरों को भी सुखी करनेवाले होओ। **३. वः**=तुम्हारी **सुमतिः**=कल्याणी मति **अर्वाची** (अर्वाङ् अञ्चति=अन्दर आती है)—हृदय तक पहुँचनेवाली **आववृत्यात्**=सर्वथा हो, अर्थात् आप ऐसे ढंग से लोगों को उपदेश दो कि तुम्हारी सुमति उनके हृदयों में बैठ जाए, हृदयंगम हो जाए। तुम्हारा उपदेश उनके हृदय को प्रभावित करनेवाला हो। ४. यह मति ऐसी हो कि **या**=जो **'अंहोःचित्'**=पापी को भी **वरिवोवित्तरा**=अधिक-से-अधिक पूजा को प्राप्त करानेवाली **असत्**=हो। आपकी इस मति को सुनकर पापी का हृदय भी इस प्रकार प्रभावित हो कि वह पूजा में प्रवृत्त हो जाए। ५. इस प्रकार अपने उपदेश से सब बुराइयों की हिंसा करनेवाला 'कुथ हिंसायाम्' यह आदित्य 'कुत्स' कहलाता है। इसने पाप को समाप्त कर डाला है।

भावार्थ—किया हुआ यज्ञ सुख के रूप में परिवर्तित होकर यज्ञकर्ता के प्रति लौट आता है।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

आदर्श उपदेशक

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नोऽअघशꣳसऽईशत॥६९॥

१. 'आदित्य ब्रह्मचारी लोगों को कल्याणी मति प्राप्त करानेवाले हों', इन शब्दों पर पिछला मन्त्र समाप्त हुआ था। वह आदित्य ब्रह्मचारी स्वयं अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सवितः**=सारे संसार के जन्मदाता व प्रेरक प्रभो! **त्वम्**=आप **अदब्धेभिः**=हिंसित न होनेवाले **शिवेभिः**=कल्याणकर **पायुभिः**=रक्षण के उपायों से **अद्य**=आज **नः**=हमारे **गयम्**=शरीर को **परिपाहि**=सर्वतः रक्षित कीजिए। जो स्वयं अस्वस्थ है वह औरों में स्वास्थ्य का प्रसार नहीं कर सकता। स्वास्थ्य के नियमों को भंग न करते हुए हम स्वस्थ बनें। २. हे प्रभो! आप **हिरण्यजिह्वः**=हितरमणीय जिह्वावाले हैं। आपकी वेदवाणी का एक-एक मन्त्र हमारा हितकर व रमणीय है। **रक्ष**=आप हमारी रक्षा कीजिए, जिससे हम **सुविताय**=सु-इत=सदा उत्तम आचरण के लिए हों और **नव्यसे**=(नू स्तुतौ) सदा स्तुति करनेवाले हों। हमारा जीवन उपासनामय हो। आप 'हिरण्यजिह्व' हैं, आपका उपासक मैं भी हितरमणीय जिह्वावाला बनूँ। ३. हे प्रभो! **नः**=हमपर **अघशंसः**=बुराइयों का शंसन करनेवाला **माकिः ईशत**=शासन करनेवाला न हो जाए, अर्थात् हम किसी अघशंस की बातों में न आ जाएँ। ४. प्रभु की कृपा से व्यसनों से बचकर अपने में शक्ति को भरनेवाला 'भरद्वाज' है। यह अपने जीवन में निम्न बातें लाता है—(क) स्वास्थ्य, (ख) मधुरभाषण व दीप्ति (ग) उत्तम आचरण, (घ) स्तवन, (ङ) बुराइयों के प्रति आकृष्ट न होना।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में शक्ति भरके औरों में भी शक्ति का सञ्चार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

लक्ष्य की ओर

प्र वी॒रया॒ शुच॑यो दद्रिरे वामध्व॒र्युभि॒र्मधु॑मन्तः सु॒तासः॑।
वह॑ वायो नि॒युतो॑ या॒ह्यच्छा॒ पिबा॑ सु॒तस्यान्ध॑सो॒ मदा॑य ॥७०॥

१. पिछले मन्त्र में भारद्वाज ने प्रभु से प्रार्थना की थी कि प्रभु उसकी रक्षा करे। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु उसे रक्षा का उपाय बताकर वसिष्ठ=इस शरीररूप गृह में निवासवाला बनने की प्रेरणा देते हैं। २. प्रभु एक गृहस्थ से कहते हैं कि **वाम्**=पति-पत्नी तुम दोनों के मलों को **वीरया**=बड़ी वीरता के साथ **प्रदद्रिरे**=खूब ही विदीर्ण कर दें, नष्ट-भ्रष्ट कर दें। कौन? (क) **शुचयः**=पवित्र सोमकण। पवित्र सोमकण वे हैं जो सात्त्विक भोजन से उत्पन्न हुए हैं। (ख) **मधुमन्तः**=जो सोमकण हमारे जीवन को मधुर बनाते हैं। इन्हीं के द्वारा शरीर स्वस्थ बनता है, मन निर्मल होता है, और मस्तिष्क उज्ज्वल बनता है, परिणामतः जीवन में माधुर्य बना रहता है। (ग) **अध्वर्युभिः सुतासः**=जो सोमकण अध्वर्युओं से पैदा किये गये हैं 'अ-ध्वर्-यु=अपने साथ हिंसा को न जोड़नेवालों से, अर्थात् न तो वे मांसाहार करते हैं और न उनकी कमाई किसी प्रकार की हिंसा से की जाती है। वस्तुतः इस प्रकार हिंसाशून्य अन्न से ही सात्त्विक सोमकण उत्पन्न होते हैं। ऐसे सोमकण सब प्रकार के मलों को समाप्त कर देते हैं। ३. प्रभु कहते हैं कि **वायो**=हे क्रियाशील जीव! तू **नियुतः वह**=इन इन्द्रियरूप घोड़ों को सञ्चालित कर। इन्द्रियाँ अश्व हैं, तू इनको अपने वश में रख और इनको मार्ग पर चला और ४. **अच्छ याहि**=लक्ष्य प्राप्त होनेवाला हो। घोड़े तेरे काबू में हों और तू निरन्तर आगे बढ़ता चल। इसी जीवन में लक्ष्य पर पहुँचने का निश्चय रख। ५. इस सबके लिए तू **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **अन्धसः**=इस आध्यायनीय सोम का **पिब**=पान कर

और **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिए हो। इस सोमपान ने ही तेरे जीवन में मिठास व उल्लास को भरना है।

भावार्थ—सोमपान द्वारा हम सब मलों का विदीर्ण करनेवाले बनें तथा उल्लासयुक्त होकर लक्ष्य की ओर बढ़ते चलें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

वेदवाणी का महत्त्व

गावऽउपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा। उभा कर्णा हिरण्यया॥७१॥

वसिष्ठ वेदवाणियों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **गावः**=हे वेदवाणियो! **अवतम्**=मेरे हृदयरूप गुहा को (गर्त को) **उपावत**=समीपता से रक्षित करो, अर्थात् मेरा हृदय वेदवाणियों का अधिष्ठान बने, जिससे वहाँ वासनाओं का कूड़ा-कर्कट जमा हो न जाए। ये वेदवाणियाँ **मही**=महनीय हैं, पूजा की वृत्ति को उत्पन्न करनेवाली हैं। इनके अध्ययन से हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है। **यज्ञस्य रप्सुदा**=ये वेदवाणियाँ यज्ञों के 'रप-सु-दा' व्यक्त प्रतिपादन को उत्तमता से देनेवाली हैं। इन वेदवाणियों में यज्ञों का उत्तमता से प्रतिपादन है। वेदों में नाना प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। इस वेदवाणी को सुनने से हमारे **उभा कर्णा**=दोनों कान **हिरण्यया**=ज्योतिर्मय हों। इनसे हमारा ज्ञान दीप्त हो।

भावार्थ—वेदवाणियों के अध्ययन से निम्न लाभ हैं—(क) हृदय वासनारूप मलों का स्थान नहीं बनता, (ख) मन प्रभु-प्रवण होता है, (ग) यज्ञमय कर्मों में रुचि बढ़ती है, (घ) कान ज्योतिर्मय होते हैं, अर्थात् ज्ञान बढ़ता है।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

उत्तम घर—दक्ष का दुरोण

काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे। रिशादसा सधस्थऽआ॥७२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में घर के लिए 'दुरोण' शब्द आया है, जिसकी भावना है 'जिसमें से **'दुर्'**=बुराई को (ओणृ अपनयने) दूर किया गया है। वस्तुतः पति-पत्नी ने बुराइयों को दूर करके घर को अच्छाइयों से युक्त करना है। **सधस्थे**=सहस्थे=यह मिलकर रहने की जगह है। परस्पर वैर-विरोध होने पर तो घर की इतिश्री हो जाती है। यह घर **दक्षस्य**=चतुर पुरुष का है। 'योगः कर्मसु कौशलम्'=कर्मों में कुशलता का नाम योग है, अतः यह गृहपति योगी है। यह अपने घर को अधिक-से-अधिक सुन्दर बनाने का ध्यान करता है। इस घर की अच्छाइयाँ ये हैं—(क) यह घर बुराइयों से दूर है, (ख) इसमें सब मिलकर प्रेम-से रहते हैं, (ग) इसमें सब कार्य दक्षता से किये जाते हैं। किसी कार्य में भद्दापन नहीं होता। २. (क) 'वेद' प्रभु का काव्य है—**'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**=प्रभु के इस काव्य को देखो, जो कभी न नष्ट होता है, न जीर्ण होता है। (ख) सृष्टि भी प्रभु का काव्य ही है। इसकी रचना अत्यन्त कलापूर्ण है। **काव्ययोः**=इन दोनों काव्यों में वेदरूप काव्य के **आजानेषु**=समन्तात् ज्ञान प्राप्त करने व सृष्टिरूप काव्य में **आजानेषु**=लोकहित के कार्यों के करने में **क्रत्वा**=क्रिया-संकल्प व प्रज्ञान से **रिशादसा**=(रिश+अदस्)=सब हिंसाओं को खा जानेवाले, अर्थात् समाप्त कर देनेवाले पति-पत्नी उल्लिखित घर में **आ** (आगतम्)=आएँ ३. (क) पति-पत्नी प्रभु के वेदरूप काव्य को (आजान) अच्छी प्रकार समझने का प्रयत्न करें। इसके लिए उनमें पुरुषार्थ हो, उनके हृदयों में वेदाध्ययन का संकल्प हो और

इसप्रकार वे वेद का ज्ञान प्राप्त करें। (ख) ये पति-पत्नी इस सृष्टि को भी प्रभुकाव्य की कलामयी कृति के रूप में देखें। वे इसमें सब लोगों के हित के लिए (आ-जान=जनहित) कर्म करने के संकल्पवाले हों, (ग) ये पति-पत्नी सब प्रकार की हिंसा से ऊपर उठें।

भावार्थ—हम अपने सधस्थ=घर को 'दक्ष का दुरोण' बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**अध्वर्यू**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

पति-पत्नी

दैव्यावध्वर्यूऽआ गतꣳ रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे॥७३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि भी 'दक्ष' है। पिछले मन्त्र के पति-पत्नी का ही यहाँ भी उल्लेख है। वे १. **दैव्यौ**=देवस्य इमौ=प्रभु के हों, अर्थात् इनका झुकाव प्रकृति की ओर न हो। २. **अध्वर्यू**=ये दोनों **अ-ध्वर्-यु**=अपने साथ हिंसा का सम्पर्क न होने दें। इनका जीवन यज्ञमय हो। **'पुरुषो वाव यज्ञः'** इस उपनिषद्वाक्य को ये अपने जीवन में मूर्त्तरूप देनेवाले हों। ३. ये दोनों **सूर्यत्वचा रथेन**=सूर्य के संवरण-(त्वच् संवरणे)-वाले रथ से आएँ। जैसे सूर्य चमकता है, इसी प्रकार इनका यह शरीररूप रथ भी स्वास्थ्य के तेज से तेजस्वी लगे। इसके अन्दर सूर्य के समान प्रकाश का संस्पर्श हो (त्वच्=touch), अर्थात् यह शरीररूप रथ बाहर स्वास्थ्य के प्रकाशवाला व अन्दर ज्ञान के प्रकाशवाला हो। ४. ऐसे ये पति-पत्नी **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=अपने जीवन-यज्ञ को **समञ्जाथे**=सम्यक् अलंकृत करते हैं। इनके जीवन में कटुता व द्वेष को स्थान नहीं होता।

भावार्थ—पति-पत्नी अपने कर्त्तव्यों को समझें और उनका पालन करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रजापति के दो पुत्र

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधाऽआसन्महिमानऽआसन्त्स्वधाऽअवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥७४॥

१. **एषाम्**=इन प्रजाओं की, जिनके लिए गत मन्त्र में 'दैव्य व अध्वर्यु' बनने का उल्लेख है, **रश्मिः**=वासना, सांसारिक वस्तुओं के प्रति रस **तिरश्चीनः विततः**=आर-पार (crosswise) फैला हुआ है। किसी की किसी लोक को प्राप्त करने की कामना है और किसी की किसी वस्तु को प्राप्त करने की। २. इनकी यह वासनारूप रश्मि **अधः स्वित् आसीत्**=नीचे भी थी और **उपरि स्वित् आसीत्**=ऊपर भी थी। कुछ ने ब्रह्मलोक-प्राप्ति की कामना की तो कई सांसारिक धन-दौलत की वासना से ऊपर न उठ सके। ३. प्रजापति के एक पुत्र तो वे थे, जो सद्गृहस्थ बनकर **रेतोधाः**=सन्तान-निर्माण के लिए वीर्य का आधान करनेवाले **आसन्**=हुए और दूसरे वे **आसन्**=थे, जो **महिमानः**=प्रभु की पूजा करनेवाले हुए (मह पूजायाम्) ४. इनमें पहले 'रेतोधाः' तो **स्वधा**=अपना ही धारण करनेवाले थे। इन्हें अपनी मृत्यु के भय ने प्रजा के द्वारा अमर बनने के लिए प्रेरित किया। **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**=प्रजाओं के द्वारा अमरता को प्राप्त करें। यह इनकी कामना हुई, ये **अवस्तात्**=नीचे ही रह गये, अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त न कर सके। ५. परन्तु दूसरे तो **प्रयतिः**=प्रकृष्ट संयमी जीवनवाले बनकर, प्रकृष्ट यति हुए और ये **परस्तात्**=उन सब अन्धकारों से परे उस प्रभु को पानेवाले बने।

'रेतोधाः' प्रेयमार्ग के पथिक हैं तो 'प्रयति' श्रेयमार्ग का अवलम्बन करनेवाले हैं।

पहले अपराविद्या को महत्त्व देते हैं तो दूसरे अपराविद्या से ऊपर उठकर पराविद्या को प्राप्त करते हैं। इस पराविद्या के द्वारा ये प्रजापति को प्राप्त कर सचमुच स्वयं भी प्रजापति-से बन जाते हैं। रेतोधा भी छोटे पैमाने पर प्रजापति हैं ही, एवं मन्त्र का ऋषि भी प्रजापति है।

भावार्थ—हमारी वासनाएँ नीचे की ओर न जाकर ऊपर उठें और हम प्रजापति बन पाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

विश्वामित्र का स्वर्ग-निर्माण—प्रेम+कर्म=स्वर्ग

आ रोदसीऽअपृणदा स्वर्महज्जातं यदेनमपसोऽअधारयन्।
सोऽअध्वराय परि णीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः॥७५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। यह सभी से स्नेह करता है, इसका किसी से भी द्वेष नहीं। **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सभी प्राणियों को **आ**=सर्वथा **अपृणत्**=यह सुखी करता है। यह किसी का बुरा नहीं चाहता। किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखता। २. इसी का परिणाम है कि इसके लिए **महत् स्वः**=महनीय स्वर्ग **आजातम्**=उत्पन्न हो गया है। ईर्ष्या-द्वेष मानव-जीवन को नरक बनाते हैं। इनसे ऊपर उठे और नरक की समाप्ति हुई। विश्वामित्र का जीवन इसलिए स्वर्गमय रहता है कि ३. **यत्**=जो **एनम्**=इसको **अपसः**=कर्म **अधारयन्**=धारण करते हैं। 'अपस्' उन कर्मों का नाम है जो व्यापक हैं (अप् व्याप्तौ), जो केवल स्वार्थ के लिए नहीं किये गये। ४. यहाँ एक ओर विश्वप्रेम है, दूसरी ओर व्यापक कर्म हैं, इन दोनों के बीच में स्वर्ग है। वस्तुतः प्रेम हो, जीवन क्रियामय हो तो फिर स्वर्ग-ही-स्वर्ग होता है। स्वर्ग के निर्माण के लिए हाथों में कर्म व हृदय में प्रेम को धारण करना आवश्यक है। कर्मों की पवित्रता के लिए 'कवि'=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी बनना आवश्यक है। इसका उल्लेख अभी आगे करेंगे। ५. **सः**=वह विश्वामित्र **अध्वराय**=अहिंसामय कर्मों के लिए **परिणीयते**=ले-जाया जाता है। सब देव तथा देवाधिपति प्रभु इसे अहिंसामय कर्मों में लगाते हैं। ६. यह विश्वामित्र **कविः**=कवि बनता है, क्रान्तदर्शी होता है। इसकी दृष्टि वस्तुतत्त्व को देखनेवाली होती है। ७. **अत्यः न**=निरन्तर क्रियाशील घोड़े की भाँति यह **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए होता है। जिस प्रकार अश्व (अश्नुते अध्वानम्) निरन्तर मार्ग का व्यापन करता है, अतः शक्तिशाली बना रहता है। ८. विश्वामित्र की अन्तिम विशेषता यह है कि यह 'चनोहितः' अन्न पर आश्रित होता है। इसका जीवन 'शाकाहारी' होता है। यह परमांस से अपना मांस बढ़ाने का स्वप्न नहीं लेता। मांसाहार मनुष्य को क्रूर बनाता है, परन्तु यह तो सबसे प्रेम के मार्ग पर चलता है, अतः इसके जीवन में मांस का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सदा **चनः**=अन्न पर **हितः**=रक्खा हुआ होता है। यह अपने शरीरधारण के लिए अन्य शरीरों को समाप्त करने का विचार नहीं करता।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रेम व कर्म के समन्वय से स्वर्ग का निर्माण करनेवाला हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

संयमी गृहस्थ : वसिष्ठ+अरुन्धती

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा। आङ्गूषैराविवासतः॥७६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि वशिष्ठ है जो वशियों में श्रेष्ठ है, अतएव उत्तम निवासवाला है। जिस घर में पति-पत्नी का जीवन बड़ा संयमवाला होता है, वह घर 'वशिष्ठ' का घर कहलाता है। इस घर में पति-पत्नी दोनों–२. **उक्थेभिः**=प्रभु के स्तोत्रों के द्वारा **वृत्रहन्तमा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के अधिक-से-अधिक नाश करनेवाले होते हैं। जहाँ प्रभु का नामोच्चारण है, जहाँ महादेव का वास है, वहाँ कामदेव तो भस्म हो ही जाते हैं। इस घर में काम का सेवन नहीं होता, काम की भस्म का ही प्रयोग चलता है। जैसे स्वर्ण विष है, परन्तु स्वर्ण-भस्म अमृत हो जाती है, इसी प्रकार महादेव काम की भस्म बना देते हैं और वह भस्म प्रजा-निर्माण द्वारा मनुष्य को अमर कर देती है। ३. ये पति-पत्नी वे हैं **या**=जो **चित् आ**=निश्चय से, सर्वथा **गिरा**=वेदवाणी से, ज्ञान की वाणियों से **मन्दाना**=आनन्द अनुभव करते हैं। इन्हें स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव होता है। ४. ये पति-पत्नी **आंगूषैः**=उच्च स्वर से गाये जानेवाले (आघोष) स्तोत्रों से **आविवासतः**=प्रभु की परिचर्या करते है। जिस घर में मिलकर इस प्रकार प्रभु-स्तवन होता है, वहाँ बुराइयों का प्रवेश नहीं होता। वह घर अधिक-और-अधिक सुन्दर बनता जाता है। इस घर के पति-पत्नी 'इन्द्र+अग्नि' होते हैं। पति धन कमानेवाला व शक्तिशाली 'इन्द्र' होता है तो पत्नी घर को सदा प्रकाशमय रखनेवाली और आगे ले-चलनेवाली 'अग्नि' होती है।

भावार्थ—आदर्श गृह में पति 'इन्द्र' होता है और पत्नी 'अग्नि'।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पुत्रों के लिए पवित्र कामना

उप॑ नः सू॒नवो॒ गिरः॑ शृ॒ण्वन्त्व॒मृत॑स्य॒ ये। सु॒मृ॒डी॒का भ॑वन्तु नः॥७७॥

पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी प्रार्थना करते हैं कि–**ये**=जो **नः**=हमारे **सूनवः**=पुत्र हैं, वे **गिरः**=वाणियों को **उपशृण्वन्तु**=समीपता से सुननेवाले हों। उन शब्दों को, जो **अमृतस्य**=उस अमर प्रभु के हैं। पिछले मन्त्र में पति-पत्नी के वेदाध्ययन का उल्लेख है। वे वेदवाणियों में आनन्द लेते थे। वस्तुतः स्वाध्याय का आनन्द अनुपम है। वे यह चाहते हैं कि उनकी सन्तान भी उन्हीं की भाँति ज्ञान की वाणियों में रुचिवाले हों। जिस समय सन्तान पढ़ने-पढ़ाने में रुचिवाले होते हैं, उस समय उनका जीवन संयमी व उत्तम बना रहता है। माता-पिता चाहते हैं कि ये सदा उत्तम, अमृत वाणियों को सुनें और **नः**=हमारे लिए **सुमृडीकाः**=उत्तम सुख देनेवाले **भवन्तु**=हों। माता-पिता का सुख सन्तान की उत्तमता में ही निहित है। माता-पिता सन्तान को उत्तम बनाते हैं तो अपने ही जीवन को सुखी करते हैं। एवं, सन्तान-निर्माण के लिए किया गया स्वार्थत्याग उत्तम त्याग है। इस उत्तम त्याग को करनेवाला 'सुहोत्र' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवाः' है, वस्तुतः स्वाध्याय सब दिव्य गुणों को जन्म देगा ही।

भावार्थ—हमारी सन्तान स्वाध्याय-रुचि बने, जिससे उनके जीवन उत्तम रहें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**इन्द्रामरुतौ**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अगस्त्य की कामना

ब्रह्मा॑णि मे म॒तयः॒ शꣳसु॒तासः॒ शुष्म॑ऽइयर्त्ति॒ प्रभृ॑तो मे॒ऽअद्रिः॑।
आ शा॑सते॒ प्रति॑ हर्यन्त्यु॒क्थेमा हरी॑ वहत॒स्ता नो॒ऽअच्छ॑॥७८॥

१. **मे**=मेरी **मतयः**=मतियाँ, इच्छाएँ, विचारपूर्वक निश्चित की गई कामनाएँ **ब्रह्माणि**

(ब्रह्म वेदः, तपः, तत्त्वम्)=वेद, तप व तत्त्व (वास्तविक सत्ता) को **आशासते**=चाहती हैं (आशास्=इच्छायाम्), अर्थात् मेरी कामना यह होती है कि (क) मैं वेदाध्ययन करूँ, (ख) मेरा जीवन तपस्वी हो, (ग) और तत्त्व तक पहुँच सकूँ, वास्तविकता (Reality) को पहचानूँ। 'आत्मतत्त्व को छोड़कर और सब कुछ नश्वर है', इसको अनुभव करूँ। ऐसा करने पर **शुष्मः**=शत्रुओं का शोषकबल **इयर्ति**=मुझे प्राप्त होता है। मैं प्रभु के समीप पहुँचता हूँ और उस शक्ति को प्राप्त करता हूँ जो मेरे अन्तःस्थित वासनारूप शत्रुओं का शोषण कर देती है। महादेव मेरे हृदय में हैं तो कामदेव को वहाँ आने में भय लगता है। २. **सुतासः**=शरीर में रुधिरादि के क्रम से उत्पन्न सोमकण मुझे **शम्**=शान्ति की **प्रति** ओर **हर्यन्ति**=ले-चलते हैं, अर्थात् इन सोमकणों की रक्षा होने पर मेरे शरीर में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न नहीं होता। इसी का परिणाम है कि **मे**=मेरा **अद्रिः**=यह अन्नमयकोश (अद्रिः कस्मात्? अत्ति-नि० ४।४)=जो खाता है, **प्रभृतः**=प्रकर्षेण पोषित होता है। सोम के धारण से नीरोगता के कारण यह वज्रतुल्य बन जाता है। (**अद्रिः वज्रम्**) अथर्व के **'यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे'** इस मन्त्रभाग में शरीर को 'वज्र' कहा गया है, ३. अब **इमा हरी**=ये मेरे ज्ञानेन्द्रियपञ्चक व कर्मेन्द्रियपञ्चकरूप घोड़े **उक्था**=प्रभु के स्तोत्रों को **वहतः**=धारण करते हैं, अर्थात् मेरी इन्द्रियों से सदा प्रभु का स्तवन चलता है। इन इन्द्रियों ने अब अन्य बोझों को परे फेंककर स्तवनरूप बोझ को ही ढोया है और इस प्रकार **ता**=वे इन्द्रियरूप घोड़े **नः**=हमें **अच्छ**=अपने लक्ष्य की ओर ले-चल रहे हैं। जो मनुष्य प्रभु का स्तवन करता है, वह मार्गभ्रष्ट न होने से लक्ष्य पर पहुँचता है। मार्गभ्रष्ट न होने से ही यह 'अगस्त्य' बना रहता है, पाप-पर्वत (अग) का संहार करनेवाला (स्त्यै संघाते)। इस अगस्त्य की कामना यह होती है-(क) उसकी बुद्धि ब्रह्म की ओर हो, (ख) उसका शरीर सोम से नीरोग व शान्तिवाला हो (ग) उसकी इन्द्रियाँ प्रभु-स्तवन करती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती चलें।

भावार्थ—अगस्त्य=पाप-समूह का संहार करनेवाला बनने का उपाय यह है कि हम बुद्धि को ज्ञानोपार्जन में लगाएँ, शरीर को सोमरक्षा से नीरोग बनाएँ और इन्द्रियों को प्रभु-स्तवन में प्रेरित करें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अगस्त्य का प्रभुवन्दन

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ२॥ऽअस्ति देवता विदानः।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥७९॥

१. अगस्त्य प्रयत्न करता है कि उसकी इन्द्रियाँ प्रभु-स्तवन में लगी रहें, उसकी बुद्धि ब्रह्म की ओर चले, परन्तु जब वह अनुभव करता है कि संसार का प्रलोभन भी अत्यन्त प्रबल है तब व्याकुल हो उठता है और प्रभु से कहता है कि हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आ**=चारों ओर, सर्वत्र **ते अनुत्तम्**=आपसे अप्रेरित **नकिः नु**=निश्चय से कुछ भी नहीं है। एक-एक पत्ता आपकी प्रेरणा से हिल रहा है। आपकी प्रेरणा मुझे भी प्राप्त हो और मैं मार्गभ्रष्ट होने से बचा रह सकूँ। २. **त्वावान्**=आपके समान **विदानः**=ज्ञानी **देवता**=देव **न अस्ति**=नहीं है। ३. हे **प्रवृद्ध**=सदा से पूर्ण वृद्धि को प्राप्त प्रभो! आप **यानि**=जिन कार्यों को करेंगे अथवा **कृणुहि**=कर रहे हैं, उन कार्यों को न **जायमानः**=न तो उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति **न जातः**=न ही उत्पन्न हो चुका व्यक्ति **नशते**=व्याप्त करता है, अर्थात् आपके समान

निर्माण की शक्ति न किसी में थी और न ही किसी में हो पाएगी। क्या बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक एक छोटे से फल को बना सकता है? क्या बिना पँखों को गति दिये, चील की भाँति शान्तभाव से मनुष्य का वायुयान उड़ सकता है?

भावार्थ—प्रभु सर्वप्रेरक हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वमहान् हैं। उनका स्तवन करता हुआ मैं अपने जीवन-निर्माण का भार भी उन्हीं पर छोड़ता हूँ।

ऋषिः—**बृहद्दिवः**। देवता—**महेन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

त्वेषनृम्ण (दीप्त बलवाला)

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञऽउग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥८०॥

१. **तत्**=वह दूर-से-दूर भी वर्त्तमान, (तत्=that) सर्वव्यापक प्रभु (तनु विस्तारे) **इत्**=निश्चय से **भुवनेषु**=सारे लोकों में **ज्येष्ठम्**=बड़े **आस**=हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, सर्वमहान् हैं। सब गुणों की चरम सीमा प्रभु हैं। २. प्रभु वे हैं **यतः**=जिनसे जीव भी **उग्रः**=उदात्तस्वरूपवाला व **त्वेषनृम्णः**=दीप्तबलवाला (नृम्ण=Power, Courage) **जज्ञे**=हो जाता है। अग्नि के सम्पर्क में आकर जैसे लोहशलाका अग्निमय हो जाती है, उसी प्रकार प्रभु के सम्पर्क में जीव उग्र व दीप्त हो उठता है। ३. इस प्रकार उग्र, तेजस्वी **जज्ञानः**=होता हुआ यह उपासक **सद्यः**=झटपट **शत्रून्**=ध्वंसकशक्तियों को **निरिणाति**=निश्चय से नष्ट कर देता है। प्रभु के तेज से तेजस्वी होकर वह सुगमता से शत्रुओं का संहार कर पाता है। ४. इस प्रकार प्रभु वे हैं **यम् अनु**=जिनके पीछे चलकर, जिनके अनुयायी बनकर **विश्वे**=सब **ऊमाः**=शत्रुओं से अपना रक्षण करनेवाले **मदन्ति**=आनन्द का अनुभव करते हैं। काम-क्रोध की पूर्ण विजय में ही आनन्द है। इस विजय के पश्चात् ही कामरूप आवरण के दूर होने पर हमारा ज्ञान चमकता है और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'बृहद्दिव'=महान् ज्ञानवाले बन पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की ज्येष्ठता को अनुभव करें, प्रभु के सम्पर्क से दीप्तबलवाले बनें, शत्रुओं का संहार करें, आनन्द का लाभ करनेवाले हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

प्रभु के सच्चे उपासक
पावकवर्ण, शुचि, विपश्चित्

इमाऽउ त्वा पुरूवसो गिरो वर्द्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥८१॥

१. 'मेधातिथि' वह व्यक्ति है जो इस संसार में बुद्धिपूर्वक चलता है। समझदार व्यक्ति सर्वत्र प्रभु की शक्ति को अनुभव करता है और निम्न शब्दों में प्रभु का स्तवन करता है—हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक निवास देनेवाले प्रभो! **इमा या मम गिरः**=ये जो मेरी वाणियाँ हैं, वे **उ**=निश्चय से **त्वाम्**=आपका **वर्धन्तु**=वधर्न करें, अर्थात् मैं अपनी वाणी से सदा आपका स्तवन करनेवाला बनूँ। जब हम अपनी बागडोर प्रभु के हाथ में सौंपते हैं, पूर्णरूप से उसके कहने पर चलते हैं, तब हमारे शरीर स्वस्थ रहते हैं और हमारे मन में किसी प्रकार के विकार नहीं आते। २. मेधातिथि से प्रभु कहते हैं कि **स्तोमैः**=स्तुतियों से, स्तोत्रों द्वारा **अभ्यनूषत**=मेरा स्तवन वे व्यक्ति करते हैं जो (क) **पावकवर्णाः**=अग्नि के समान वर्णवाले हैं—स्वास्थ्य के कारण जिनके चेहरे पर ज्योति टपकती है, जो अग्नि के समान

चमकते हैं। (ख) **शुचयः**=जिनका मन शुचि, पवित्र है। जिनके मन 'राग-द्वेष व मोह' रूप मलों से मलिन नहीं हैं। (ग) स्वस्थ्य व मानस पवित्रता से इसकी बुद्धि बड़ी उज्ज्वल व सूक्ष्म बनती है और यह सभी वस्तुओं को बड़ी बारीकी से, विशेषरूप से (वि) देखता हुआ (पश्) उनका ठीक रूप में ही चिन्तन करता है (चित्) इसीलिए 'विपश्चित्' कहलाता है। **विपश्चितः**=ये ज्ञानीलोग प्रभु के सच्चे उपासक हैं, इसीलिए हे मेधातिथे! तू 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' बन।

भावार्थ—हम सदा प्रभु-स्तवन करनेवाले हों। हमारी कोई भी क्रिया प्रभु को भूलकर न हो तो हम स्वस्थ बनेंगे, निर्द्वेष होंगे और तीव्र बुद्धि का सम्पादन कर पाएँगे।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

सबमें प्रभु की ज्योति

यस्यायं विश्वऽआर्यो दासः शेवधिपाऽअरिः।
तिरश्चिदर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सोऽअज्यते रयिः॥८२॥

१. मेधातिथि 'विपश्चित्' बनकर अनुभव करता है कि प्रभु तो वे हैं **यस्य**=जिसका **अयम् विश्वः**=यह सारा संसार है, चाहे वे **आर्यः**=ब्राह्मण हैं (आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः) **दासः**=शूद्र हैं, **शेवधिपा**=ख़ज़ानों के रक्षक वैश्य हैं अथवा **अरिः** (to attack)=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले क्षत्रिय हैं। सारा समाज चार भागों में बँटा है। यह सारा समाज उस प्रभु का प्रिय है। 'ब्राह्मण' ही प्रभु के विशेष प्यारें हों ऐसी बात नहीं। वे प्रभु सर्वत्र समवस्थित हैं, सबके अन्दर उनका निवास है। मेधातिथि का दृष्टिकोण यही बनता है कि सबमें प्रभु की सत्ता को अनुभव करना ही प्रभु का सच्चा उपासक बनना है। २. 'अर्य'= पुरुष वह है जो (अर्यः=स्वामी) अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। इन्द्रियों का दास न होने से ही अपनी शक्ति को सुरक्षित कर पाया है, वह जीर्णशक्तिवाला नहीं हो गया। 'रुशम' वह है जिसके अन्दर ज्ञान की ज्योति जगमगा रही है तथा 'पवीरवान्' वह है जो अपने शरीर को सात्त्विक अन्न व व्यायाम से वज्रतुल्य बना पाया है। इन सबके अन्दर एक 'रयि'=सम्पत्ति विद्यमान है, एक विभूति का अंश विद्यमान है। मन्त्र में कहते हैं कि **'अर्ये'**=जितेन्द्रिय में **रुशमे**=दीप्त ज्ञानवाले पुरुष में तथा **पवीरवि**=वज्रतुल्य शरीरवाले पुरुष में **तिरः चित्**=छिपी हुई **रयिः**=जो सम्पत्ति व विभूति है **सः**=वह **तुभ्य इत् अज्यते**= आपकी ही तो प्रकट हो रही है। ऐसा अनुभव करनेवाला व्यक्ति अपनी 'जितेन्द्रियता, ज्ञानदीप्ति व शारीरिक बल' का कभी गर्व नहीं करता, क्योंकि वह इस सबको प्रभु की ही महिमा के रूप में देखता है।

भावार्थ—सभी व्यक्ति प्रभु के हैं। सर्वत्र प्रभु की ज्योति ही दीप्ति का कारण बन रही है।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्सतः पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु ही सत्य

अयः सहस्त्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्रऽइव पप्रथे।
सत्यः सोऽअस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥८३॥

१. संसार में कभी-कभी इस प्रकार के व्यक्ति भी दिख जाते हैं, जिनके लिए वेद कहता है कि **'तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्'**=लोगों के अपशब्दों को मुस्कराते हुए सह

लेते हैं। 'ऐसा वे क्यों कर पाते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र में इन शब्दों में दिया है कि **ऋषिभिः**=इन तत्त्वदर्शी लोगों ने **सहस्त्रम्** (स+हस्)=मुस्कराहट के साथ **अयम्**=यह प्रभु **सहस्कृतः**=अपना बल बनाया है। प्रभु का स्मरण करनेवाला वाग्बाणों से घायल नहीं होता। २. वे प्रभु **समुद्रः इव**=अन्तरिक्ष की भाँति **पप्रथे**=विस्तृत हैं। जहाँ आकाश, वहाँ प्रभु। वे प्रभु सर्वत्र है। सबमें विद्यमान हैं। ३. **सत्यः सः**=वे प्रभु ही सत्य हैं। प्रभु के अतिरिक्त सभी अस्थिर हैं, एकमात्र प्रभु ही स्थिर व एकरस हैं। संसार परिवर्तनशील है, स्थल जल बनता है तो जल स्थल। जीव आज घोड़ा बना है तो कल हाथी और परसों मनुष्य। पूर्ण सत्य प्रभु ही हैं। ४. **अस्य**=इसकी **महिमा**=महिमा **गृणे**=मुझसे स्तुत होती है। मैं इस प्रभु की ही महिमा का स्तवन करता हूँ। **यज्ञेषु**=सब श्रेष्ठ कर्मों में **शवः**=वे प्रभु ही बल हैं। प्रभुकृपा से ही सब यज्ञपूर्ण होते हैं। सब यज्ञों के होता प्रभु ही हैं। **विप्रराज्ये**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवालों के जीवन की राज्ये=(राज्=दीप्तौ) दीप्ति में वस्तुतः उस प्रभु का ही **शवः**=बल है। जो भी व्यक्ति जितने अंश में चमकता है, यह सब चमक उस प्रभु की है। एवं, हमें अपने यज्ञों व दीप्तियों का गर्व न कर प्रभु के प्रति नतमस्तक होना है।

भावार्थ—प्रभु को हम अपनी ढाल बनाएँ। प्रभु को धारण करके यज्ञशील व दीप्तिमय बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु ही रक्षक

अद॑ब्धेभिः सवितः पा॒युभि॒ष्ट्वꣳ शि॒वेभि॑र॒द्य परि॑ पाहि नो॒ गय॑म्।
हिर॑ण्यजिह्वः सुवि॒ताय॒ नव्य॑से रक्षा॒ माकि॑र्नोऽअ॒घशꣳ॑सऽईशत॥८४॥

१. पिछले मन्त्र में कहा गया था कि ऋषि लोग प्रभु को ही अपना सहस्=बल मानते हैं। प्रभु को अपनी शक्ति बनानेवाला यह 'भरद्वाज' बनता है, अपने में शक्ति को भर लेता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि **सवितः**=हे सर्वप्रेरक सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **अद्य**=आज **अदब्धेभिः**=न हिंसित होनेवाले, न दबनेवाले **शिवेभिः**=कल्याणकर **पायुभिः**=रक्षणों से **नः**=हमारे **गयम्**=इस शरीररूप घर को व प्राणों को **परिपाहि**=सर्वतः सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः प्रभुकृपा से ही हमारा जीवन उत्तम बन पाता है, प्रभु के रक्षण अहिंसित व शिव हैं। उनसे मैं स्वस्थ, निर्मल व दीप्त बनता हूँ। २. वे प्रभु **हिरण्यजिह्वः**=हितरमणीय जिह्वावाले हैं, उनकी एक-एक प्रेरणा जीवन के हित का साधन करनेवाली व अत्यन्त सुन्दर है। उस प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति **सुविताय**=सदा **सु इत**=उत्तम आचरण के लिए होता है, कभी दुरितों में नहीं फँसता। **नव्यसे**=(नू स्तुतौ) यह प्रभु के स्तवन में प्रवृत्त होता है, यह प्रकृति के आकर्षण का शिकार नहीं हो जाता। प्रकृति का सौन्दर्य भी उसे प्रभु का स्तवन करते ही प्रतीत होता है। ३. यह 'भरद्वाज' प्रभु से आराधना करता है कि **अघशंसः**=पाप का शंसन करनेवाला कोई व्यक्ति **नः**=हमारा **माकिः ईशत**=ईश न हो जाए, अर्थात् उसकी बातों से प्रभावित होकर हम पाप में प्रवृत्त न हो जाएँ। पाप-प्रशंसकों की बातों में न आकर ही हम अपनी शक्ति को स्थिर रखनेवाले 'भरद्वाज' बने रह सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का रक्षण अदब्ध व शिव है। प्रभु की प्रेरणा हितरमणीय है। उसका सुननेवाला शुभमार्ग से विचलित नहीं होता और दुष्टों की बातों से बहक नहीं जाता।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

जमदग्नि

आ नो॑ य॒ज्ञं दि॑वि॒स्पृश॒ं वायो॑ या॒हि सु॒मन्म॑भिः।
अ॒न्तः प॒वित्र॒ऽउ॒परि॑ श्रीणा॒नो॒ऽयꣳ शु॒क्रोऽअ॑यामि ते ॥८५॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—हे **वायो**=निरन्तर क्रियाशील जीव! (वा=गति) तू **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यजुर्वेद में प्रतिपादित इस यज्ञरूप कर्म को **आयाहि**=सर्वथा प्राप्त हो। यह यज्ञरूप कर्म **दिविस्पृशम्**=तुझे द्युलोक को स्पर्श करानेवाला है। यज्ञों से तू स्वर्ग को प्राप्त करेगा। इन यज्ञों को तूने **सुमन्मभिः**=उत्तम ज्ञानों के साथ प्राप्त होना (मन्=अवबोध)। ज्ञानशून्य यज्ञों में तो अपवित्रता के आने की आशंका है। वायु ऋषि को प्रभु ने यजुर्वेद का ज्ञान दिया और कहा कि इस ज्ञान के साथ चलनेवाले 'दिविस्पृश' यज्ञों को तू निरन्तर करनेवाला बनना। २. अब वायु प्रभु को उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे पितः! मैं (क) **अन्तः पवित्रः**=अन्दर से पवित्र बनता हुआ (ख) **उपरि श्रीणानः**=बाहरी जीवन को कुछ तपस्वी बनाता हुआ, परिपक्व करता हुआ (ग) **अयम्**=यह मैं **शुक्र**=(शुक् गतौ) निरन्तर क्रियाशील बनता हुआ और परिणामतः (शुच् दीप्तौ) दीप्त होता हुआ **ते आयामिः**=आपके समीप (अय गतौ, व्यत्यय से परस्पैपद) आता हूँ।

प्रभु ने जीव को ज्ञानपूर्वक यज्ञों को अपनाने के लिए कहा था, जीव उसका बड़ी सुन्दरता से उत्तर देता हुआ कहता है कि मैं पवित्रता, तप, क्रियाशीलता व दीप्ति का समन्वय करता हुआ अवश्य आपके समीप प्राप्त होनेवाला बनूँगा। अन्दर की पवित्रता के लिए बाह्य तप आवश्यक है। उसके बिना जीवन विलासी बनेगा न कि पवित्र। दीप्ति के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। यहाँ 'शुक्र' शब्द में दोनों का भाव निहित है। इस प्रकार के जीवनवाला व्यक्ति अन्त तक **'जमदग्नि'**=जीमनेवाली अग्निवाला, अर्थात् ठीक जठराग्निवाला बना रहता है। इसका शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ता नहीं।

भावार्थ—जमदग्नि के जीवन में यज्ञ, ज्ञान, पवित्रता, तप, क्रियाशीलता व दीप्ति की साधना निरन्तर चलती है।

ऋषिः—**तापसः**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

नीरोगता+निर्मलता अनमीव+सुमनाः=तापस=जितेन्द्रियता+क्रियाशीलता

इन्द्र॑वा॒यू सु॑स॒न्दृशा॑ सु॒हवे॒ह ह॑वामहे ।
यथा॑ नः॒ सर्व॒ऽइज्जनो॒ऽनमी॒वः स॒ङ्गमे॑ सु॒मना॒ऽअस॑त् ॥८६॥

१. 'इन्द्र' वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, दूसरे शब्दों में जितेन्द्रिय है। इन्द्रियाँ उसके घोड़े हैं, वह उनपर दृढ़ता से आरूढ़ है। आत्मवश्य इन्द्रियों से वह इस विषयात्मक संसार में विचरता है, इसी कारण वह विषयों की दलदल में नहीं फँसता। इन्हीं इन्द्रियों को वश में करके मनुष्य त्रिभुवन का विजेता बनता है, सिद्धि को प्राप्त करता है। २. 'वायु' शब्द क्रियाशीलता के द्वारा सब मलों के हिंसन का सूचन करता है (वा गतिगन्धनयोः, गन्धनं=हिंसनम्) जबतक क्रिया में लगे रहते हैं किसी प्रकार के अवाञ्छनीय विचार मन में उत्पन्न नहीं होते। खाली हुए और बुराइयाँ आईं। खाली मन ही अशुभ विचारों का पात्र बनता है। ३. **इन्द्रावायू**=जितेन्द्रियता और क्रियाशीलता **सुसन्दृशा**=जब (सम्) एक ही (दृश्) दिखती हैं तो बड़ी ही (सु) उत्तम प्रतीत होती है। अकेली जितेन्द्रियता भी पर्याप्त

नहीं, अकेली क्रियाशीलता भी अधूरी है। ये दोनों इकठी ही मानव-जीवन को सुन्दर बनाती हैं। अतएव **सुहवा**=उत्तमता से पुकारने योग्य हैं। **इह**=इस अपने जीवन में हम दोनों की ही **हवामहे**=आराधना करते हैं। प्रभुकृपा से हम जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र) और क्रियाशील (वायु) हों। ४. इन दोनों तत्त्वों का होना इसलिए आवश्यक है कि **यथा**=जिससे **नः**=हमारे **सर्व इत् जनः**=सभी मनुष्य **अनमीवः**=नीरोग हों और **संगमे**=मिलकर चलने में **सुमनाः**=सदा उत्तम मनवाले **असत्**=हों। स्वास्थ्य के लिए जितेन्द्रियता सर्वमहान् साधन है। चरक कहते हैं कि 'हिताशी स्यात्' मिताशीस्यात्, कालभोजी, जितेन्द्रियः'=यदि स्वस्थ बनना चाहते हो तो (क) पथ्य का, परिमित मात्रा में, समय पर सेवन करो और (ख) जितेन्द्रिय बनो। पथ्य भी हो, मात्रा भी ठीक हो, समय पर भोजन चले, परन्तु जितेन्द्रियता के अभाव में यह सब व्यर्थ हो जाता है। एवं, इन्द्र ही स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर क्रियाशील रहता है वही राग-द्वेष आदि से ऊपर उठ पाता है। उसका मन सदा निर्मल बना रहता है। जितेन्द्रियता नीरोगता का कारण है तो क्रियाशीलता निर्मलता का। जितेन्द्रियता शरीर को दीप्त करती है तो क्रियाशीलता मन को। ५. यह जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता ही सच्चा तप है। इस तप के जीवनवाला 'तापस' इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में जितेन्द्रियता के साथ क्रियाशीलता हो, जिससे कि हम 'अनमीव व सुमन', नीरोग व निर्मल बन पाएँ।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

जमदग्नि का रोग व क्रोध शमन

ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये।
यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टयऽआचक्रे हव्यदातये॥८७॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि-हम 'इन्द्र और वायु' इन दोनों तत्त्वों को अपने जीवन में अपनाएँ। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का सूचक है, तो 'वायु' क्रियाशीलता का। **इत्था**=इस प्रकार इन दोनों को अपनाने से **ऋधक्** =सचमुच **सः मर्त्यः**=वह मनुष्य '**शशमे**=अपने शरीर में रोगों को शान्त करता है और मन में क्रोध को है। इस प्रकार यह अपने शरीर व मन को स्वस्थ करके **देवतातये**=दिव्य गुणों के विस्तार के लिए अपने को तैयार करता है। वस्तुतः स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मन दिव्य गुणों के लिए एक उर्वरा भूमि है। २. ऐसा कर वह पाता है **यः**=जो **नूनम्**=निश्चय से **मित्रावरुणौ**=प्राणापान को **अभिष्टये**=शरीर व मानस रोगों पर आक्रमण के लिए **आचक्रे**=नियत कर देता है, अर्थात् जो व्यक्ति प्राणसाधना करता है उसका शरीर भी स्वस्थ रहता है, मन भी निर्मल बना रहता है। इस प्रकार यह व्यक्ति **हव्यदातये**=कर्मफल के काटने के लिए होता है (दा लवने), अर्थात् कर्मबन्धन से ऊपर उठ पाता है। अभिष्टि=आक्रमण। प्राणापान शरीर के पहरेदार हैं, ये शरीर में आनेवाले रोग व मलों पर आक्रमण करते हैं। असुरों ने आक्रमण किया, परन्तु प्राणापान से टकराकर वे मिटी के ढेले के समान पत्थर से टकराकर चकनाचूर हो गये। ये मित्रावरुण 'प्राणापान' है, साथ ही ये 'स्नेह व द्वेष-निवारण' की देवता हैं, ये मनुष्य को 'काम' से ऊपर उठाकर कर्मबन्धन से भी मुक्त करते हैं, अतः इन्हें 'हव्यदातये' कर्मबन्धन के विच्छेद के लिए सदा पहरेदार के रूप में नियुक्त करना उपयुक्त है। 'हव्यदातये' का अर्थ शतपथ के अनुसार 'यजमान' के लिए है। प्राणसाधना से काम पर विजय पाकर हम सच्चे यजमान बनते हैं। ३. ८५वें मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि' है, ८६वें का 'तापस' है और ८७ का 'जमदग्नि'। एवं

जमदग्नि से प्रारम्भ है और जमदग्नि पर समाप्ति है, बीच में 'तापस' है। एवं, संकेत स्पष्ट हैं कि जमदग्नि ने यदि जमदग्नि बने रहना है तो आवश्यक है कि वह 'तापस' बना रहे, बच्चा जमदग्नि है, तीव्र जाठराग्निवाला है। यदि वह जीवन में तपस्वी बना रहेगा तो अन्त तक इसकी जठराग्नि भी बनी रहेगी। अन्यथा आराम का जीवन बिताता हुआ यह अपने विलास से जठराग्नि का विनाश तो कर ही बैठेगा और तब कितने ही रोग इसे आ घेरेंगे एवं, 'जमदग्नि, तापस, जमदग्नि' यह कितना सुन्दर क्रम है। जमदग्नि ऋषि के मन्त्रों को इकठा कर देने पर इस क्रम का महत्त्व विनष्ट हो जाता है, अत: वेद मन्त्रों का क्रम भी अपरिवर्तनीय-सा ही प्रतीत होता है।

भावार्थ—हमारा जीवन 'जमदग्नि, तापस, जमदग्नि' का जीवन हो।

ऋषि:—**वसिष्ठ:**। देवता—**अश्विनौ**। छन्द:—**निचृद्बृहती**। स्वर:—**मध्यम:**॥

प्राणापान की साधना

आ यातमुप भूषतं मध्व: पिबतमश्विना।
दुग्धं पयो वृषणा जेन्यावसू मा नो मर्धिष्टमा गतम्॥८८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'अश्वनौ' प्राणापान हैं। इनकी साधना करके इनको अपने वशमें करनेवाला 'वशिष्ठ' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है—२. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **आयातम्**=सर्वत्र प्राप्त होवो। 'अशूङ् व्याप्तौ' से अश्विनी शब्द बना है। सारे शरीर में व्याप्त होनेवाले। 'प्राणापान' का उद्देश्य इन्हीं अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुँचने से है, जिस-जिस अङ्ग में ये प्राणापान पहुँचते हैं, वहाँ-वहाँ की मलिनता को भस्म करके ये उस-उस अङ्ग को पूर्ण नीरोग बनाते हैं। वस्तुत: किसी स्थानविशेष में इनके ठीक-ठीक न पहुँचने से उस-उस स्थान के अङ्ग मृत होना आरम्भ हो जाते हैं, शायद यही केंसर का मूल हो। प्राणसाधना से उस अङ्ग का जीवित किया जा सकना सम्भव है। एवं, एक योगी केन्सर का शिकार नहीं होता, हुए-हुए केंसर को भी यह दूर कर सकता है। २. इस प्रकार हे प्राणापानो! मेरे अङ्गों को नीरोग करके उन्हें **उपभूषतम्**=स्वस्थ्य व अपने-अपने कार्य में कुशलता से अलंकृत करो। मेरी आँख दृष्टिशक्ति से सुशोभित हो, तो कान सुनने की शक्ति से अलंकृत हो जाएँ। इस प्रकार हे प्राणापानो! तुम मेरे सारे शरीर को सुशोभित कर दो। ३. **मध्व: पिबतम्**=इस अलंकरण प्रक्रिया के लिए तुम अन्न के सारभूत् मधु, अर्थात् सोम का पान करो। तुम्हारी साधना से मेरे अन्दर सुत (उत्पन्न हुआ) सोम मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रविष्ट होकर उसे स्वस्थ बनाये। यह वीर्यशक्ति ही (वि=विशेषरूप से ईर=) रोगों व विकारों को कम्पित करनेवाली हो। इसी से सब अङ्ग नीरोग होकर सुशोभित होंगे। ४. इस वीर्यरक्षा के द्वारा **पय:**=अप्यायन को **दुग्धम्**=मुझमें प्रपूरित करो (दुह प्रपूरणे)। 'पय:' शब्द दूधके लिए भी इसी कारण प्रयुक्त होता है कि यह अप्यायन करनेवाला है। (ओप्यायी वृद्धौ)। यदि शरीर में वीर्य सुरक्षित होता है तो यह एक-एक अङ्ग के अप्यायन का कारण बनता है। ५. **वृषणा**=हे प्राणापानो! आप 'वृषणा' हो, मुझे शक्तिशाली बनानेवाले हो। ६. **जेन्यावसू**=मेरे लिए सब वसुओं को जीतनेवाले हो। निवास के लिए आवश्यक तत्त्व ही वसु हैं। इस प्राणसाधना से वे सब वसु प्राप्त होते हैं। ७. **न:**=हमें **मा**=मत **मर्धिष्टम्**=हिंसित करो। ये प्राणापान हमें नीरोग व शक्तिशाली बनाकर पूर्ण दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाला बनाएँ। ८. **आगतम्**=ऐसे ये प्राणापान मुझे प्राप्त हों। मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में इनकी गति हो। मन्त्र का प्रारम्भ 'आयातम्' शब्द से था, समाप्ति 'आगतम्' पर है। दोनों की भावना एक ही है

(या=गम)। वस्तुतः प्राणापान का लाभ तभी है जब ये शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुँचे। एक गहरा श्वास लेकर सारे शरीर में प्राण को पहुँचाने का प्रयत्न करें। अपान के समय उसे पूरे रूप से बाहर फेंकें। वस्तुतः पूरक व रेचक तो आनुपातिक ढंग से ही चलते हैं। जितना रेचक ठीक होगा उतना ही पूरक भी ठीक हो जाएगा। इस मन्त्र का ऋषि इस प्राणापान को वशवर्ती करनेवाला वशिष्ठ है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम पूर्ण नीरोगता का लाभ करें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

कण्व का संग्रह—मस्तिष्क, हृदय, हाथ—ज्ञान, सत्य, यज्ञ

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥८९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाला वसिष्ठ कण-कण करके उत्तमताओं का संग्रह करता है। इसी कारण 'कण्व' कहलाता है। वह कहता है—२. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता, ज्ञान का पति **प्र एतु**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो। (ब्रह्म=वेद) मेरा मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त हो। वह ब्रह्मणस्पति का अधिष्ठान बने। ३. **देवी**=सब दिव्य गुणों की जननी **सूनृता**=(सु+ऊन+ऋत) उत्तमता से दुःखों का परिहाण करनेवाली सत्यवाणी **प्र एतु**=हमें खूब प्राप्त हो। मेरा हृदय इस 'सूनृता देवी' का निवासस्थान बने। मैं सत्य वाणी ही बोलूँ। सत्य को भी इस उत्तमतासे बोलूँ कि वह औरों के दुःखों का परिहरण करनेवाला हो। ४. **देवाः**=सब देव, सत्य के द्वारा प्राप्त हुए-हुए सब दिव्य गुण **नः**=हमें **यज्ञम्**=यज्ञ को **अच्छ**=आभिमुख्येन **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ, अर्थात् हमारी रुचि यज्ञों की ओर हो। हमारा मस्तिष्क ज्ञान का अधिष्ठान बने, हृदय सत्यवाणी का और इसी प्रकार हमारे हाथ यज्ञों में व्याप्त रहें जो यज्ञ **वीरम्**=(वि+ईर) हमारे से बुराइयों को कम्पित करके दूर भगा देते हैं। **नर्यम्**=जो यज्ञ नरहित को साधनेवाले हैं तथा **पंक्तिराधसम्**=पाँचों को सिद्ध करनेवाले हैं (राध=सिद्ध करना)। यहाँ पाँच शब्द कर्मेन्द्रिय पञ्चक, ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, अन्तःकरण का अवयव पञ्चक (हृदय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) तथा प्राणपञ्चक के लिए है। यज्ञ इन सबके लिए हितकर है। यज्ञ से वृत्ति सुन्दर होती है, वृत्ति के सुन्दर हो जाने पर ये सब सुन्दर हो जाते हैं। एवं, कण्व कण-कण करके सब दिव्य गुणों का संग्रह कर लेता है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना द्वारा वसिष्ठ बनकर हम कण-कण करके अच्छाइयों का संग्रह करनेवाले बनें। हमारा मस्तिष्क ब्रह्मणस्पति का निवास-स्थान हो, हृदय सूनृता देवी का तथा हाथ यज्ञों के आश्रय बनें।

ऋषिः—**त्रितः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

कर्म, ज्ञान, स्तुति—'त्रित' का जीवन

चन्द्रमाऽअप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहꣳ हरिरेति कनिक्रदत्॥९०॥

१. पिछले मन्त्र का कण्व 'ज्ञान, सत्य व यज्ञ' का विस्तार करके 'त्रीन् तनोती इति त्रितः' प्रस्तुत मन्त्र का त्रित बन जाता है। इस त्रित का जीवन निम्न प्रकार का होता है। २. **चन्द्रमा**=इसका सदा आह्लादमय रहनेवाला मन **अप्सु**=व्यापक कर्मों के **अन्तरा**=बीच

में रहता है, अर्थात् यह अपने मन को व्यापक कर्मों में लगाये रखता है। मन को यहाँ चन्द्रमा शब्द से स्मरण किया है। मन चन्द्रमा है ही। **'चन्द्रमा मनसो जातः'**=विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है और चन्द्रमा से पिण्ड में मन की। मन सदा आह्लादमय होना चाहिए और वह सदा व्यापक कर्मों में लगा रहे। वही मन शुद्ध रहता है जो कर्मव्यापृत रहता है। ३. **सुपर्णः**=शोभन (सु) पालनादि कर्मों में लगा हुआ (पृ पालनपूरणयोः) यह 'चित्त' **दिवि**=ज्ञान में **धावते**=(धाव्=शुद्धि) अपने को शुद्ध करता है। अपने को सदा ज्ञान में शुद्ध करते रहने से ही इसके कर्मों की पवित्रता बनी रहती है। ४. यह त्रित ज्ञान से सब मलों को दूर करके 'हरि' बना है, मलों का अपहरण करनेवाला अथवा इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करने के कारण यह 'हरि' है। यह हरि **रयिम्**=उस ज्ञान की सम्पत्ति को **एति**=प्राप्त होता है जो (क) **पिशंगम्**=दीप्त है (Bright), चमकीली है, जिसमें मलों का सम्पर्क नहीं। (ख) **बहुलम्**=जो ज्ञान की सम्पत्ति (बहून् लाति) अपनी 'मैं' में बहुतों का समावेश कर लेती है, अपनी 'मैं' को व्यापक बना लेती है। ज्ञानी पुरुष सभी में प्रभु की सत्ता को देखता है, अतः सभी को अपने से अभिन्नरूप में देखता है। (ग) **पुरुस्पृहम्**=यह ज्ञान-धन पालन व पूरण करनेवाला है, अतएव स्पृहणीय है। इस ज्ञानधन को यह 'हरि' पाता है। इसको पाकर वह सदा ५. **कनिक्रदत्**=उस प्रभु के नामों का ख़ूब उच्चारण करनेवाला बनता है। इसके जीवन में प्रभु का उपासन सतत चलता है।

भावार्थ—इस त्रित के जीवन में तीन बातें हैं—(क) यह प्रसन्नतापूर्वक कर्मों में लगा रहता है (ख) ज्ञान में अपना शोधन करता है, ज्ञान-सम्पत्ति को बढ़ाता है (ग) सदा प्रभु-स्मरण करता है।

ऋषिः—**मनुः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

देवों का आह्वान

देवंदेवं वोऽवसे देवं देवमभिष्टये।
देवंदेवं हुवेम वाजसातये गृणन्तो देव्या धिया॥९१॥

१. **वः**=आपमें से **देवं देवम्**=प्रत्येक देव को **अवसे**=रक्षण के लिए **हुवेम**=पुकारते हैं। शरीर में रोगों का प्रवेश तभी होता है जब वहाँ दिव्य गुणों का स्थान विषय-वासनाएँ ले-लेती हैं। भोगवृत्ति आते ही रोग आने लगते हैं। एक समझदार व्यक्ति=मनु इस बात का पूरा ध्यान करता है कि कहीं विलास उसके विनाश का कारण न बन जाए। २. **देवं देवम्**=हम प्रत्येक देव को **हुवेम**=पुकारते हैं **अभिष्टये**=(क) वासनाओं पर आक्रमण के लिए और (ख) वासनाओं पर आक्रमण करके अभीष्ट की प्राप्ति के लिए। वासनाओं को दूर करने का उपाय 'प्रतिपक्षभावनम्'=वासना विरोधी दिव्य गुणों का भावन ही है। झूठ को दूर करने के लिए हमें उस स्थान पर सत्य को लाकर बिठाना चाहिए। प्रकाश को लाएँगे, अन्धकार तो भाग ही जाएगा। ३. हम **देवम् देवम्**=प्रत्येक देव को **हुवेम**=पुकारते हैं **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए। दिव्य गुणों के निवास से शक्ति बढ़ती है, इनके ह्रास में शक्ति का ह्रास है। ४. इस प्रकार देवों को प्राप्त करने से शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होता, मन वासनाओं से अभिभूत नहीं होता और हमारा जीवन सशक्त बना रहता है, परन्तु इन देवों का आह्वान होता कैसे है—**देव्या धिया गृणन्तः**=दिव्य बुद्धि से प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए। जब हमारी वाणी प्रभु के नामों का उच्चारण करेगी और हम

दिव्य गुणों की कामनावाली बुद्धि से उन नामों का भावन व चिन्तन करेंगे तभी ऐसा हो पाएगा।

भावार्थ—'मनु'=एक समझदार व्यक्ति दिव्यगुणों को धारण करता है, जिससे उसका शरीर नीरोग हो पाए, उसका मन वासनाओं पर आक्रमण कर, उन्हें पराजित कर सके और वह शक्ति का धारण कर पाए। इसी उद्देश्य से वह बुद्धिपूर्वक प्रभु नाम-स्मरण में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—**मेधः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

एक आदर्श प्रचारक

दि॒वि पृ॒ष्टोऽअ॑रोचता॒ग्निर्वै॑श्वान॒रो बृ॒हन्।

क्ष्मया॑ वृधा॒नऽओज॑सा॒ चनो॑हितो॒ ज्योति॑षा बाधते॒ तमः॑॥९२॥

१. पिछले मन्त्र का मनु इस मन्त्र में 'मेध' (मेधृ संगमे) लोगों से सम्पर्क करनेवाला बनता है। अपना परिपाक करके ही प्रचार-क्षेत्र में उतरना ठीक है। दिव्य गुणों की आराधना करनेवाला ही दिव्यता का प्रसार कर सकता है। इस 'मेध' का जीवन निम्न शब्दों में द्रष्टव्य है—२. **दिवि पृष्टः**=यह प्रकाश में स्थित होता है, प्रकाश से संस्पृष्ट। यह अपने जीवन का आधार ज्ञान को बनाता है। इसकी श्रद्धा भी ज्ञानमूलक होती है। ३. **अरोचत**= इस ज्ञान के कारण ही यह (रुच दीप्तौ) दीप्त होता है। वस्तुतः ज्ञान से इसका जीवन पवित्र होता है, और पवित्रता में ही चमक है। ४. **अग्निः**=यह अपने जीवन को अग्रस्थान में प्राप्त कराता है, औरों को भी आगे ले-चलनेवाला होता है। ५. **वैश्वानरः**=(विश्व नरहितः) सब मनुष्यों के हित की भावना इसके मस्तिष्क में रहती है। ६. **बृहन्**=(बृहि वृद्धौ) इसका मन महान् होता है। संकुचित हृदय में ही रागद्वेष रहते हैं। हृदय की विशालता के कारण यह रागद्वेष से ऊपर उठा होता है। ७. **क्ष्मया वृधानः**=लोकहित में प्रवृत्त होने पर जब लोग इसका अपमान व बुरा करते हैं, तो यह क्षमा से बढ़ा होता है। यह उनको क्षमा करना जानता है। इसे उनकी अज्ञानता पर करुणा उत्पन्न होती है। ८. **ओजसा**=यह 'ओज' से युक्त होता है। वस्तुतः ओजस्वी होने के कारण ही क्षमाशील होता है। निर्बलता चिड़चिड़ेपन का कारण बन जाती है। ९. **चनोहितः**=यह अन्न पर आश्रित होता है। इसका जीवन वनस्पति भोजन पर निर्भर करता है। यह अपने शरीर के पोषण के लिए परहिंसन को पाप समझता है। मांसभोजन के मूल में ही क्रूरता, निर्दयता व स्वार्थ है। एक प्रचारक को इनसे ऊपर उठना आवश्यक है। १०. ऐसे जीवनवाला यह 'मेध' **ज्योतिषा**=ज्ञान की ज्योति से **तमः**=अन्धकार को **बाधते**, पीड़ित करता है, दूर करता है। यह लोगों के अज्ञान को दूर करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को 'मेध' का जीवन बनाएँ और संसार में प्रकाश फैलानेवाले बनें।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

एक आदर्श पत्नी

इन्द्रा॑ग्नीऽअ॒पादि॒यं पूर्वागा॑त्प॒द्वती॑भ्यः।

हि॒त्वी शिरो॑ जि॒ह्वया॒ वाव॑द॒च्चर॑त्त्रि॒ꣳशत्प॒दा न्य॑क्रमीत्॥९३॥

१. 'इन्द्राग्नी' शब्द द्विवचन है, परन्तु मन्त्रके अगले 'अपात्', 'इयं' आदि सब शब्द

एकवचन हैं, अतः 'इन्द्र और अग्नि' अर्थ न करके हम 'इन्द्र की अग्नि' अर्थ लेंगे। घर में पुरुष ने 'इन्द्र' होना, अर्थात् पति को सदा जितेन्द्रिय होना। इसकी पत्नी अग्नि है, घर की सब प्रकार की उन्नति का कारण है। गृहिणी ने घर को सब दृष्टिकोणों से उन्नत करना है। इससे एक बात तो सुव्यक्त है कि उसका स्थान घर में हैं, उसने इधर-उधर नहीं घूमना। घूमती हुई पत्नी ठीक नहीं मानी जाती, अतः मन्त्र को इस भावना से प्रारम्भ करते हैं २. **इयम्**=यह 'अग्नि' घर की उन्नतिसाधक पत्नी **अपात्**=बिना पाँववाली है, अर्थात् यह व्यर्थ में इधर-उधर नहीं घूमती। 'अपात्' यह कितनी सुन्दर काव्यमय भाषा है, बाहर जाने के लिए उसके पाँव ही नहीं हैं। ३. 'अपात्' होती हुई भी यह घर में बड़ी क्रियाशील है। **पद्वतीभ्यः**=उत्तम पाँववालियों से भी **पूर्वा अगात्**=पहले पहुँची होती है, अर्थात् यह अधिक-से-अधिक क्रियामय जीवनवाली होती है। घर के कार्यों में बड़ी स्फूर्तिवाली होती है। ४. यह अपनी प्रत्येक क्रिया को पूर्ण समझदारी के साथ करती है **शिरः हित्वी**=सिर को धारण (दधातेर्हिः) करके चलती है। इसका मस्तिष्क सदा सन्तुलित रहता है। इसी कारण यह अपने कार्यों को कुशलता से कर पाती है। ५. यह अपने कार्यों को करती हुई **जिह्वया**=जिह्वा से **वावदत्**=निरन्तर प्रभु के पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करती है। ६. **चरत्**=उन नामों के अनुसार यह अपनी क्रिया को भी बनाती है। उन नामों को आचरण में लाती है। 'प्रभु दयालु हैं' तो यह भी दयालु बनने का ध्यान करती है और इस प्रकार इसका जीवन प्रभु के गुणों को अपने में धारण कर रहा होता है। जिस पत्नी का जीवन इस प्रकार प्रभु के गुणों को धारण करके प्रभु का ही छोटा रूप हो जाता है, वहाँ देवों का निवास तो होगा ही। यही बात यहाँ निम्न शब्दों में कहते हैं-७. यह पत्नी **त्रिंशत् पदा**=तीस (पद गतौ) कदमों से **न्यक्रमीत्**=निश्चयपूर्वक चलती है, अर्थात् अपने घर में तीस देवों के निवास के लिए प्रयत्नशील होती है। पति 'इन्द्र' देवता है, पत्नी भी 'अग्नि' देवता ही है, अतः इनका सन्तान भी देव क्यों न होगा? एवं, 'पति, पत्नी व सन्तान' तीन मुख्य देव तो ये हुए, इनके अतिरिक्त तीस देवों, अर्थात् सब अच्छाइयों को अपने घर में लाने का पत्नी ने प्रयत्न करना है। जब ये अपने प्रयत्न में सफल होकर घर को तैंतीस देवों का निवासस्थान बना पाती है तब वहाँ ३४वें महादेव का निवास तो होता ही है। वही घर प्रभु का घर बनता है जहाँ देवों का निवास हो, ऐसा घर देवगृह बनकर 'स्वर्ग' बन जाता है।

भावार्थ—पत्नी घर में रहकर निरन्तर क्रियाशीलता से घर को बड़ा सुन्दर बना पाती है। यह समझदारी से प्रत्येक काम को करती है। प्रभु को नहीं भूलती। प्रभु का अनुकरण करने का प्रयत्न करती है और अपने घर को देवों का निवासस्थान बनाकर प्रभु को आमन्त्रित करती है।

ऋषिः—**मनुः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वरिवोवित् देव

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकꣳ सरातयः।
ते नोऽअद्य तेऽअपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः॥९४॥

१. **मनवे**=मनु के लिए **विश्वे देवासः**=सब देव **साकम्**=साथ मिलकर **सरातयः**='राति'-वाले **हि**=निश्चय से **स्म**=हों। राति अर्थात् देना। देवों ने देवत्व ही तो देना है। गतमन्त्र में कहा गया था कि आदर्श पत्नी सब देवों को घर में लाने का प्रयत्न करती है। जो व्यक्ति

समझदार होता है, उसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि आदि सभी देव देवत्व प्राप्त कराने का प्रयत्न करते हैं। ये देव कैसे हैं? **समन्यवः**=समान मन्युवाले। समान ज्ञानवाले—परस्पर एकमतवाले। यदि घर में माता-पिता 'समन्यु' न हों तो बालक पर ठीक प्रभाव नहीं पड़ता। शिक्षणालय में अध्यापक 'समन्यु' न हों तो विद्यार्थियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्र के, मन्त्रिमण्डल में ऐक्य न हो तो राष्ट्र की व्यवस्था बिगड़ जाती है, अतः सभी देवों का एक ही संकल्प है, और वह यह कि मनु को अपना देवत्व प्राप्त कराकर उन्नत बनाना। 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'=उत्तम माता, पिता व आचार्यवाला व्यक्ति ही विद्वान् बनता है। २. **ते**=वे विद्वान् **अद्य**=आज **नः**=हमें **वरिवोविदः**=ज्ञानरूप धन को प्राप्त करनेवाले **भवन्तु**=हों **तु**=और **अपरम्**=अपरकाल में (afterward) **ते**=वे विद्वान् **नः तुचे**=हमारे सन्तानों के लिए भी **वरिवोविदः**=इस ज्ञान-धन को प्राप्त करानेवाले हों।

जैसे हमें ज्ञानियों ने ज्ञान प्राप्त कराया, इसी प्रकार हमारी सन्तानों को भी ज्ञानियों का सम्पर्क मिले और वे भी ज्ञान-धन के धनी बन पाएँ। वस्तुतः सन्तानों के लिए इससे उत्तम और क्या प्रार्थना हो सकती है? ३. प्रस्तुत मन्त्र में देवताओं के लिए जहाँ **'समन्यवः'**=ज्ञानसहित तथा समान ज्ञानवाले और **सरातयः**=देने की वृत्ति से युक्त—ये दो बातें कही गई हैं, वहाँ लेनेवाला भी **मनुः**=समझदार होना चाहिए। उसकी वृत्ति भी लेनेवाली हो। उसके अन्दर 'प्रणिपात, परिप्रश्न व सेवा की भावना' हो, जिससे कि देव सचमुच मिलकर उसके जीवन का सुन्दर निर्माण कर पाएँ। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ऐसा निर्माण किये जाने की योग्यता रखनेवाला 'मनु' ही है।

भावार्थ—हमें देवताओं का सम्पर्क प्राप्त हो और हम ज्ञानरूप धन को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

हिंसा से दूर

अपाधमदभिशस्तीरशस्तिहाथेन्द्रो द्युम्न्याभवत्।
देवास्तऽइन्द्र सख्याय येमिरे बृहद्भानो मरुद्गण ॥९५॥

१. गत मन्त्र का मनु देवों से देवत्व प्राप्त करके अब नृमेध बनता है, औरों के सम्पर्क में आकर उनके हित में प्रवृत्त होता है। २. यह नृमेध **अभिशस्तीः**=सब प्रकार की हिंसाओं को **अपाधमत्**=अपने से दूर फेंकता है, इन वृत्तियों को समाप्त करके अपने से दूर करके चमक जाता है। ३. यह केवल हिंसा से ही दूर नहीं होता। हिंसा तो यहाँ सब अवगुणों का प्रतीकमात्र है। यह नृमेध **अशस्तिहा**=सब अप्रशस्त बातों का नाश करनेवाला होता है। ४. **अथ**=अब—सब बुराइयों को दूर करके **इन्द्रः**=यह इन्द्रियों का अधिष्ठाता नृमेध **द्युम्नी**=ज्योतिरूप धनवाला **आभवत्**=सब प्रकार से हो जाता है। अधिक-से-अधिक व्यापक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। इस प्रकार—५. हे **बृहद्भानो** =वृद्ध (बढ़ी हुई) ज्ञान की दीप्तिवाले **मरुद्गण**=प्राणों के गण से युक्त नृमेध! **देवाः**=सब देव हे **इन्द्र**=इन्द्र! **सख्याय**=प्रभु से मित्रता केलिए **ते**=तेरे जीवन को **येमिरे**=नियमित बनाते हैं। प्राणों की साधना से सब देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है और यह नृमेध प्रकृति की आसक्ति से ऊपर उठकर प्रभु का मित्र बन पाता है।

भावार्थ—हम हिंसा से दूर रहें, बुराइयों को नष्ट करें, ज्ञानधन को प्राप्त करें, प्राणसाधना से देवों की अनुकूलता का सम्पादन करके प्रभु के सखा बनें।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्राणों का ब्रह्मार्चन—शतपर्व वज्र

प्र वऽइन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।
वृत्रᳪ हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा॥९६॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=अपने **बृहते**=ज्ञान का वर्धन करनेवाले **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता आत्मा केलिए **ब्रह्म प्रार्चत**=उस ब्रह्म की प्रकर्षेण अर्चना करो। प्राणों के संयम से ही प्रभु का ठीक आराधन सम्भव है। २. प्रभु का आराधन करके यह इन्द्र **'वृत्रहा'**=वृत्र का नाश करनेवाला बनता है। आत्मा के ज्ञान पर पर्दा डालनेवाली वासना ही वृत्र है। इस **वृत्रम्**=कामरूप वृत्र को यह प्राणों द्वारा ब्रह्मार्चन करनेवाला **हनति**=नष्ट कर डालता है। काम 'प्रद्युम्न' है=प्रकृष्ट बलवाला है। इसे मारना सुगम नहीं, परन्तु जब ब्रह्म की आराधना सम्पन्न होती है, तब यह काम 'भस्मीभूत' हो जाने के भय से वहाँ आता ही नहीं। ३. काम से ऊपर उठकर जीव 'शतक्रतु' बनता है। **शतक्रतुः**=यज्ञकर्त्ता जीव **शतपर्वणा वज्रेण**=सौ पर्वोंवाले वज्र से वृत्र को मार गिराता है। शतक्रतु के इस 'शतपर्व वज्र' का अभिप्राय **शत**=सौ-के-सौ वर्ष, अर्थात् जीवनपर्यन्त पर्व=(पूरणे) अच्छाइयों को अपने में पूरण करनेवाली (वज् गतौ) क्रियाशीलता ही है। मनुष्य जब तक क्रियाशील रहता है तब तक उसमें बुराइयों का प्रवेश नहीं होता। अकर्मण्यता आई और बुराइयों का आक्रमण हुआ। एवं, अभिप्राय स्पष्ट है कि मनुष्य ने पूर्ण आयुष्यपर्यन्त क्रियामय बने रहना है। यह क्रिया लोकहित के लिए होती हुई यज्ञरूप हो जाती है। सब यज्ञ कर्म से ही होते हैं। यह क्रियाशीलता इन्द्र का 'शतपर्व वज्र' है, इसी से वह वृत्र का विनाश करता है।

भावार्थ—हमारे प्राण ब्रह्मार्चन में लगें। ब्रह्म की मित्रता से शक्तिशाली बनकर हम वृत्र का विनाश करें। 'सतत क्रियाशीलता' वृत्र-विनाश के लिए हमारा साधन बने।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**महेन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट् सतोबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

इन्द्र का वर्धन

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यᳪ शवो मदे सुतस्य विष्णवि।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा॥९७॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **अस्य इत्**=निश्चय से इस प्रभु का होता है। यह प्रकृति में आसक्त नहीं होता। प्रकृति का प्रयोग करता हुआ भी यह उसका उपभोग नहीं करने लग जाता और इसी का परिणाम होता है कि यह २. **वृष्ण्यं शवः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाली शक्ति को **वावृधे**=अपने अन्दर बढ़ाता है। भोग शक्ति को जीर्ण करते हैं। ३. इस शक्तिवृद्धि का रहस्य इस बात में है कि यह उत्पन्न सोम को शरीर के अन्दर ही व्याप्त करता है। भोगों में अनासक्त व्यक्ति ही ऐसा कर पाता है। **सुतस्य**=उत्पन्न हुए सोम के **विष्णवि**=(विश् व्याप्तौ) शरीर में व्याप्त होनेवाले **मदे**=उल्लास के होने पर यह इन्द्र अपने में शक्ति का वर्धन करता है। ४. **अद्य**=आज, जब ये भोगों का शिकार न होकर सोमरक्षा कर पाएँ हैं तब **अस्य**=इस प्रभु की **तम् महिमानम्**=उस प्रसिद्ध महिमा को **आयवः**=क्रियाशील होते हुए (एति इतिं आयुः) **अनुष्टुवन्ति**=गाते हैं, उसी प्रकार **पूर्वथा**=जैसेकि प्रकृति का रंग चढ़ने से पूर्व यह प्रभुकी उपासना करता था।

३३वें अध्याय की समाप्ति **'वावृधे वृष्ण्यं शवः'**=इसका सुखवषर्क बल बढ़ता है।

यह शक्तिशाली बनता है, इसकी शक्ति औरों को सुखी करनेवाली होती है, पीड़ित करनेवाली नहीं, पर होती है (क) इस ३३वें अध्याय का प्रारम्भ 'अस्याजरास्य' शब्दों से हुआ था कि 'इस प्रभु के भक्त जीर्ण नहीं होते' समाप्ति पर भी वही बात कही–इनकी शक्ति बढ़ती है। एवं, यह ३३वाँ अध्याय सब प्रकार की 'शक्ति' के वर्धन का अध्याय है। (ख) दूसरी ध्यान देनेवाली बात यह है कि यह-अध्याय ३३ संख्या पर है, देव भी तैतीस हैं। इन तैतीस देवों को अपने में धारण करने का इस अध्याय में कई बार उल्लेख है। इस अध्याय के ३३वें मन्त्र को 'दैव्यौ' शब्द से प्रारम्भ किया गया है, पति-पत्नी ने अपने में देवों की स्थापना करनी है। ६६वें मन्त्र में अपने में सब देवों की स्थापना करनेवाले असुरों का संहार करनेवाले 'देवराट् इन्द्र' का वर्णन है। अपने में इन देवों की स्थापना करनेवाला 'मेधातिथि'=निरन्तर समझदारी से चलनेवाला इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ–हम प्रभु के बनें, शक्तिशाली हों, प्रभु का स्तवन करें और उन्नत हों।

इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

—:0:—

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

दूरंगम मन

यज्जाग्र॑तो दू॒रमु॒दैति॒ दैवं॒ तदु॑ सु॒प्तस्य॒ तथै॒वैति॑।

दू॒र॒ङ्ग॒मं ज्योति॑षां॒ ज्योति॒रेकं॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु॥१॥

१. पिछले अध्याय की समाप्ति 'प्रभु का बनकर अपने में शक्तिवर्धन' के शब्दों में हुई थी। इस अध्याय को उसी शक्तिवर्धन के लिए मन को शिवसंकल्पवाला बनाने की प्रार्थना से आरम्भ करते हैं। इस प्रार्थना के कारण ऋषि का नाम ही 'शिवसंकल्प' हो गया है। यह मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करता है। 'कौन-से मन को?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्रों में दिया गया है, अतः इन मन्त्रों का देवता=विषय 'मन' है। २. शिवसंकल्प ऋषि प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! आपकी कृपा से **तन्मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शिवसंकल्पवाला **अस्तु**=हो। मन के अन्दर अद्भुत शक्ति है, यह वैद्युत व चान्द्रमस है, अतः इसमें विद्युत् के समान बल व चन्द्रमा के समान ओज विद्यमान है। मन की वृत्तियाँ विकीर्ण होने पर सामार्थ्य शून्य होती हैं, इसी से वे 'विकल्प'=विगत सामर्थ्यवाली कहलाती हैं, अतः प्रार्थना करते हैं कि हमारा मन विकल्पों से दूर होकर 'संकल्पों'वाला, सम्यक् सामर्थ्यवाला हो और साथ ही वह शक्ति 'शिव'=कल्याणकर हो, उसका उपयोग ध्वंस में न हो। कौन-सा मेरा मन ३. **यत्**=जो **जाग्रतः**=जागते हुए का **दूरम्**=दूर-दूर **उत्**=बाहर (out) **आ**=चारों ओर **एति**=जाता है। ऋग्वेद के 'मनोजगाम दूरकम्' इस सूक्त में १२ बार इन शब्दों को दुहराया गया है, यह मन तो दूर-दूर समुद्रों, पर्वतों व विविध दिशाओं में भटकता फिरता है। **दैवम्**=(देवस्य इदम्) यह मन इस शरीर के सम्राट् देवराट् इन्द्र का प्रमुख साधन था। प्रभु-प्राप्ति के लिए यह सर्वमहान् उपकरण था। जैसे आँख रूप का उपकरण है, उसी प्रकार यह मन परमात्मादर्शन का उपकरण है, परन्तु यह तो इधर-उधर भटक रहा है, अपने उद्दिष्ट कार्य में नहीं लगा। जागरित अवस्था में ही इधर-उधर जाता हो यह बात भी नहीं। **तत्**=वह मन **उ**=निश्चय से **सुप्तस्य**=सोते हुए का भी तथा एव जागते हुए की भाँति उसी प्रकार दूर-दूर तक जाता है। **दूरङ्गमम्**=दूर-दूर जाना जिसका स्वभाव है। **ज्योतिषम्**=ज्योतियों की **एकम्**=एकमात्र **ज्योतिः**=ज्योति है।

भावार्थ—मेरा मन सदा शिवसंकल्प करनेवाला हो।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अपूर्व मन

येन॒ कर्मा॑ण्य॒पसो॑ मनी॒षिणो॑ य॒ज्ञे कृ॒ण्वन्ति॑ वि॒दथे॑षु॒ धीराः॑।

यद॑पू॒र्वं य॒क्षम॒न्तः प्र॒जानां॒ तन्मे॒ मनः॑ शि॒वस॑ङ्कल्पमस्तु॥२॥

हे सर्वान्तर्यामिन् परमेश्वर! **येन**=जिस मन से **अपसः**=कर्म करनेवाले, **धीराः**=धैर्ययुक्त **मनीषिणः**=मन के विजेता विद्वान् लोग **यज्ञे**=यज्ञ में, श्रेष्ठतम कर्मों में और **विदथेषु**=संघर्षों

में, युद्धादि में **कर्माणि**=कर्मों को **कृण्वन्ति**=करते हैं, **यत्**=जो **अपूर्वम्**=अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, विलक्षण, अद्भुत, **यक्षम्**=अत्यन्त पूजनीय **प्रजानां अन्तः ओतम्**=यह मन प्रजाओं के अन्दर है। शरीर के ठीक मध्य में इसकी स्थिति है। यह कहलाता ही 'अन्तःकरण' है। पञ्चकोशात्मक शरीर में दो कोश एक ओर हैं और दो कोश दूसरी ओर और ठीक मध्य में है यह 'मनोमयकोश'। ६. **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम् अस्तु**=शुभ संकल्पोंवाला हो। जब यह विकल्पात्मक होता है तब निर्बल होकर मृत्यु का कारण बनता है, संकल्पात्मक होकर सशक्त होता है और जीवन का हेतु बनता है।

भावार्थ—हम मन की अद्भुत शक्ति को पहचानें और उसे वश में करके शिवसंकल्पात्मक बनाकर कल्याण का साधन करें।

नोट—पण्डितजी की पाण्डुलिपि में एक पृष्ठ लुप्त है। पृष्ठों की क्रम संख्या ठीक है। प्रथम और द्वितीय दोनों मन्त्र खण्डित हैं। हमने उन्हें पूरा कर दिया है। —**जगदीश्वरानन्द**

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अमृत मन

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३॥

१. वह मेरा मन **यत्**=जो **प्रज्ञानम्**=प्रकृष्ट ज्ञान का साधक है। लौकिक ज्ञान में आँख इत्यादि इन्द्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आँख रूप को देखती है तो कान शब्द को सुनता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ अन्यान्य विषयों को ग्रहण करती हैं, परन्तु वे सब उस अन्तःस्थित आत्मतत्त्व का दर्शन नहीं कर पातीं। यह दर्शन तो मन से ही होता है। लौकिक ज्ञान में भी मन हो तो शीघ्र व सम्यक् ज्ञान होता है। मन की अनुपस्थिति में ज्ञान होता ही नहीं, उसकी विक्षिप्तावस्था में अधकचरा-सा ज्ञान होता हैं। २. **उत्**=और **चेतः**=यह मन स्मरण का साधन है। मन के ठीक होने पर 'मैं कौन हूँ' यह स्मृति बनी रहती है। पाठ में मन हो तो जल्दी याद होता है। ३. **च**=और यह मन **धृतिः**=धैर्य व दृढ़ता का साधन है। ४. यह मन वह है **यत्**=जो **प्रजासु**=प्रजाओं के अन्दर **अमृतम् ज्योतिः**=अमर ज्योति है। इन्द्रियाँ ज्योति हैं, परन्तु उनका भी प्रकाशक मन ही है, अतः यह मन ही वस्तुतः ज्योति है और चूँकि शरीर के नष्ट होने पर भी साथ ही जाता है, अतः इसकी मृत्यु नहीं होती। एवं, यह मन 'अ-मर' है। ५. **यस्मात् ऋते**=इस मन के बिना **किञ्चन कर्म**=कोई छोटा-सा भी कार्य **न**=नहीं **क्रियते**=किया जाता। **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसङ्कल्पम्**=शिवसङ्कल्पवाला **अस्तु**=हो। प्रत्येक कार्य का सौन्दर्य व साफल्य मन के शिवसंकल्पमय होने पर ही निर्भर करता है।

भावार्थ—हमारा यह मन अमर ज्योति है। इसके महत्त्व को समझकर हम इसकी शक्ति के विकास के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सर्वग्राहक मन

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥

१. **तन्मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शुभ संकल्पोंवाला **अस्तु**=हो, **येन अमृतेन**=जिस

अमर मन से **इदम्**=यह **भूतम्**=भूतकाल की सब बात **भुवनम्**=वर्त्तमान की बात और **भविष्यत्**=आगे होनेवाली बातें **सवर्म्**=सब **परिगृहीतम्**=ग्रहण की जाती हैं। यह मन अमर है, आत्मा के साथ अगले-अगले शरीर में जाता है। इसमें सब जन्म-जन्मान्तर के संस्कार निहित होते हैं, वर्त्तमान की बातें इसपर अपने संस्कार डाल रही हैं और आनेवाली बातों का इसपर प्रतिबिम्ब-सा पड़ जाता है तथा आगे होनेवाली सब कल्पनाओं का उद्गम इसी में है। एवं, यह मन भूत, भविष्य व वर्त्तमान तीनों का ही ग्रहण करनेवाला है। ३. यह मन वह है **येन** =जिससे **सप्तहोता**=सात होताओंवाला **यज्ञः**=यज्ञ **तायते**=विस्तृत किया जाता है। ये सात होता शरीर के सात ऋषि हैं-'**कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्**'=दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुख, ये सात ऋषि प्रत्येक शरीर में विद्यमान हैं '**सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**'। यह इस शरीर में स्थित होकर ज्ञानयज्ञ को चलाया करते हैं, परन्तु इनका यह ज्ञानयज्ञ मनोयोग के होने पर ही चलता है। मन के बिना ये सब अशक्त हैं। ये ज्योति हैं, तो मन इन ज्योतियों की भी ज्योति है। जिस समय साधक इस मन को वश में कर लेता है तब इस मन का जहाँ भी वह संयम करता है, झट उसी का ज्ञान कर लेता है। **भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्**=सूर्य में संयम करने से यह सम्पूर्ण भुवन का ज्ञान कर लेता है। पवित्र मन पर आगे आनेवाली घटनाओं का प्रतिबिम्ब पहले से ही पड़ जाता है। इस प्रकार वह मन 'भूत-भुवन-भविष्यत्' सभी का ग्रहीता है और सम्पूर्ण ज्ञानयज्ञ को चलानेवाला है। यह शिवसंकल्प हुआ तो फिर कल्याण-ही-कल्याण है।

भावार्थ-हम अपने मन को बड़ा शुद्ध बनाएँ, जिससे हमारा ज्ञानयज्ञ बड़ी सुन्दरता से चले।

ऋषिः-**शिवसङ्कल्पः**। देवता-**मनः**। छन्दः-**त्रिष्टुप्**। स्वरः-**धैवतः**।

ऋग्-यजु-साम का आधार मन

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥

१. **तत् मे मनः**=वह मेरा मन **शिवसंकल्पम्**=शुभ संकल्पवाला **अस्तु**=हो, **यस्मिन्**=जिसमें और **यस्मिन्**=जिससे ही **ऋचः**=सम्पूर्ण विज्ञान (ऋग्वेद=विज्ञानवेद) **साम**=उपासना व **यजूंषि**=यज्ञात्मक कर्म में **प्रतिष्ठिताः**=प्रतिष्ठित हैं **इव**=जैसे **रथनाभौ**=रथ के पहिये की नाभि में **अराः**=अरे प्रतिष्ठित होते हैं। नाभि के हिलते ही सब अरे हिल जाते हैं, इसी प्रकार मानसविकार होते ही सारा विज्ञान, सारी उपासना व सारा कर्मकाण्ड समाप्त हो जाता है। वैज्ञानिकों ने प्रकृति-तथ्यों का निरीक्षण पूर्ण मनोयोग से करना होता है। उपासना तो चलती ही तब है जब मन से अन्य सब विषयों को निकाल दिया जाए। सब यज्ञ मन से ही होते है। क्या वेदाधिगम=(वेद पढ़ना) और क्या वैदिक कर्मकाण्ड-ये सब मन के न होने पर नहीं चलते। मनोनिरोध करके मनुष्य वैज्ञानिक तथ्यों का विचार कर पाता है, मनोनिरोध का ही नाम उपासना हो जाता है (ध्यानं निर्विषयं मनः), मन की एकाग्रता से किया गया कर्म सुन्दर होता है। २. यह मन वह है **यस्मिन्**=जिसमें **प्रजानाम्**=प्रजाओं का **सर्वम् चित्तम्**=सारा चित्त, सम्पूर्ण स्मरण **ओतम्** =ओत-प्रोत है, व्याप्त है। जब यह इन्द्रिय द्वारों से बहार जाकर संसार के विषयों के साथ रम जाता है तब मनुष्य को '**कोऽहं कुत आयातः**'=मैं कौन हूँ, यहाँ क्यों आया हूँ? यह सब भूल जाता है। आत्मविस्मरण से बचने के लिए मन को वश में करना अत्यन्त आवश्यक है। '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'=चित्तवृत्ति-

निरोध ही योग है और **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'**=तभी द्रष्टा स्वरूप में स्थित होता है, अपने को पहचानता है, भूलता नहीं।

भावार्थ—मन ही विज्ञान, उपासना व कर्म का आधार है। आत्मस्मृति का मूल मन ही है। वह एकाग्र रहा तो मनुष्य अपने स्वरूप को देख पाता है।

ऋषिः—**शिवसङ्कल्पः**। देवता—**मनः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हृदय में प्रतिष्ठित मन

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥६॥

१. **इव**=जैसे **सुषारथिः**=उत्तम सारथि **वाजिनः**=शक्तिशाली **अश्वान्**=घोड़ों को **अभीशुभिः इव**=जैसे लगामों से **नेनीयते**=खूब इधर-उधर ले-जाता है, उसी प्रकार मन मनुष्यों को न जाने कहाँ-कहाँ ले-जाता है। एक ही क्षण में पूर्व में है, तो अगले ही क्षण में पश्चिम में पहुँच जाता है, प्रथम क्षण में समुद्र तल में विचर रहा है तो अगले ही क्षण में पर्वत-शिखर पर पहुँचा होता है। चारों दिशाओं में भटकता है। यहाँ 'सु-सारथि' शब्द का उल्लेख बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उत्तम सारथि घोड़ों को लक्ष्य की ओर ले-जाता है, इसी प्रकार यह उत्तम बना हुआ मन मनुष्य को अवश्य लक्ष्य तक पहुँचानेवाला होता है। २. **हृत् प्रतिष्ठम्**=यह मन हृदय में प्रतिष्ठित है। 'हृदय' श्रद्धा का निवासस्थान है और श्रद्धा होने पर ही मन स्थिर होता है। जिस विषय में श्रद्धा होगी, उसी विषय में मन स्थिर हो पाएगा। आत्मतत्त्व में श्रद्धा हुई तो मन वहीं एकाग्र होगा। वृक्ष जैसे भूमि में प्रतिष्ठित है, भूमि से जड़ बाहर हुई और वृक्ष गिरा, इसी प्रकार मन श्रद्धा में प्रतिष्ठित है, श्रद्धा से रहित हुआ कि भटका। ३. यह मन **यत्**=जो **अजिरम्**=(agile) अत्यन्त क्रियाशील है **जविष्ठम्**=अत्यन्त वेगवान् है **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु**=वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो। मन सचमुच 'चञ्चल'=अत्यन्त चञ्चल है 'वायोरिव सुदुष्करम्'=इसका स्थिर करना वायु को मुट्ठी में पकड़ने के समान है, परन्तु श्रद्धा होने पर स्थिर हो जाता है।

भावार्थ—हम अपने इस नितान्त चञ्चल मन को श्रद्धा द्वारा नियन्त्रित करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**अन्नम्**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

पालक अन्न को

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्। यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्॥७॥

१. गत छह मन्त्रों में मन को शिवसंकल्प बनाने का वर्णन है। मन की शिवसंकल्पता बहुत कुछ अन्न पर निर्भर है। सात्त्विक अन्न से मन भी सात्त्विक होता है। **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'** यह उपनिषद्वाक्य कह रहा है कि आहार के शुद्ध होने पर मन भी शुद्ध होता है। इसी सारी बात का संकेत वेद में मन के मन्त्रों के बाद अन्न का मन्त्र देकर कर दिया गया है। २. अन्न 'पितु' है (पा रक्षणे) शरीर की रक्षा करनेवाला है। शरीर का नाम ही अन्नमयकोश है। अन्न से ही इसकी रक्षा होती है। जब तक यह अन्नमयकोश अन्न को खाता है, तब तक शरीर स्वस्थ बना रहता है, परन्तु जिस दिन इस अन्न को मन खाने लगा उसी दिन स्वाद में पड़कर यह अन्न अतिमात्र सेवित होता है और हमें ही खा जाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **नु**=अब, शिवसंकल्प की प्रार्थना की समाप्ति पर **पितुम्**=रक्षक अन्न की **स्तोषम्**=स्तुति करता हूँ। यह अन्न **महः**=तेजस्विता है, मुझे तेजस्वी बनानेवाला है।

धर्माणम्=यह मेरा धारक है। **तविषीम्**=बल है। वस्तुतः मात्रा में सेवित किया हुआ सात्त्विक अन्न मनुष्य को तेजस्वी बनाता है, यह हमारे शरीरों को धारण करता हुआ उन्हें बलयुक्त करता है। ४. यह अन्न वह बल है **यस्य**=जिसके **विओजसा**=विशिष्ट ओज से **त्रितः**=काम-क्रोध-लोभ को तैर जानेवाला व्यक्ति अथवा शरीर, मन व बुद्धि की शक्तियों का विकास करनेवाला व्यक्ति **वृत्रम्**=सब प्रकार की उन्नतियों की विघ्नभूत वासनाओं को **विपर्वम्**=एक-एक पोरी को विकीर्ण करके **अर्दयत्**=नष्ट करता है। सात्त्विक अन्न के सेवन से कामना सभी रूपों में समाप्त हो जाती है, न काम सताता है, न क्रोध, न लोभ। उत्तेजक भोजन ही वासनाओं की उत्पत्ति में कारण बनते हैं। यहाँ मन्त्र में पालक व सौम्य भोजन के सेवन का संकेत है, यही भोजन 'पितु' है। एवं, स्पष्ट है कि त्रित सौम्य-भोजनों का ही प्रयोग करता है और इसी कारण वह वृत्र का विनाश करके पाप के मूल को ही समाप्त करता हुआ प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'अगस्त्य'=पापसंहार करनेवाला कहलाता है। इस प्रकार के अन्न के सेवन का ही यह भी परिणाम है कि यह संसार में 'अनुकूल मति' से चलता है, वैर-विरोध को बढ़ानेवाला नहीं होता। इसी अनुमति का उल्लेख अगले मन्त्र में करेंगे।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से मन को शिवसंकल्प बनाएँ, उसमें से वासनाओं को उखाड़ फेंकें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**अनुमतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अनुमति

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शं च नस्कृधि।

क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र णऽआयूंषि तारिषः॥८॥

सात्त्विक अन्न के सेवन से मनुष्य के अन्दर सदा 'अनुमति'=अनुकूल मति=उन्नति के लिए योग्य विचार उत्पन्न होते हैं। राजस् व तामस् अन्नों का परिणाम विरोधी विचारों का उत्पन्न होना, लड़ाई-झगड़े के विचारों का उत्पन्न होना है। सात्त्विक अन्न 'अनुमति' को जन्म देता है तो उससे भिन्न अन्न 'विमति' को जन्म देता है। विमति से परस्पर विरोध-विद्वेष बढ़ता है और उसका परिणाम मानस अशान्ति है। मानस अशान्ति के होने पर 'विषाद' उत्पन्न होता है, मनुष्य के मन में कर्मसंकल्प नहीं उठता, किसी काम को जी करता ही नहीं। ऐसी स्थिति उन्नति के लिए व बल-वृद्धि के लिए विघातक है, और दीर्घजीवन की विरोधी है ही। इस सारी बात को ध्यान में करके मन्त्र में 'अगस्त्य' ऋषि जिनका उद्देश्य सब प्रकार की **'अ-ग'**=अगतिता को **स्त्य**=समाप्त करना है, कहते हैं कि हे **अनुमते**=अनुकूलमते! **त्वम्**=तू **इत्**=निश्चय से **अनुमन्यासै**=हमपर अनुकूलमतिवाली हो, अर्थात् हम तेरे 'कृपापात्र' बने रहें। तू हमसे कभी दूर न हो **च**=और **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति को **कृधि**=कर। **नः**=हमें शान्त बनाकर **क्रत्वे**=सदा उत्तम कर्मसंकल्पों के लिए तथा **दक्षाय**=उन्नति के लिए **हिनु**=प्रेरित कर। इस प्रकार हमें शान्त, कर्ममय, उन्नतिशील जीवनवाला बनाकर **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुओं को **प्रतारिषः**=खूब लम्बा करना, हमें दीर्घ जीवनवाला बनाना।

भावार्थ—यदि हम शुष्क वैर-विवाद से दूर रहकर अनुकूलितमति से चलते हैं तो हमें 'शान्ति, कर्मसंकल्प (कर्मसामर्थ्य), उन्नति तथा दीर्घजीवन' प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**अनुमतिः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अनुमति और अग्नि

अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतं दाशुषे मयः॥९॥

पिछले मन्त्र में कहा गया था कि अनुमति के होने पर 'शान्ति' रहती है। जिस घर में पति-पत्नी में अनुमति है, वह घर स्वर्ग बन जाता है। इसी 'अनुमति' का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **अनुमतिः** =शान्ति व उन्नति की साधनभूत यह 'अनुमति'=(प्रेम का विचार) **अद्य**=आज **नः**=हमारे **देवेषु यज्ञम्** =देवताओं में निवास करनेवाला जो यज्ञ है, उसका **अनुमन्यताम्**=अनुकूल बोध दे, अर्थात् हमारे विचारों को 'अनुमति' यज्ञानुकूल बनाये। देवता लोग यज्ञमय जीवन बिताते हैं, वही यज्ञ 'अनुमति' की कृपा से हमें प्रिय हो। हमारी मनोवृत्ति आज से यज्ञ-प्रवण हो जाए। 'यज्ञ' का पूर्ण अर्थ यह है कि हम (क) सदा बड़ों का आदर करें (देवपूजा), (ख) सब साथियों के साथ बड़े प्रेम से मिलकर चलनेवाले बनें (संगतिकरण) तथा (ग) सदा ही कुछ-न-कुछ देनेवाले बने रहें (दान), (घ) इस दान को ही जब हमें इन वायु आदि देवों के लिए करना होता है तब हम इन देवों के मुखरूप अग्नि में हव्य पदार्थों को डालते हैं। यही अग्निहोत्र कहलाता है और यज्ञ का अर्थ संकुचित रूप में यही लिया जाता है। देव लोग तो यज्ञमय जीवनवाले हैं ही, हम भी अनुमति की कृपा से यज्ञमय जीवनवाले बनें, **च**=और **अग्निः**=देवों का मुख यह अग्नि **हव्यवाहनः**=हमारे द्वारा दिये गये हव्य पदार्थों को देवों में ले-जानेवाला बने। इस प्रकार हे अनुमते और अग्ने! आप दोनों **दाशुषे**=इस दाशवान् के लिए **मयः**=कल्याणकर **भवतम्**=होओ। 'दाशवान्' पुरुष वह है (दाशृ दाने) जो देनेवाला है और अन्त में जो अपने को प्रभु के प्रति दे डालता है, यह समर्पण की वृत्तिवाला पुरुष दाश्वान् कहलाता है। प्रभु-प्रवण व्यक्ति कभी किसी से लड़ता नहीं, यह सदा सबके साथ प्रेम से चलता है, यज्ञशील तो होता ही है। 'अनुमति व अग्नि की कृपा से यह 'अगं पापं संहन्ति=स्त्यायति'=पाप को नष्ट करके अगस्त्य बन जाता है।

भावार्थ—हम सदा अनुमतिवाले हों और हमारे जीवन यज्ञमय बन जाएँ।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**सिनीवाली**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सिनीवाली (आदर्श पत्नी)

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥१०॥

'गत दो मन्त्रों में वर्णित 'अनुमति' को गृहिणी अपने सन्तानों में 'कैसे जन्म देती है', इस विषय को स्पष्ट करने के लिए दो मन्त्रों में 'आदर्श पत्नी' के क्रियाक्रम का उल्लेख करते हैं १. यह आदर्शपत्नी **सिनीवालि**=(सिनमन्नम्, वालं=पर्व=पूरण-नि० ११।३।३२) अन्न के द्वारा सब न्यूनताओं को दूर करती है तथा मनों में अनुमति व उससे जनित यज्ञिय वृत्तियों का पूरण करती है। यह घर में सदा सात्त्विक अन्नों का ही व्यवहार रखती है, कभी भी राजस् व तामस् भोजनों को घर में नहीं आने देती। इसी का यह परिणाम होता है कि यह स्वयं तो अनुमतिवाली होती ही है, अपनी सन्तानों में भी इस अनुमति को उत्पन्न कर पाती है। २. जीवन में ग़लती न हो जाए' इस विचार से सदा प्रभु का स्तवन करनेवाली

बनती है। मन्त्र में इसे **पृथुष्टुके**=(पृथुष्टुते—नि० ११।३।३२) हे ख़ूब स्तुतिवाली! इस प्रकार कहा गया है। 'प्रथ विस्तारे'=इसके जीवन में सदा स्तुति का विस्तार रहता है, जब ज़रा समय खाली हुआ या अन्य कार्य से थकी कि 'प्रभु नाम जपन' करने लगी। ३. इस प्रकार **या**=जो तू **देवानां स्वसा**=देवों की बहिन **असि**=है। जिस तूने दिव्य गुणों को धारण किया है। माता को यही चाहिए कि जिन-जिन बातों को वह बच्चों में चाहे उन्हें स्वयं धारण करे 'स्वयं सरति इति स्वसृ'। स्वयं सोई हुई माता बच्चों को जगाकर पढ़ाई में प्रवृत्त नहीं कर सकती। ४. **आहुतम् हव्यम् जुषस्व**=अग्नि में आहुति दिये जा रहे हव्य पदार्थों का तू प्रीतिपूर्वक सेवन कर, अर्थात् तू नित्य अग्निहोत्र करनेवाली हो। यह प्रतिदिन का यज्ञ सन्तानों के जीवन को अवश्य यज्ञमय बना देगा। माता को अग्निहोत्र करते देखकर बालकों के लिए भी यज्ञ एक सुन्दर खेल हो जाएगा। ५. इस प्रकार अपने जीवन को दिव्य गुणों से भरनेवाली आदर्श गृहिणी सचमुच देवी है। इससे कहते हैं कि हे **देवि**=दिव्य गुणों को धारण करनेवाली आदर्श गृहिणी! तू **नः**=हमें **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को **दिदिड्ढि**=दे–प्राप्त करा। 'इस पत्नी की सन्तान इसी के समान उत्तम जीवनवाली होगी', इस बात में तो शक है ही नहीं। ६. इस उत्तम जीवनवाली पत्नी को पाकर पति का जीवन भी आनन्दमय होता है और वह उत्तम साथी प्राप्त कराने के लिए प्रभु का सदा आभारी रहता है। गृणाति माद्यति=प्रभु-स्तवन करता है और प्रसन्न रहता है और 'गृत्समद' इस अन्वर्थ नामवाला हो जाता है।

भावार्थ—पत्नी १. सात्त्विक अन्न के व्यवहार से न्यूनताओं को दूर करनेवाली हो। २. निरन्तर स्तुतिमय जीवनवाली हो। ३. स्वयं दिव्य गुणों को धारण करे ४. यज्ञशीला हो। ५. ऐसी पत्नी सुसन्तान का निर्माण करती है।

ऋषिः—**गृत्समदः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सरस्वती का 'पंचधा सरित्' होना

पञ्च॑ न॒द्यः॒ सर॑स्वती॒मपि॑ यन्ति॒ सस्रो॑तसः।
सर॑स्वती॒ तु प॑ञ्च॒धा सो दे॒शेऽभ॑वत्स॒रित्॥११॥

शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानवाहिनी नदियाँ है। चक्षु से प्रवाहित होनेवाली ज्ञाननदी रूप-जल से भरी है तो श्रोत्र से चलनेवाली शब्दरूप जल से। एवं, एक-एक ज्ञानेन्द्रिय से एक-एक विषय का ग्रहण होकर यह सम्पूर्ण पाँच भौतिक संसार हमारे ज्ञान का विषय बन जाता है और इस प्रकार ज्ञान जलवाहिनी सरस्वती नदी पूर्ण जलौघ के साथ बह चलती है। ज्ञानजलौघ से युक्त गृहिणी को भी यहाँ 'सरस्वती' ही नाम दिया गया है। गतमन्त्र में यह सिनीवाली=अन्न से दोषों को दूर कर अपना पूरण करनेवाली थी, और वस्तुतः उस सात्त्विक अन्न के सेवन ने ही इसे 'सरस्वती' बनने की क्षमता प्राप्त कराई है। **सरस्वतीम्**=इस सरस्वती को **पञ्च**=पाँच **सस्त्रोतसः**=समान स्त्रोतवाली **नद्यः**=ये ज्ञान-जलवाहिनी नदियाँ **अपियन्ति**=प्राप्त होती हैं, अर्थात् यह उत्तम गृहिणी सदा अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न में लगी रहती है। वेद का यह उपदेश कि 'पंचौदनः पंचधा विक्रमताम्'=पञ्चौदन जीव पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहे, कभी उत्तम पत्नी भूलती नहीं तभी तो वस्तुतः वह सचमुच **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता बन पाई है। **सा तु**=यह पत्नी तो **सरस्वती**=ज्ञान की अधिदेवता बनकर **उ**=निश्चय से **देशे**=जिस गृह में व क्षेत्र में काम करती है उस प्रदेश में **सरित्**=कार्य को सुन्दर रूप से चलानेवाली (सृ

गतौ) **अभवत्**=होती है। अज्ञान में क्रिया ग़लत होती है, ज्ञान क्रिया में पवित्रता व कुशलता को ले-आता है। एवं, 'सरस्वती' अपने घर का सञ्चालन ऐसे अच्छे ढंग से करती है कि **पञ्चधा**=पाँचों प्रकार से, अर्थात् अन्नमयादि पाँचों कोशों के दृष्टिकोण से **सरित्**=सब सन्तानों को आगे बढ़ानेवाली बनती है। अपने सन्तानों के अन्नमयकोश को नीरोग बनाती है, प्राणमय को सबल, मनोमय को निर्मल, विज्ञानमय को दीप्त और आनन्दमयकोश को सदा सोल्लास बनानेवाली होती है। यह है 'सरस्वती' का 'पञ्चधासरित्' होना=पाँच प्रकार से बच्चों को आगे बढ़ाना।

भावार्थ—माताएँ सरस्वती हों, बच्चों की सर्वांगीण उन्नति की साधिका हों।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

हिरण्यस्तूप

त्वम॑ग्ने प्रथ॒मोऽअङ्गि॑रा॒ऽ ऋषि॑र्दे॒वो दे॒वाना॑मभवः शि॒वः सखा॑।
तव॑ व्र॒ते क॒वयो॑ विद्म॒नाप॑सोऽजायन्त म॒रुतो॒ भ्राज॑दृष्टयः॥१२॥

सरस्वतीरूप माता से शिक्षित होकर एक युवक बड़े संयत जीवनवाला बनता है। यह प्रभु को निम्न शब्दों में आराधित करता है १. हे **अग्ने**=हमारी सब प्रकार की उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रथमः**=सबसे प्रथम होनेवाले हो, गुरुओं के भी गुरु हो (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे)। आप अत्यन्त विस्तारवाले हो (प्रथ विस्तारे), सर्वव्यापक हो, सबमें आप हो, सब आपमें ही स्थित हैं। २. **अङ्गिराः**=(अङ्ग, रस) हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में आप ही रस का सञ्चार करनेवाले हो। सभी को शक्ति देनेवाले आप ही हो। आपकी दीप्ति से ही वस्तुतः सारा संसार दीप्त है। ३. **ऋषिः**=आप सर्वद्रष्टा हैं, सर्वज्ञ हैं। ४. **देवः**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं, सब देवताओं को भी देवत्व देनेवाले आप ही हैं। ४. **देवानाम्**=दिव्य गुणों को अपनाकर देव बननेवालों के **शिवः सखा**=कल्याणकर मित्र **अभवः**=होते हो। प्रभु देव हैं तो देव बननेवाले उन्हें क्यों न प्रिय हों? ४. देव बनने के लिए जो व्यक्ति **तव व्रते**=आपके व्रत में चलते हैं, अर्थात् अपना लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति बनाते हैं, वे व्यक्ति (क) **कवयः**=क्रान्तदर्शी बनते हैं, तात्त्विक ज्ञान को प्राप्त करके वस्तुओं की ऊपरली चमक से मुग्ध हो जानेवाले नहीं होते। (ख) **विद्मनापसः**=ज्ञानपूर्वक होने के कारण ही इनके कर्म पवित्र बने रहते हैं। (ग) **मरुतः**=ये मितरावी होते हैं, बोलते कम हैं, करते अधिक हैं, वाग्वीर न होकर कर्मवीर होते हैं तथा (मरुतः प्राणाः)=प्राणों की साधना करनेवाले होते हैं। (घ) इस प्राणसाधना से ही वस्तुतः ये **भ्राजदृष्टयः**=देदीप्यमान ज्ञानरूप दर्शनवाले **अजायन्त**=होते हैं। इनकी ज्ञानाग्नि ख़ूब चमक उठती है।

भावार्थ—वीर्य की ऊर्ध्वगति करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' प्रभु को 'अग्नि, अङ्गिरा, ऋषि, देव व देवसखारूप' में देखता है और प्रभु-प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बनाकर 'कवि=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला, मरुत व भ्राजदृष्टि' बन जाता है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभुरक्षा का पात्र

त्वं नो॑ऽअग्ने॒ तव॑ देव पा॒युभि॑र्म॒घोनो॑ रक्ष त॒न्व॒श्च वन्द्य।
त्रा॒ता तो॒कस्य॒ तन॑ये॒ गवा॑म॒स्यनि॑मेषँ॒ रक्ष॑माण॒स्तव॑ व्र॒ते॥१३॥

हे **अग्ने**=उन्नति के साधक! **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे

मघोनः=(मा अघ) पाप के अंश से शून्य ऐश्वर्यवालों को तथा (मघ=मख) यज्ञशील लोगों को **तव पायुभिः**=अपने रक्षणों से **रक्ष**=सुरक्षित कीजिए। प्रभु रक्षा करते हैं, उनकी जो (क) **मघ**=ऐश्वर्य का उपार्जन करते हैं, उस ऐश्वर्य का जोकि कुटिलता व पाप से नहीं कमाया गया। (ख) जो ऐश्वर्य का उपार्जन करके उस ऐश्वर्य का विनियोग यज्ञों (मघ=मख) में करते हैं, (ग) इस प्रकार जो साधनों को जुटाकर और साधनों का सदुपयोग करके उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं (अग्नि) और (घ) धीरे-धीरे दिव्य गुणों के पुञ्ज बन जाते हैं (देव)। हे **वन्द्य**=हे वन्दन व स्तवन के योग्य प्रभो! **नः तन्वः च**=और हमारे शरीरों की भी **रक्ष**=आप रक्षा कीजिए। हे प्रभो! आप ही **तोकस्य त्राता**=हमारे सन्तानों के भी रक्षक हैं। वस्तुतः प्रभुकृपा से ही माता-पिता सन्तानों का निर्माण कर पाते हैं। हमारे **तनये**=पौत्रों के विषय में भी (तनुते वंशम्) आप ही **त्राता**=रक्षक हैं। हमारी इन सन्तानादि की रक्षा के लिए ही **गवाम्**=हमारे गौ आदि पशुओं के भी आप **त्राता असि**=रक्षक हैं। यहाँ वंश-विस्तार के लिए गोरक्षा का स्पष्ट संकेत है। हे प्रभो! वास्तव में **तव व्रते**=आपके व्रत में चलनेवालों के आप **अनिमेषम्**=प्रमादशून्यता से, पूर्ण सावधानी से **रक्षमाणः**=रक्षा करनेवाले हैं। जो प्रभु-प्राप्ति को अपना ध्येय बना लेते हैं प्रभु स्वयं उनके रक्षक बन जाते हैं।

भावार्थ—प्रभुरक्षा का पात्र बनने के लिए हम (क) सदा सुपथ से धन कमाएँ, (ख) धन का विनियोग यज्ञों में करें, (ग) उन्नत होने का सतत प्रयत्न करें, (घ) दिव्यता को धारण करें, (ङ) प्रभु के प्रति वन्दनशील हों।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

इडा पुत्र—अक्रोधी-संयमी

उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाजऽइडायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट ॥१४॥

पिछले दोनों मन्त्रों में 'तव व्रते' ये शब्द आये हैं। प्रभु की रक्षा के पात्र वे होते हैं जो प्रभु के व्रत में स्थित हों। प्रभु-प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चयवाले ये लोग सात्त्विक अन्न का प्रयोग करते हैं, इस सात्त्विक अन्न से इनकी बुद्धि भी सात्त्विक व सूक्ष्म बनती है। इस **उत्तानायाम्**=(उत्+तन) उत्कृष्ट विस्तारवाली बुद्धि में **चिकित्वान्**=समझदार पुरुष **अवभर**=वेदवाणी को भरता है। जैसे पृथिवी में बीज बोते हैं, उसी प्रकार समझदार व्यक्ति उत्कृष्ट विकसित बुद्धि में वेदवाणी का बीज बोते हैं। यह वेदवाणीरूप बीज **सद्यः**=कुछ ही समय बाद **प्रवीता**=प्रजाता=अंकुरित हुआ-हुआ उस बोनेवाले को **वृषणम्**=बड़ा शक्तिशाली **जजान**=बना देता है। वेदवाणी मानवजीवन को सबल बनाती है। उसकी प्रेरणा के अनुसार चलता हुआ मनुष्य काम-क्रोधादि वासनाओं से पराजित नहीं होता और संसार के विषय अत्यन्त प्रबल आकर्षण रखते हुए भी उसे बाँध नहीं पाते। यह **इडायाः**=वेदवाणी का **पुत्रः**=पुत्र बन गया है। वेदवाणी ने ही इसके जीवन को बनाया है। यह वेदवाणी का 'पुत्र' इसलिए भी है कि यही वाणी इसे 'पुनाति'=पवित्र करती है और त्रायते=बचाती है। यह वेदवाणी का पुत्र **अरुषस्तूपः**=(अरुषश्चासौ स्तूपः) क्रोध से एकदम शून्य और शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाला (स्तूप् to raise) होता है। मनुष्य दो कारणों से निर्बल होता है, एक यह कि शक्ति का अपव्यय हो जाए, और दूसरा यह कि क्रोध के कारण वह अन्दर-ही-अन्दर जल जाए। यह 'इडापुत्र' क्रोधशून्य है और साथ ही शक्ति को नष्ट न

होने देनेवाला है। परिणामतः **अस्य पाजः**=इसकी शक्ति **रुशत्**=देदीप्यमान है। यह शारीरिक स्वास्थ्य व मानस प्रसाद के कारण प्रफुल्लित प्रतीत होता है। यह **वयुने**=उत्कृष्ट विज्ञान में **अजनिष्ट**=विकसित हुआ है। शरीर व मन के विकास के साथ इसका मस्तिष्क भी विज्ञान की दीप्ति से चमक उठा है।

भावार्थ—वेदवाणी (ज्ञान की वाणी) मानव-जीवन को सबल बनाती है। यह उसे अक्रोधी, संयमी, दीप्तशक्तिवाला व ज्ञाननिष्ठ बना देती है।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देवश्रवदेववात

इडायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्याऽअधि।
जातवेदो निधीमह्यग्ने हव्याय वोढवे॥१५॥

पिछले तथा प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'देवश्रवदेववात' (भारत) हैं। ये माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों से ज्ञान प्राप्त करके 'देवश्रव' नामवाले हुए हैं। इन्हीं देवों से सदा उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करने के कारण इनका नाम 'देववात' (वा=ईर=प्रेरण) हो गया। इन्होंने वेदवाणी को अपने में भरा, अतः ये 'भारत' हैं। ज्ञान प्राप्त करके, यज्ञादि उत्तम कर्मों की प्रेरणा लेकर ये सदा यज्ञादि में लगे रहते हैं, सबके साथ मिलकर चलते हैं और दान की वृत्ति को कभी अपने से दूर नहीं करते। यही दान की वृत्ति नैत्यिक अग्निहोत्र के रूप में भी प्रकट होती है और यह कहता है कि हे **जातवेदः**=प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त करानेवाले (जातं वेदयति) **अग्ने**=हव्य पदार्थों को आगे-और-आगे ले-जानेवाले अग्ने! **हव्याय वोढवे**=हव्य पदार्थों को ढोने के लिए **वयम्**=हम **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः नाभौ अधि**=इस पृथिवी की यज्ञरूप नाभि में (अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) **निधीमहि**=स्थापित करते हैं। यज्ञ के अभाव में किसी का कल्याण नहीं, यह पृथिवीलोक तो यज्ञजनित पर्जन्यों से ही प्रीणित होता है। **'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसंभवः'** अन्न की उत्पत्ति करनेवाला पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है। यह अग्नि 'जातवेद' है, इसमें डाले हुए हव्य पदार्थ को यह प्रत्येक देव को प्राप्त कराता है। अग्नि जलायी और हव्य पदार्थ डाले' इतना ही नहीं, यह उन हव्य पदार्थों को **इडायाः**=वेदवाणी के **पदे**=शब्दों के उच्चरित होने पर डालता है, अर्थात् मन्त्रोच्चारणपूर्वक यह यज्ञों को करनेवाला बनता है। इस प्रकार इन यज्ञों के प्रसङ्ग से यह वेदवाणी की भी रक्षा करनेवाला बनता है। वेदवाणी इसकी माता है, उसी ने इसका निर्माण किया, उसकी रक्षा करना इसका कर्त्तव्य है।

भावार्थ— यह 'देवश्रवदेववात' यज्ञमय जीवनवाला होता है। मन्त्रोच्चारपूर्वक जातवेद अग्नि में हव्य पदार्थों को डालता है।

ऋषिः—**नोधाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्तुत्य जीवन

प्र मन्महे शवसानाय शूषमाङ्गूषं गिर्वणसेऽअङ्गिरस्वत्।
सुवृक्तिभिः स्तुवतऽऋग्मियायार्चामार्कं नरे विश्रुताय॥१६॥

१. **शवसानाय**=(अभिबलायमानाय) सब ओर बल के पुञ्ज की भाँति आचरण करनेवाले के लिए **शूषम्**=शत्रुओं के शोषक बल को **प्रमन्महे**=चाहते हैं, इसके लिए वासनाओं के शोषक बल की कामना करते हैं। यदि एक बलवान् पुरुष में कामादि

वासनाओं के शोषण की शक्ति न रहे तो उसका बल अत्यन्त दुरुपयुक्त होने लगता है। जितना-जितना हमारा बल बढ़े उतनी-उतनी हमारी वासना-शोषणशक्ति भी प्रवृद्ध हो, जिससे हम बढ़े हुए बल के कारण कहीं अधिक वासनाओं के शिकार न हो जाएँ। २. **गिर्वणसे**=वेदवाणियों का सेवन करनेवाले के लिए **आङ्गूषम्** (=आघोषम् स्तोमम्)=उच्च स्वर से उच्चारण योग्य स्तुतिसमूह को उसी प्रकार (प्रमन्महे)=चाहते हैं **अङ्गिरस्वत्**=जैसेकि यह स्तुतिसमूह अङ्गिरा को प्राप्त हुआ। अङ्गिरा को अथर्ववेद=ब्रह्मवेद मिला, इस गिर्वण के लिए भी हम इसे चाहते हैं। वेदवाणियों का अध्ययन करनेवाला जब **ऋग्वेद**=विज्ञानवेद को पढ़ेगा तो इन अङ्गिरा के आंगूषों=ब्रह्ममन्त्रों के बिना वह विज्ञान का हिंसात्मक प्रयोग करनेवाला बन जाएगा। वैज्ञानिक उन्नति के साथ ब्रह्म के **आङ्गूष**=(उच्च स्वर में गेय स्तोत्र) चलेंगे तो यह संकट जाता रहेगा। विज्ञान के साथ ब्रह्म-स्मरण जुड़ा तो विज्ञान निर्माण में ही नियुक्त होगा, ध्वंस में नहीं। ३. **सुवृक्तिभिः**=उत्तम वर्जनों से, अर्थात् बुराइयों को पूरी तरह त्यागने से **स्तुवते**=उस प्रभु का स्तवन करनेवाले के लिए, असत् को छोड़कर सत् को प्राप्त करनेवाले के लिए तथा **ऋग्मियाय**=ऋचाओं को प्रशस्तता से प्राप्त करनेवाले के लिए **अर्चाम्**=पूजा को **प्रमन्महे**=चाहते हैं। लोक में आदर उसी को दिया जाए जो बुराइयों को छोड़ता है तथा उत्तम विज्ञान को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति मन व मस्तिष्क दोनों की उन्नति करता है वही लोगों के आदर का पात्र बने। ४. लोग तो इसका आदर करें, परन्तु यह कहीं गर्वयुक्त न हो जाए, अतः हम इस **विश्रुताय**=दूर-दूर तक विशिष्ट प्रसिद्धि को प्राप्त **नरे**=मनुष्य के लिए **अर्कम्**=प्रभु-स्तवन को **आप्रमन्महे**=ख़ूब ही चाहते हैं। यह 'विश्रुत नर' सदा प्रकर्षेण प्रभुस्मरण में लगा रहेगा तो यह लोगों से दिये गये अर्चन=सत्कार से अभिमान में न आएगा। व्यक्ति साधना करके प्रायेण संसार में ऊँचा उठता है, लोग उसका आदर करने लगते हैं, आदर में अतिशय वृद्धि को वह ठीक पचा नहीं पाता, अतः गर्वित हो जाता है और एक पन्थ का प्रवर्तक बन जाता है। यह स्वयं ही प्रभु के साथ पुजने लग जाता है। यह 'विश्रुत नर' सदा प्रभु-स्मरण में लगा रहेगा तो अपनी तुच्छता को लोकसम्मान के भुलावे में आकर भूल न जाएगा और इस प्रकार अभिमान का शिकार भी न होगा।

भावार्थ—(क) बलवान् पुरुष वासनाओं की शोषण-शक्ति से सम्पन्न हो, (ख) उच्च विज्ञान को प्राप्त करनेवाला प्रभु-स्तोमों को भी प्राप्त करनेवाला बने, (ग) लोगों का आदरणीय वही हो जिसने पापों का पूर्ण वजर्न करके प्रभु के उपासक के साथ ऊँचे विज्ञान के अध्ययन को जोड़ दिया है, (घ) यह लोगों से आदर को प्राप्त 'विश्रुत' (Well-known) नर सदा प्रभु-स्तवन में लगा रहे, जिससे अभिमान का शिकार न हो जाए। यही जीवन स्तुत्य जीवन है। इस स्तुत्य=नव (नू स्तुतौ) जीवन को धारण करनेवाला 'नवधा'=नोधा प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। इसी का वर्णन १७वें मन्त्र में भी है।

ऋषिः—**नोधाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

गो-विन्द

प्र वो॑ म॒हे महि॒ नमो॑ भरध्वमाङ्गू॒ष्य॑ꣳ शवसा॒नाय॒ साम॑।
येना॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ पद॒ज्ञाऽअर्च॑न्तो॒ऽअङ्गि॑रसो॒ गाऽअ॑विन्दन् ॥१७॥

१. नोधा ऋषि कहते हैं कि **वः**=तुम्हारी **महे**=(महसे) तेजस्विता के लिए **महि नमः**=पूज्य नमन की भावना को **प्रभरध्वम्**=अपने अन्दर ख़ूब धारण करो। मनुष्य

प्रभु-प्रवण बनता है तभी विषयों से बचकर शक्ति की रक्षा करता हुआ तेजस्वी बन पाता है। २. तेजस्वी बनकर **शवसानाय**=(अभिबलायमानाय) सर्वतः बलपुञ्ज की भाँति आचरण करनेवाले के लिए आवश्यक है कि वह **आङ्गूष्यम् साम**=ऊँचे-ऊँचे उच्चारण के योग्य उपासना-मन्त्रों को अपने में धारण करे, जिससे उस शक्ति की वृद्धि के कारण उसका आचरण वासनामय न हो जाए। ३. सामान्य क्रम यह है कि (क) वासना-विजय से शक्ति प्राप्त होती है, (ख) शक्तिवृद्धि होने पर वासनाओं के बढ़ने की आशंका हो जाती है, अतः शक्ति-प्राप्ति के लिए भी प्रभु-नमन आवश्यक है और शक्तिप्राप्ति के बाद भी उस शक्ति को नाश से बचाने के लिए प्रभु-नमन और अधिक आवश्यक हो जाता है। ४. 'शक्तिप्राप्ति के लिए प्रभु-नमन और शक्ति के रक्षण के लिए प्रभु-नमन' यह मार्ग है **येन**=जिस मार्ग से **नः**=हमारे (क) **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले, (ख) **पितरः**=रक्षण व पालन करनेवाले, (ग) **पदज्ञाः**=वेदशब्दों के रहस्य को समझनेवाले, (घ) **अर्चन्तः**=उपासक, (ङ) **अङ्गिरसः**=एक-एक अङ्ग के रस-(शक्ति)-वाले लोग **गाः**=इन्द्रियों को **अविन्दन्**=प्राप्त करते थे, अर्थात् पूर्ण जितेन्द्रिय बनते थे। **गाः**=का अर्थ 'वेदवाणियों को' भी किया जा सकता है, ये लोग वेदवाणियों को पूर्णरूप से प्राप्त करनेवाले होते थे। यह एक नवीन जीवन होता है, अतः ये 'नवधा' या नोधा नामवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन का प्रारम्भ प्रभु-नमन से हो और हमारे जीवन का अन्त भी प्रभु-नमन से हो।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु-प्राप्ति का अभिलाषी

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयांꣳसि।
तितिक्षन्तेऽअभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः॥१८॥

हे प्रभो! **त्वा**=आपको **इच्छन्ति**=चाहते हैं, कौन? जो १. **सोम्यासः**=विनीत, निरभिमान हैं। प्रकृति की ओर जानेवाले, प्रकृति में आसक्त हुए-हुए असुर लोग तो स्वयं अपने को ही 'ईश्वर' मानने लगते हैं **'कोन्योऽस्ति सदृशो मया'**='मेरे-जैसा दूसरा कौन है?' इन शब्दों में उनका अभिमान व्यक्त होता है। २. **सखायः**=ये मित्र होते हैं। प्रभु के चाहनेवाले परस्पर मित्रता के भाव से वर्तते हैं। ३. **सोमम् सुन्वन्ति**=अपने में सोम=शक्ति का अभिषव—उत्पादन करते हैं। प्रभु की व्यवस्था के अनुसार आहार का अन्तिम परिणाम सोम है, इस सोम को ये अपने अन्दर ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं। इस सोम ने ही इनकी ज्ञानाग्नि का समिन्धन करना है और इनकी बुद्धि को सूक्ष्म करके प्रभु-दर्शन योग्य बनाना है। ४. **प्रयांसि दधति**=त्यागमय प्रयत्नों को (प्रयस्=प्रयत्न, sacrifice=त्याग) ये धारण करते हैं, अर्थात् ये प्रयत्नशील तो होते ही हैं, परन्तु इनके सब प्रयत्न त्याग की भावना से ओत-प्रोत होते हैं। ५. इस प्रकार त्याग व यत्न को मिलाकर जब ये लोगों के हितसाधन में लगे होते हैं उस समय वे लोग, अपनी नासमझी के कारण इन्हें बुरा-भला कहते हैं, गालियाँ देते हैं, परन्तु ये प्रभु-प्रवण लोग **जनानाम्**=उन मनुष्यों के **अभिशस्तिम्**=दुर्वचनों को ले-नहीं लेते, उन्हीं के पास रहने देते हैं। ये लोग सामान्य मनुष्यों से बहुत ऊपर उठे होते हैं, ये मनुष्य नहीं देव प्रतीत होते हैं। वेद कहता है कि **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वत् हि**=आपका ही **कश्चन**=कोई अवर्णनीय-सा **प्रकेतः**=प्रकाश **आ**=सब ओर इन व्यक्तियों में दिखता है। वस्तुतः इन लोगों का यह असामान्य मनःप्रसाद इनमें प्रभु के

प्रकाश के ही कारण होता है। ये लोग सदा प्रभु के प्रिय देवों के साथ उठते-बैठते हैं, उन्हीं की ज्ञान-चर्चाओं को सुनते हैं, अतः 'देवश्रव' कहलाते हैं, उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, अतः 'देववात' नामवाले होते हैं। ये लोग पत्थरों का उत्तर पुष्पों से देते हैं, घृणा का प्रेम से।

भावार्थ—हम सौम्य, स्नेहवाले, सोम (शक्ति) का पान करनेवाले, सात्त्विक कर्मों का सेवन करनेवाले, सहनशील बनकर प्रभु-प्राप्ति के अभिलाषी बनें।

ऋषिः—**देवश्रवदेववातौ भारतौ**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'यज्ञ, भक्ति व ज्ञान' का समन्वय

न ते दूरे परमा चिद्रजाᳬस्या तु प्र याहि हरिवो हरिभ्याम्।
स्थिराय वृष्णे सवना कृतेमा युक्ता ग्रावाणः समिधानेऽअग्नौ ॥१९॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु 'देवश्रव' से कहते हैं—१. हे देवश्रव! वे उत्कृष्ट लोक, जिन्हें तूने प्राप्त करना है, **ते दूरे न**=तुझसे दूर नहीं हैं। सौम्य, सखा, सोमपायी, सत्त्वस्थ व सहनशील बनकर तू उन लोकों के समीप पहुँच गया है। हे **हरिवः**=उत्कृष्ट इन्द्रियरूप घोड़ोंवाले! **हरिभ्याम्**=अपने इन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप घोड़ों से **तु चित्**=निश्चय से **परमा रजांसि**=उत्कृष्ट लोकों में **आप्रयाहि**=सवर्था आ। प्रभु ने हमारे इस शरीररूप रथ में इन्द्रियरूप घोड़े जोते तो इसीलिए हैं कि हम इनके द्वारा उत्कृष्ट लोकों में पहुँच सकें, परन्तु सामान्यतः हीनाकर्षण के कारण हम उत्कर्ष के मार्ग पर न चलकर अपकर्ष के मार्ग पर भागे चले जाते हैं, परन्तु 'देवश्रवदेववात' उत्तम ज्ञान व प्रेरणा प्राप्त करता हुआ उत्कृष्ट लोकों की ओर ही बढ़ता है। २. इस देवश्रव की बुद्धि विषयों से आन्दोलित नहीं होती, यह स्थितप्रज्ञ बना रहता है। **स्थिराय**=इस स्थिर बुद्धिवाले **वृष्णे**=शक्तिशाली पुरुष के लिए **इमा सवना कृता**=ये यज्ञ बनाये गये हैं। उस 'अक्षर ब्रह्म' (प्रभु) ने वेदों में यज्ञों का प्रतिपादन किया है, जिससे ये स्थिर बुद्धिवाले शक्तिशाली पुरुष इन यज्ञों के करने में अपने समय का सद्व्यय कर पाएँ। ३. ये यज्ञों में लगे हुए 'देवश्रव' लोग **अग्नौ समिधाने**=यज्ञों में अग्नि के दीप्त होने पर **युक्ताः**=योगयुक्त होते हैं तथा **ग्रावाणः**=उत्कृष्ट वेदगिरा (वेदवाणी) के उपदेष्टा बनते हैं। ये केवल यज्ञों में ही अपने जीवन को समाप्त नहीं कर देते। यज्ञों के साथ ये योग का अभ्यास करते हैं, अपने मन की वृत्तियों को प्राणनिरोध द्वारा केन्द्रित करके ये उस प्रभु में अपने को युक्त करते हैं तथा इस निरुद्ध चित्तवृत्ति को ज्ञानोपार्जन में लगाके, स्वयं ऊँचे ज्ञानी बनकर, उस ज्ञान का उपदेश देनेवाले होते हैं। इस प्रकार ये अपने जीवन में 'कर्म, भक्ति व ज्ञान' तीनों ही बातों का समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं। केवल यज्ञों से ये अपने को कृतकृत्य नहीं मान बैठते।

भावार्थ—'देवश्रव' का जीवन 'यज्ञ, भक्ति व ज्ञान' का समन्वय करके चलता है।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

गोतम के दश गुण

अषाढं युत्सु पृतनासु पप्रिᳬ स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम्।
भरेषुजाᳬसुक्षितिᳬसुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम सोम॥२०॥

१. **युत्सु अषाढम्**=युद्धों में पराभूत न होनेवाले मनुष्य की हृदयस्थली पर दैवी व आसुरी वृत्तियों का सतत युद्ध चलता है। इस निरन्तर चल रहे देवासुर संग्राम में न पराजित

होनेवाले पुरुष को ही हम **अनुमदेम**=अनुमोदित करते हैं, अर्थात् 'आदमी' तो हम इसे ही मानते हैं। २. **पृतनासु पप्रिम्**=(पृतना संग्रामनाम—नि० २।१७) संग्राम में अपना पालन व पूरण करनेवाले। अध्यात्मसंग्राम तो निरन्तर चलता है। समाज में भी संघर्ष आ जाते हैं। इन संघर्षों में यह अपना रक्षण करता है, जिससे कहीं रोगों व ईर्ष्यादि का शिकार न हो जाए। 'संघर्ष शक्ति पैदा करता है' 'Resistance creates power' इस नियम का ध्यान करता हुआ यह संग्रामों का स्वागत करता है। ३. **स्वर्षाम्**=(स्वः सन्) यह प्रकाश का सेवन करनेवाला होता है। 'स्वः' का अभिप्राय 'स्वर्ग' भी है, परन्तु यहाँ प्रकाश अर्थ ही अधिक उपयुक्त है। यह अपने अन्दर ज्ञान के प्रकाश को बढ़ाने के लिए यत्नशील होता है। ४. **अप्साम्**=(अप् सन्) उस ज्ञानप्रकाश के कारण ही यह सदा (आप्=व्याप्ति) व्यापक, स्वार्थ से ऊपर उठे हुए कर्मों का सेवन करनेवाला बनता है। ज्ञान इसे स्वार्थमय कामनाओं से ऊपर उठाता है और यह परार्थ की भावना से प्रेरित होकर व्यापक हित के कार्यों में लगा रहता है। ५. **वृजनस्य गोपाम्**=इस प्रकार परार्थ के कामों में लगा हुआ यह व्यक्ति कभी विषयासक्त नहीं बनता और बल का रक्षक होता है। (वृजनम्=बल—नि० २।९) ६. इसी सुरक्षित बल के कारण **भरेषुजाम्**=(भरणीयेषु संग्रामेषु जेतारम् द०) यह संग्रामों में सदा विजयी होता है। (भरेषु जनयति) संग्रामों में यह अपनी शक्ति का प्रादुर्भाव करनेवाला होता है, कभी निराश नहीं होता। ७. **सुक्षितिम्**=(क्षि निवासगत्योः)=संग्रामों में विजयी बनकर यह उत्तम निवास व गतिवाला होता है। ८. **सुश्रवसम्**=उत्तम कीर्तिवाला होता है ९. **जयन्तम्**=जीतता-ही-जीतता है, यह हारता नहीं। १०. इतना कुछ होने पर भी यह अभिमानी नहीं हो जाता, विनीत ही बना रहता है, अतः कहते हैं कि हे **सोम** =सब दिव्य गुणों से युक्त होकर भी विनीत बने हुए प्रशस्ततम इन्द्रियोंवाले 'गोतम' **त्वाम् अनुमदेम**=हम तुझे अनुमोदित करते हैं। (We cheer you up) आपके जीवन की हम प्रशंसा करते हैं।

सूचना—अधिभौतिक अर्थ में 'ऐसे राजा को हम अनुमोदित करते हैं' यह अर्थ होगा। जो राजा युद्धों में पराजित नहीं होता, संग्रामों में सैनिकों की रक्षा करता है, राष्ट्र को स्वर्ग बनाता है, प्रजा को प्राप्य होता है, राष्ट्र की शक्ति की रक्षा करता है, संग्राम विजयी, उत्तम भूमिवाला, कीर्तिमान व सदा विजयी होता है। ऐसा होता हुआ भी अंहकार से दूर होता है।

भावार्थ—'गोतम'=प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष के जीवन में उपर्युक्त दस बातें अवश्य होती हैं।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

उत्तम सन्तान

सोमो॑ धे॒नुꣳसोमो॒ऽअर्व॑न्तमा॒शुꣳसोमो॑ वी॒रं क॑र्म॒ण्यं ददाति।
सा॒द॒न्यं᳖ विद॒थ्य॒ꣳस॒भेयं॑ पितृ॒श्रव॑णं॒ यो ददा॑शदस्मै ॥२१॥

पिछले मन्त्र में वर्णित उत्कृष्ट जीवनवाले व्यक्तियों का निर्माण घरों में ही होगा। घरों में प्रत्येक गृहस्थ अपने सन्तान को उत्तम बनाए। वस्तुतः 'माता-पिता की प्रवृत्ति प्रभु-प्रवण होगी, वे प्रकृति में फँसे हुए न होंगे' तभी वे सन्तानों को अच्छा बना पाएँगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **सोमः**=वे सोम प्रभु उन माता-पिता को उत्तम सन्तान प्राप्त कराते हैं **यः**=जो **अस्मै**=इनके लिए **ददाशत्**=अपना समर्पण करते हैं, अर्थात् अन्तःस्थित उस प्रभु के निर्देशों के अनुसार जीवनयापन करने पर प्रभु हमारे सन्तानों को बड़ा अच्छा बना देते हैं। **सोमः**=वे सोम सन्तान **ददाति**=देते हैं। कैसे सन्तान को? १. **धेनुम्**=(धेट् पाने) अपने अन्दर उत्पन्न हुई-हुई सोम-(वीर्य)-शक्ति का पान करनेवाले को। यह सोमशक्ति का पान

आगे आनेवाली सारी उन्नतियों का मूल है, अतः सर्वप्रथम इसी का उल्लेख है। २. **अर्वन्तम्**=(अर्व हिंसायाम्) सोमरक्षा के द्वारा शरीर में सब रोगकृमियों को तथा मन में सब ईर्ष्या-द्वेष आदि की भावनाओं की हिंसा करनेवाले को। सुरक्षित सोम ही वह मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र है जो सब रोगों को दूर करता है। सोमी पुरुष ईर्ष्या-द्वेषादि से ऊपर उठा रहता है। ३. **आशुम्**=(अश् व्याप्तौ) शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाले को। इसका जीवन स्फूर्तिमय होता है। आलस्य इसे कभी नहीं घेरता। ४. वे **सोमः**=सोम **वीरम्**=वीर सन्तान को **ददाति**=देते हैं। संसार में यह कभी कायर नहीं बनता। संसार-संघर्ष में घबरा नहीं जाता। आनेवाले विघ्नों का वीरता से मुक़ाबला करता है। ५. **कर्मण्यम्**=उत्तम कर्मवाले को। प्रभु-प्रवण पति-पत्नी की सन्तान सदा क्रियाशील होती है। ६. **सादन्यम्**=यह सदन=घर का उत्तम निर्माण करनेवाला होता है। ७. **विदथ्यम्**=यह सन्तान ज्ञानयज्ञों में शोभावाला होता है। ८. **सभेयम्**=सभा में सभ्योचित व्यवहारवाला होता है, और ९. **पितृश्रवणम्**=माता-पिता की आज्ञा सुननेवाला होता है, उनका आज्ञाकारी बनता है।

यहाँ मन्त्र में प्रभु का 'सोम' नाम से स्मरण किया है। इसका अर्थ (स उमा)=पूर्ण ज्ञानवाला, शान्त व शक्ति का पुञ्ज है। वस्तुतः सन्तान में यही गुण इष्ट हैं कि वे ज्ञानी हों, शान्त हों, सशक्त हों।

भावार्थ—गृहस्थ प्रभुभक्त होंगे तो उत्तम सन्तान का निर्माण कर पाएँगे।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

बाल-प्रभु-भजन

त्वमिमाऽओषधीः सोम विश्वास्त्वमपोऽअजनयस्त्वं गाः।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥२२॥

प्रभुभक्त माता-पिता सन्तानों को भी प्रभु-भजन में सम्मिलित करते हैं और उनसे प्रतिक्षण प्रयुक्त होनेवाले फूल-फल के विषय में—पानी व गौ आदि पशुओं के विषय में प्रश्न करते हैं कि 'इन्हें बनानेवाला कौन है?' वे धीमे-धीमे उन बालकों का ध्यान प्रभु की ओर लाने का प्रयत्न करते हैं, फिर निम्न शब्दों में बालकों का प्रभु-भजन चलता है।

हे **सोम**=शान्त प्रभो! जिन आपकी क्रिया अत्यधिक व महान् होती हुई भी बड़ी शान्ति से चल रही है, ऐसे **त्वम्**=आप ही **इमाः विश्वाः ओषधीः**=इन सब ओषधियों को **अजनयः**=उत्पन्न करते हैं, **त्वम्**=आप ही **अपः**=इन (शान्त-निर्मल) जलों को उत्पन्न करते हैं। **त्वम्**=आपने ही हमारे दूध आदि पदार्थों के लिए **गाः**=गौ आदि पशुओं को बनाया है। ठीक बात तो यह है कि **त्वम्**=आपने ही इस विशाल **अन्तरिक्षम्**=आकाश को **आततन्थ**=चारों ओर अनन्त-सी दूरी तक विस्तृत किया है और **त्वम्**=आप ही **ज्योतिषा**=इन सूर्य, चन्द्र व तारों आदि के प्रकाश से **तमः**=अन्धकार को **विववर्थ**=दूर करते हैं।

समझदार माता-पिता प्रश्नोत्तर के द्वारा अपने सन्तानों के मस्तिष्क में उल्लिखित बातों को अंकित करते हैं—वे फूल-फल, नदियों, पर्वतों के दृश्यों से प्रभावित सन्तानों को उनके निर्माता के विषय में सोचने के लिए प्रेरित करते हैं और जब सन्तानें प्रभु का कुछ आभास देखने लगती हैं तब उल्लिखित स्वाभाविक स्तवन उनके मुख से उच्चारित होता है। जिन घरों में इस प्रकार प्रभु-भजन चलेगा वहाँ सन्तान सद्गुणी, पिछले मन्त्र में वर्णित विशेषताओंवाले क्यों न बनेंगे?

भावार्थ—माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे अपनी सन्तानों में भी प्रभु-भक्ति की प्रवृत्ति उत्पन्न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

इहलोक व परलोक का साधक—'उभय'

देवेन॑ नो॒ मन॑सा देव सोम रा॒यो भा॒गꣳस॑हसावन्न॒भि यु॑ध्य।
मा त्वा त॑न॒दीशि॑षे वी॒र्य॑स्यो॒भये॑भ्य॒: प्र चि॑कित्सा॒ गवि॑ष्टौ॥२३॥

प्रस्तुत मन्त्र में घर के बड़े व्यक्ति, जो घर के सञ्चालन के लिए धनार्जन के कार्य में लगे हैं, प्रार्थना करते हैं कि हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **सोम**=अत्यन्त शान्त प्रभो! **सहसावन्**=हे शक्तिशाली प्रभो! **नः**=हमें **देवेन मनसा**=दिव्य गुणों से युक्त मन के साथ **रायः भागम्**=धन के सेवनीय अंश को **अभियुध्य**=सब ओर से प्राप्त कराइए। इस प्रार्थना में प्रभु को जिन नामों से सम्बोधन किया है वे नाम स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि हम अपने धनार्जनादि लौकिक कार्यों में (देव) दिव्य बने रहें, अच्छे गुणों को तिलाञ्जलि न दे दें। हम धन को देवोचित मार्गों से ही कमाएँ, (सोम) इन कार्यों में कभी मानस शान्ति को न खो बैठें। (सह स्तवन) धन को अपने बल व पुरुषार्थ से ही कमानेवाले बनें। धनादि के व्यवहारों में चलते समय हमारा मन 'देव-मन' बना रहे। ये धनादि का अर्जन करनेवाला व्यक्ति हे प्रभो! **त्वा**=आपको **मा तनत्**=मत पतला कर दे (तन्=to make thin), अर्थात् आपके स्मरण को ढीला न कर दे। यह अपना प्रत्येक दिन आपके स्मरण से ही प्रारम्भ करे और आपके स्मरण के साथ ही समाप्त करे, क्योंकि **वीर्यस्य ईशिषे**=सब शक्ति के ईश तो आप ही हैं। आपके सम्पर्क से ही इसे शक्ति मिलनी है। हे प्रभो! ये व्यक्ति जो दिन में दिव्य मनों के साथ धनादि के अर्जन में लगे रहते हैं और प्रातः-सायं आपके साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने में यत्नशील होते हैं और इस प्रकार अभ्युदय व निःश्रेयस—इहलोक व परलोक दोनों का ही ध्यान करते हैं। इन **उभयेभ्यः**=लोक-परलोक का ध्यान करनेवालों के लिए **गविष्टौ** (गो इष्टि, गावः इन्द्रियाणि)=इन्द्रियों से चल रहे इस जीवन-यज्ञ में **प्रचिकित्सा**=आनेवाले रोगादि विघ्नों का प्रकर्षेण निवारण कीजिए। विघ्नों व न्यूनताओं के दूर होने से इन्द्रियाँ अधिक प्रशस्त हो उठती हैं और यह प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष सचमुच 'गो-तम' इस नामवाला होता है।

भावार्थ—हम मन को पवित्र रखते हुए सुपथ से धनादि का अर्जन करें और प्रभु-स्मरण की भावना को ढीला न होने दें।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविताः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वरणीय रत्नों का आधान

अ॒ष्टौ व्य॑ख्यत्क॒कुभ॑: पृथि॒व्यास्त्री धन्व॒ योज॑ना स॒प्त सिन्धू॑न्।
हि॒र॒ण्या॒क्षः स॑वि॒ता दे॒वऽआगा॒द्दध॒द्रत्ना॑ दा॒शुषे॒ वार्या॑णि॥२४॥

१. **सविता देवः**=सबको कर्म में प्रेरित करनेवाला—देदीप्यमान व प्रकाश देनेवाला सूर्य **पृथिव्याः**=पृथिवी के **अष्टौ**=आठों **ककुभः**=दिशाओं को **व्यख्यत्**=प्रकाशित करता है। चार पूर्वादि दिशाएँ हैं, चार उपदिशाएँ हैं, इस प्रकार आठ दिशाओं की कल्पना हुई है। यह पृथिवी वेद के अनुसार 'देवयजनी'=देवताओं के यज्ञ करने का स्थान है, देवयज्ञशाला है। इसी के अनुकरण में यज्ञशालाओं को प्रायः अष्टकोण बनाने की परिपाटी हो गई है। २.

यह सविता देव **त्री योजना धन्व**=तीनों (प्राणिनः स्वस्वभोगेन योजयितॄन्) प्राणियों को विविध भोग प्राप्त करानेवाले अन्तरिक्षों को **व्यख्यत्**=प्रकाशित करता है। तीन अन्तरिक्षलोकों का उल्लेख निम्न मन्त्रों में स्पष्ट है—(क) **तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीः उपराः षड् विधानाः** (ऋ० ७।८७।५) (ख) **तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रींरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्** (ऋ० २।२७।८)। (ग) **तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति** (ऋ० १।१६४।१०) (घ) **एष लोकः त्रिवृत् योऽयमन्तरा** (तां० ११।१०) (ङ) **अन्तरिक्षं त्रिष्टुप्** (जै०उ० १।५५।३) (च) **अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः** (घ० १।५)। यजुर्वेद भी तीन भागों में बँटा हुआ है, उसी प्रकार अन्तरिक्षलोक। यजुर्वेद का पहला भाग ३८ अध्याय तक है, इसमें विविध यज्ञों का प्रतिपादन है। दूसरा भाग ३९वाँ अध्याय है, इसमें यज्ञ करनेवाले को गर्व न होने देने के लिए अन्त्येष्टि का वर्णन है। तीसरा भाग ४०वाँ अध्याय है, इसमें कहते हैं कि हे जीव! सब-कुछ करनेवाले वे प्रभु ही हैं, उन्हीं के आधार में स्थित होकर तेरे माध्यम से भी कर्म चल रहे हैं। इसी प्रकार अन्तरक्षि भी तीन भागों में बँटा है और उन सबको वह सविता देव प्रकाशित कर रहा है। (छ) **सप्त सिन्धून्**=सातों समुद्रों को भी वह सविता देव प्रकाशित करते हैं। यह **हिरण्याक्षः**=ज्योतिर्मय आँखोंवाला सविता देव **आगात्**=आया है और **दाशुषे**=हवि देनेवाले के लिए **वार्याणि रत्ना**=वरणीय उत्तम रत्नों को **दधत्**=धारण करता है। स्पष्ट है कि सूर्योदय के समय घर पर अग्निहोत्र करना चाहिए। ऐसा करने पर यह सूर्य इस दाश्वान् को स्वास्थ्यादि उत्तम रत्नों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—'सूर्योदय के समय अग्निहोत्र करना और इस प्रकार स्वास्थ्यादि उत्तम रत्नों को प्राप्त करना' हमारा महान् कर्त्तव्य है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

स्वर्ण की सुइयाँ (Gold Injections)

हिर॑ण्यपाणिः सवि॒ता विच॑र्षणिरु॒भे द्यावा॑पृथि॒वीऽअ॒न्तरी॑यते।
अपामी॑वां॒ बाध॑ते॒ वेति॒ सूर्य॑म॒भि कृ॒ष्णेन॒ रज॑सा॒ द्याम॑ृणोति॥२५॥

१. **हिरण्यपाणिः**=स्वर्ण है हाथ में जिसके, ऐसा **सविता**=सबका प्रेरक **विचर्षणिः**=विश्वद्रष्टा (सर्वप्रकाशक) सूर्य **उभे द्यावापृथिवी अन्तः**=इन दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **ईयते**=गति करता है। सूर्य की किरणें ही सूर्य के हाथ हैं। इन किरणरूप हाथों में सूर्य हिरण्य=स्वर्ण को लेकर आता है, जिस प्रकार एक वैद्य क्षय-पीड़ित को स्वर्ण के इंजैक्शन देता है, उसी प्रकार यह सूर्य अपनी किरणों से स्वर्ण को शरीर में प्रविष्ट करता प्रतीत होता है। यह सबको कर्म में प्रवृत्त करने से 'सविता' है। सबको प्रकाशित करने से 'विचर्षणि' है। २. उदय होता हुआ सूर्य जब इन किरणरूप हाथों से स्वर्ण के इंजैक्शन लगाता है तब **अमीवाम्**=रोगकृमियों को **अपबाधते**=सुदूर नष्ट कर देता है। **'उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः**'=(अथर्व०) उदय और अस्त होता हुआ सूर्य किरणों से कृमियों का संहार करता है। ३. **सूर्यम्**=ज्योति तथा वर्च को (सूर्यो ज्योतिः, सूर्यो वर्चः) **वेति**=(वी=प्रजनन) उत्पन्न करता है। सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आने से मस्तिष्क में ज्योति का उदय होता है तो शरीर वर्चस्वी बनता है। ४. यह सविता देव **कृष्णेन**=अन्धकार के निवर्तक **रजसा**=तेज से **द्याम्**=द्युलोक को **अभिऋणोति**=समन्तात् व्याप्त करता है, अथवा **अभिकृष्णेन**=अपनी ओर आकृष्ट **रजसा**=लोकसमूह के साथ

द्याम् ऋणोति=द्युलोक में गति करता है। सूर्य अपने आकृष्ट लोकसमूह के साथ आकाश में आगे-और-आगे चल रहा है।

भावार्थ—सूर्य की किरणें स्वर्णमय हैं, उनके सेवन से सब रोग दूर होते हैं। ज्योति व वर्चस् की उत्पत्ति के लिए सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहना आवश्यक है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्वास्थ्यरूप धन की प्राप्ति

हिरण्यहस्तोऽअसुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ्।
अपसेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः॥२६॥

१. **हिरण्यहस्तः**=सुवर्णमय हाथवाला। यही भावना पिछले मन्त्र में 'हिरण्यपाणिः' शब्द से व्यक्त हुई है। पाणि शब्द में रक्षा करने की भावना थी तो हस्त शब्द में (हस्तो हन्तेः) नष्ट करने का भाव है। सूर्य अपनी किरणों में विद्यमान स्वर्ण के प्रभाव से हमारे शरीरों की रक्षा करता है और रोगों का नाश करता है। २. **असुरः**=(असून् राति) यह प्राणशक्ति देनेवाला है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**= यह सूर्य क्या उदय होता है, प्रजाओं का प्राण ही उदय होता है। ३. **सुनीथः**=सर्वत्र प्रकाश फैलाने के कारण उत्तम मार्गों से ले-चलता है। ४. **सुमृडीकः**=उत्तम मार्ग से ले- चलकर हमारे जीवनों को उत्तम सुख प्राप्त कराता है। ५. **स्ववान्**=यह उत्तम धनवाला है। स्वास्थ्य ही सर्वोत्तम धन है और उसे प्राप्त कराने में यह सूर्य सर्वमहान् सहायक है। ६. यह सूर्य **यातुधानान्**=शरीर में शतशः पीड़ाओं का आधान करनेवाले **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमिरूप राक्षसों को **अपसेधन्**=दूर करता हुआ **अर्वाङ् यातु**=हमें अभिमुखता से प्राप्त हो। हम सूर्याभिमुख होंगे तो रोगकृमियों का संहार होकर हमें स्वास्थ्यरूपी धन की प्राप्ति होगी। ७. उल्लिखित कारणों से ही 'हिरण्यहस्त, असुर, सुनीथ, सुमृडीक व स्ववान्' होने से ही यह **देवः**=दिव्य गुणोंवाला प्रकाशमय सूर्य **प्रतिदोषम्**=प्रतिरात्रि, अर्थात् सदा **गृणानः**=स्तुति किया जाता हुआ **अस्थात्**=ठहरता है, अर्थात् सूर्य के महत्त्व को समझनेवाले लोग सदा सूर्य का स्तवन करते हैं। उसके गुणों का प्रतिदिन स्मरण करते हैं।

भावार्थ—रोगकृमियों के संहार के लिए प्रातः-सायं सूर्याभिमुख होकर ध्यान करना अत्यन्त उपयोगी है।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मार्ग कैसे हों? सविता का उपदेश

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृताऽअन्तरिक्षे।
तेभिर्नोऽअद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नोऽअधि च ब्रूहि देव॥२७॥

हे **सवितः**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाले सूर्यदेव! **ये**=जो **ते**=तेरे **पन्थाः**=मार्ग **अन्तरिक्षे**=इस विशाल आकाश में **सुकृताः**=उतम प्रकार से बनाये गये हैं जो **पूर्व्यासः**=हमारी सब आवश्यकताओं का पूरण करनेवाले हैं और **अरेणवः**=धूलिरहित हैं **तेभिः**=उन **सुगेभिः**=सुगमता से गति के योग्य **पथिभिः** =मार्गों से **नः**=हमें **अद्य**=आज **रक्ष**=सुरक्षित कीजिए, **च**=और हे **देव**=दिव्य प्रकाश देनेवाले सूर्य! **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=खूब उपदेश दीजिए। 'हमारे जीवन का मार्ग क्या हो?' यह हम आपसे जान सकें।

'रास्ते कैसे हों?' इस प्रश्न का उतर यह है कि १. **पूर्व्यासः**=पूरण करनेवाले, आवश्यतओं को पूरा करनेवाले हों। जैसे पैदल के चलने का मार्ग, गाड़ियों का मार्ग ये सब अलग-अलग हों। २. **अरेणवः**=उन मार्गों पर धूल न हो। धूलवाले मार्ग फेफड़ों की बीमारियों के कारण बनेंगे? ३. **सुकृताः**=ये मार्ग अच्छे प्रकार बने हुए हों—ठोकरें न लगती रहें। ४. मार्ग ऊबड़-खाबड़ न होकर **'सु-ग'** हों।

मनुष्य प्रतिदिन उदय होते हुए सूर्य से उपदेश ग्रहण करे। १. जैसे सूर्य बड़े नियम से उदय होता है उसी प्रकार मनुष्य नियमित जीवनवाला हो, उसका जीवन clock-wise नहीं sun-wise चले **'स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'**। २. सूर्य सभी को प्रकाश देता है, सूर्य के व्यवहार में पक्षपात नहीं। मनुष्य भी सबमें समभाव रक्खे। ३. सूर्य निर्लेपभाव से अपना कार्य करता चलता है, किसी की स्तुति-निन्दा से वह अपमानित नहीं होता। मनुष्य को भी चाहिए कि अपने कर्त्तव्यकर्म को करता चले, अकर्त्तव्य को कभी न करे। इस प्रकार सूर्य से उपदेश लेकर कोई कभी हिंसित नहीं होता। सूर्य का सर्वमहान् उपदेश यह इस रूप में लेता है कि जैसे सूर्य पानी की ऊर्ध्वगति का कारण बनता है, उसी प्रकार यह अपने शरीर में वीर्य (हिरण्य) की ऊर्ध्वगति करनेवाला 'हिरण्य-स्तूप' हो जाता है। वीर्य की ऊर्ध्वगति के कारण ही यह शक्तिशाली अङ्गोंवाला 'आङ्गिरस' बन जाता है।

भावार्थ—सूर्य से हम अपने जीवन के मार्ग का निश्चय करें। नियमित, निष्पक्ष, निर्लेप जीवनवाले हों और वीर्य की ऊर्ध्वगति का पूर्ण ध्यान करें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

आश्विनों का सोमपान

उ॒भा पि॑बतमश्विनो॒भा न॒: शर्म॑ यच्छतम्। अ॒वि॒द्रि॒याभि॑रू॒तिभि॑:॥२८॥

१. पिछले चार मन्त्रों में सविता की आराधना थी। सविता की अराधना का अभिप्राय इतना ही है कि इस समय मुख्यरूप से प्राणसाधना होनी चाहिए। उस प्राणसाधना का ही प्रस्तुत तीन मन्त्रों में उल्लेख है और इसके बाद फिर ३१वें मन्त्र में हिरण्यस्तूप ऋषि सविता का स्तवन करेंगे। इन मन्त्रों में प्राणसाधना के द्वारा कण-कण करके अभद्रता को दूर करके भद्र वस्तुओं को अपने अन्दर भरनेवाला 'प्रस्कण्व' कहलाता है। यह प्रस्कण्व ही मेधावी=समझदार है। प्राणसाधना को जीवन का मूलाधार समझना चाहिए। २. प्रस्कण्व कहता है—हे **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापानो! **पिबतम्**=तुम सोम का पान करो। वस्तुतः प्राणसाधना का सर्वप्रथम लाभ यही है कि शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति शरीर में ही व्याप्त हो जाती है। इसी शक्ति ने शरीर को रोगों के आक्रमण से बचाना है। इस शक्ति के होने पर मन ईर्ष्या-द्वेष आदि से बचा रहता है, इसी शक्ति ने ही बुद्धि की कुण्ठा को दूर करना है। ३. इस प्रकार सोमपान के द्वारा हे प्राणापानो! आप **उभा**=दोनों **नः**=हमें **शर्म**=कल्याण व सुख **यच्छतम्**=दीजिए। वास्तविक सुख 'शरीर, मन व बुद्धि के स्वास्थ्य' में ही है। ४. हे प्राणापानो! **अविद्रियाभिः**=(द्रा=निन्दित) अनिन्दित, प्रशस्त अथवा (दृ=विच्छेद) अविच्छिन्न **ऊतिभिः**=गतियों, क्रियाओं के द्वारा आप हमें सुखी कीजिए। प्राणसाधना के ठीक चलने पर सोमरक्षा द्वारा हमारा मन अशुभ विचारोंवाला होगा ही नहीं और परिणामतः हमारी क्रियाएँ भी उत्तम होंगी। शरीर के स्वास्थ्य के कारण 'आलस्य' न होगा, मन के स्वास्थ्य के कारण 'अशोभा' नहीं होगी और बुद्धि के स्वास्थ्य के कारण उन कर्मों में 'औचित्य' होगा। इस प्रकार ये प्राणापान हमारे जीवनों को कल्याणमय कर रहे होंगे।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में वीर्य की रक्षा होकर सब कार्य पवित्र होते हैं।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

कर्मवीर

अप्न॑स्वतीमश्विना॒ वाच॑म॒स्मे कृ॒तं नो॑ दस्रा वृषणा मनी॒षाम्।
अ॒द्यू॒त्येऽव॑से॒ नि ह्व॑ये वां वृ॒धे च॑ नो भवतं॒ वाज॑सातौ॥२९॥

प्राणसाधना के मुख्य लाभ का गतमन्त्र में वर्णन हुआ था। जीवन में होनेवाले अगले परिणामों को प्रस्तुत मन्त्र में दिखलाते हैं १. ये प्राणापान **अश्विना**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाले हैं, परिणामतः प्राणसाधक कर्मशील होता है। पिछले मन्त्र में कर्मों के प्रशस्त होने और अविच्छिन्न रूप से चलने का उल्लेख था। यहाँ कहते हैं कि हे प्राणापानो! **अस्मे**=हमारे लिए **वाचम्**=वाणी को **अप्नस्वतीम्**=व्यापक कर्मोंवाला **कृतम्**=कर दीजिए। प्राणसाधक वाग्वीर न होकर कर्मवीर होता है। इसके कर्म भी व्यापक, स्वार्थ की भावना से भरे हुए नहीं होते। २. ये प्राणापान **दस्रा**=(दसु उपक्षये) सब रोगकृमियों व मलों का संहार करनेवाले हैं और **वृषणा**=हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं। इनसे प्रस्कण्व प्रार्थना करता है कि बुराइयों का संहार कर हमें शक्तिशाली बनानेवाले हे प्राणापानो! **नः**=हमारे लिए **मनीषाम्**=(मनसः ईष्टे) मन का शासन करनेवाली बुद्धि को **कृतम्**=कीजिए। सामान्य शब्दों में कहें तो यह कहेंगे कि ये प्राणापान हमें वह बुद्धि प्राप्त कराते हैं जो मन का शासन करनेवाली होती है, अर्थात् हमारी सब इच्छाएँ विवेकपूर्वक होने से औचित्यवाली होती हैं। इसी से हम धनादि के अर्जन में कभी भी अनुचित साधनों का प्रयोग नहीं करते। २. हे प्राणापानो! **वाम्**=आपको मैं **अद्यूत्ये**=द्यूत से उत्पन्न न होनेवाले **अवसे**=धन के लिए **निह्वये**=पुकारता हूँ। प्राणसाधक कभी सट्टे आदि के द्वारा धन कमाने की कामना नहीं करता, वह श्रमार्जित धन को ही धन समझता है। ४. **च**=और **वाजसातौ**=शक्ति की प्राप्ति में अथवा संग्रामों में **नः**=हमारी **वृधे**=वृद्धि के लिए **भवतम्**=होओ। इन प्राणापान से शक्ति तो बढ़ती ही है, वासनाओं के साथ संग्राम में हम विजयी भी होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधक १. वाग्वीर न होकर कर्मवीर होता है, २. इसका मन बुद्धि के अनुशासन में चलता है, ३. यह श्रम से ही धनार्जन करता है, ४. वासना-संग्राम में सदा विजयी होता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

छह देवों द्वारा आदरण

द्युभि॑र॒क्तुभि॒ः परि॑ पातम॒स्मानरि॑ष्टेभिरश्विना॒ सौभ॑गेभिः।
तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑ति॒ः सिन्धु॑ः पृथि॒वीऽउ॒त द्यौः॥३०॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **द्युभिः**=दिनों में **अक्तुभिः**=रात्रियों में, अर्थात् दिन-रात **अस्मान्**=हमारी **परिपातम्**=रक्षा कीजिए। दिन में हम आलस्यशून्य होकर विवेकपूर्वक शुभ भावनाओं से युक्त होकर कार्यों में लगे रहें, रात्रि में गाढ़ी नींद में जाकर अशुभ स्वप्नों की आशंका से बचे रहते हैं। २. हे प्राणापानो! आप **अरिष्टेभिः**=न हिंसित होनेवाले **सौभगेभिः**=सौभगों के द्वारा हमारी रक्षा कीजिए। 'भग' शब्द में 'ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान व अनासक्ति (वैराग्य)' की भावना है। इन सब सुन्दर भगों को प्राप्त करानेवाले ये प्राणापान हैं। इनसे हम सब प्रकार से सुरक्षित होकर हिंसित होने से बचे रहते हैं। ३. कुत्स कहता

है कि इस प्रकार प्राणसाधना से अपनी रक्षा व सौभग प्राप्ति के **तत्**=उस **नः**=हमारे संकल्प को **मित्रः वरुण अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः**=मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्यौ—ये सब देवता **मामहन्ताम्**=आदृत करें। जैसे बैंक चेक को आदृत (Honours) करता है, अर्थात् उसे कैश कर देता है, उसी प्रकार ये देव हमारे इस सङ्कल्प को आदृत करें, पूर्ण करें। जिस समय ये देवता मेरे इस संकल्प को आदृत करेंगे तब मैं इन देवों को अपने में प्रतिष्ठित हुआ-हुआ पाऊँगा। उस दिन (क) **मित्रः**=मैं सभी के साथ स्नेह करनेवाला बनूँगा। (ख) **वरुणः**=मैं द्वेष का निवारण करनेवाला बनूँगा। (ग) **अदितिः**=(दो अवखण्डने) सब प्रकार के खण्डनों से रहित पूर्ण स्वस्थ होऊँगा। (घ) **सिन्धुः**=(स्यन्दन्ते, अर्थात् बहनेवाले जल=शरीर में रेतस्) मेरे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति का सञ्चार होगा। (ङ) **पृथिवी**=(प्रथ विस्तारे) मेरा हृदय विस्तार को लिये हुए होगा और (च) **द्यौः**=(दिव=प्रकाश) मस्तिष्क ज्योतिर्मय होगा।

भावार्थ—प्राणसाधना से हममें मित्रादि देवों का निवास होता है। हम 'स्नेहमय, निर्द्वेष, स्वस्थ, शक्तिसम्पन्न, विशाल हृदय व दीप्तमस्तिष्क' बनते है। एवं, ये छह देव हमारा आदर करते हैं।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

सूर्य का पालकत्व Looking after by the sun

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥३१॥

सविता देवः=सबका प्रेरक दिव्य गुणोंवाला सूर्य **आ**=चारों ओर **कृष्णेन**=अपनी ओर आकृष्ट **रजसा** =लोकसमूह के साथ **वर्त्तमानः**=विद्यमान होता हुआ **अमृतम्**=अमर आत्मतत्त्व को **मर्त्यं च**=और इस मरणधर्मा शरीर को **निवेशयन्**=विशेषरूप से स्वस्थ करता हुआ **हिरण्ययेन रथेन**=ज्योतिर्मय, सुनहरे रथ से **भुवनानि पश्यन्**=सब लोकों को देखता हुआ **याति**=चल रहा है। सूर्य के आकर्षण से कितने ही पिण्ड सूर्य के चारों ओर अपने मार्ग पर आक्रमण कर रहे हैं। इन सब पिण्डों के साथ गति करता हुआ यह सूर्य एक सौरलोक कहलाता है। यह सारा सौरलोक प्रति सैकिण्ड बारह मील की गति से अन्तरिक्ष में आगे-और-आगे चल रहा है (याति)। सूर्य का रथ हिरण्यय है। चमकने से यह हिरण्यय कहलाता है और इसकी किरणों में हिरण्य है ही। पिछले मन्त्रों में इसे 'हिरण्यपाणि' व 'हिरण्यहस्त' कहा था। यह अपने इस हिरण्य से सब लोकों का पालन करता है (पश्यन्=Looking after)। शरीर व मन के स्वास्थ्य का यह कारण बनता है। यह सूर्य, मर्त्य व अमृत, क्षर व अक्षर, शरीर व मन दोनों को ही स्वस्थ करता है (निवेशयन्)। दोनों को अपने स्थान में (स्व) स्थित (स्थ) करता है। सूर्याभिमुख बैठने से शरीर ही नहीं अपितु मन भी स्वस्थ बनता है। एवं, यह सूर्य अपने तेज से हमारे रोगों व मलों को नष्ट करता हुआ हमारा रक्षण करता है, इसी से अगले मन्त्र में यह 'पिता' कहा गया है।

भावार्थ—हिरण्ययरथवाले सूर्य का सेवन करनेवाला 'हिरण्यस्तूप' ऋषि हिरण्य का धारण करके 'शरीर व मन' दोनों के दृष्टिकोण से स्वस्थ बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**रात्रिः**। छन्दः—**पथ्याबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

रात्रि का दीप्त-तम (अन्धकार)

आ रात्रि पार्थिवꣳ रजः पितुरप्रायि धामभिः।
दिवः सदाꣳसि बृहती वि तिष्ठसऽआ त्वेषं वर्त्तते तमः॥३२॥

सूर्य के प्रकाश के बाद रात्रि आती है, रात्रि की समाप्ति पर उषाकाल आता है। ठीक इसी प्रकार सूर्यदेव के ३१वें मन्त्र के पश्चात् यहाँ रात्रि देवता का ३२वाँ मन्त्र है और इसके पश्चात् उषा का ३३वाँ मन्त्र आएगा और ३४ से ४० तक प्रात:काल की प्रार्थना के मन्त्र चलेंगे। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **आरात्रि**=रात्रि तक, रात्रि के आने तक **पार्थिवं रजः**=यह पार्थिवलोक **पितुः**=उस पालक सूर्य के **धमाभिः**=तेजों से **अप्रायि**=परिपूर्ण किया जाता है। (एषा वै पिता य एष सूर्यस्तपति। —शत० १४।१।४।१५)। दिनभर सूर्य अपनी हिरण्यय किरणों से तेजस्विता का प्रसारण करता है। सूर्य प्रजाओं का प्राण है। सारा पार्थिवलोक—क्या वनस्पतियाँ और क्या प्राणी सभी सूर्यकिरणों के सम्पर्क में जीवित हो उठते हैं। धीरे-धीरे पृथिवी अपने अक्ष पर घूमती हुई सूर्य की ओर पीठ-सी कर लेती है और उस समय हमारे **दिवः**=आकाश के **सदांसि**=स्थानों में **बृहती**=बढ़ती हुई यह **रात्रि**=रात **वितिष्ठसे**=विशेषरूप से स्थित होती है। रात्रि का राज्य चारों ओर फैल जाता है और उस समय **त्वेषम् तमः**=यह चमकता हुआ रात्रि का अन्धकार **आवर्तते**=सर्वत्र वर्त्तमान होता है। हम रात्रि के अन्धकार से घिर-से जाते हैं। हमारा क्षितिज अत्यन्त संक्षिप्त हो जाता है। इन्द्रियों का बाह्य प्रसार रुक जाता है। इतना ही नहीं इन्द्रियाँ बन्द-सी होकर अन्तर्मुख हो जाती हैं। उस सयम कभी-कभी स्वप्न में प्रभु-दर्शन हो जाता है, इसीलिए योगदर्शन में **'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा'**=स्वप्न में दृष्ट प्रभुज्ञान को न भूलने का प्रयत्न करने के लिए कहा है। सुषुप्ति में तो 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' इस सांख्यसूत्र के अनुसार हम कुछ ब्रह्मरूप में हो जाते हैं। एवं, यह रात्रि का अन्धकार भी हमारे लिए **त्वेषम्**=दीप्तिवाला हो जाता है। दिन के 'प्रकाश' में हमने सांसारिक वस्तुएँ देखी, तो रात्रि के उस अन्धकार में हमें प्रभु-दर्शन हुआ, अत: यह अन्धकार **'त्वेषम्'**=दीप्तिवाला तो हुआ ही। उस ब्रह्मरूपता को प्राप्त करनेवाला यह ऋषि 'कुत्स' है, जिसने सब बुराइयों को समाप्त कर दिया है (कुथ हिंसायाम्)।

भावार्थ—दिनभर सूर्य के प्रकाश से तेजस्विता को धारण करके खूब क्रियाशील रहकर हम रात में सुषुप्ति का अनुभव करें और ब्रह्म के प्रकाश को देख पाएँ।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**उषः**। छन्दः—**निचृत्परोष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

उषा का वर्णन

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति। येन तोकं च तनयं च धामहे॥३३॥

हे **वाजिनीवति**=अन्नादि ऐश्वर्ययुक्त **उषः**=प्रात:काल की सौन्दर्यमयी वेला **चित्रम्**=तू आश्चर्यरूप धारण करनेवाली है। प्रात:वेला में पक्षी चहचाहने लगते हैं, शीतल, सुगन्ध समीर बहने लगता है, सर्वत्र सौन्दर्य छा जाता है **तत्**=उस रूप को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **आभर**=अच्छी प्रकार पुष्ट कर **येन**=जिससे हम लोग **तोकम्**=सुयोग्य पुत्रों को **च**=और **तनयम्**=पौत्रों को **च**=भी **धीमहि**=धारण करें, प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभात-समय में हम पुत्र और पौत्रों के साथ आनन्द प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**अग्न्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

अग्नि आदि देवों का आह्वान

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रꣳ हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रꣳ हुवेम॥३४॥

प्रातः=प्रभातवेला में **अग्निम्**=प्रकाश और गर्मी देकर आगे ले-जानेवाले सच्चे अग्नि=अग्रेणी—नेता, भगवान् को, जीवन में आगे बढ़ने की भावना को **प्रातः**=प्रातःकाल के समय **इन्द्रम्**=ऐश्वर्यशाली और विघ्नों को विदीर्ण करनेवाले इन्द्ररूप परमात्मा को—जीवन में ऐश्वर्यशाली, धन-धान्य से समृद्ध होने की भावना को **हवामहे**=पुकारते हैं, बुलाते हैं, स्मरण करते हैं, अपने जीवन में धारण करते हैं। **प्रातः**=प्रभातवेला में **मित्रावरुणा**=सबसे स्नेह करनेवाले मित्ररूप, सबसे वरणीय, किसी से द्वेष न करनेवाले, न्यायकारी, दण्डदाता, वरुणरूप प्रभु को, सबसे स्नेह करने, किसी से द्वेष न करने की भावना को **प्रातः**=प्रातःकाल के समय **अश्विना**=प्राण और अपानरूप, दाता और प्रतिग्रहीता, सब तक पदार्थों को पहुँचानेवाले तथा सबसे पदार्थों को लेनेवाले अश्विनीरूप परमेश्वर को **हवामहे**=अपनी सहायता के लिए पुकारते हैं। **प्रातः**=इस उषाकाल में **भगम्**=सौभाग्य प्रदान करनेवाले, धन-सम्पत्ति के भण्डार, भजनीय, सेवनीय भगरूप भगवान् को **पूषणम्**=सबकी पुष्टि करनेवाले पूषारूप भगवान् से उतने धन के लिए प्रार्थना है जितना कि पोषण के लिए पर्याप्त हो, परन्तु पारिवारिक जीवन केवल खान-पान के पर्याप्त होने से ही सुन्दर नहीं बन जाता, अतः कहते हैं ६. कि **ब्रह्मणस्पतिम्**=हम प्रातः बृहस्पति=ज्ञान की देवता का आह्वान करते हैं। स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। स्वाध्यायशील पति-पत्नी छोटी-छोटी बातों में उलझ नहीं जाते। उनका मापक ऊँचा बना रहता है। वे संसार को ठीक रूप में देख पाते हैं, अतः उनकी क्रियाएँ भी ठीक होती हैं। ७. अपने सामाजिक जीवन को अच्छा बनाने के लिए **प्रातः सोमम्**=इस प्रातःकाल में हम सोम को पुकारते हैं। सौम्य=नम्र बनने का निश्चय करते हैं। अभिमान सबसे महान् सामाजिक दोष है। इससे हम सबकी घृणा के पात्र बन जाते हैं। नम्रता सद्गुणों से युक्त करती है, वह सबका प्रिय भी बनाती है, परन्तु एक सौम्य-ही-सौम्य राजा प्रजा का ठीक शासन नहीं कर पाता, अतः मन्त्र में कहते हैं कि ८. **उत रुद्रम् हुवेम**=सौम्यता के साथ रुद्रता को भी हम पुकारते हैं। यह रुद्रता नियन्त्रण के लिए आवश्यक होती है। इसी प्रकार हम संसार में सौम्य हों, परन्तु उसमें उचित मात्रा में रुद्रता का सम्पर्क हो। ऐसा होने पर ही हम समाज में, जिस किसी भी स्थिति में होंगे, सफल ही होंगे।

भावार्थ—हम प्रातः उन्नति, जितेन्द्रियता, स्नेह, निर्द्वेषता, प्राणसाधन, पोषण के लिए पर्याप्त धन, ज्ञान (स्वाध्याय), सौम्यता व उचित रुद्रता (गम्भीरता) को अपने में धारण करने का संकल्प करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

कैसा धन?

प्रातर्जितं भगमुग्रꣳ हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥३५॥

संसार-यात्रा धन के बिना चलनी सम्भव नहीं, परन्तु अन्याय से कमाया धन मनुष्य के पतन का कारण हो जाता है। वसिष्ठ प्रभु से कहता है कि १. हम **प्रातः**=उत्तम भावनाओं को अपने में भरने के समय (प्रा पूरणे) **जितम् भगम्**=उस सेवनीय धन को, जिसे हमने अपने पुरुषार्थ से जीता है, **हुवेम**=पुकारते हैं, बिना पुरुषार्थ के पाया धन मनुष्य के पतन का कारण बनता है। २. हम उस धन को पुकारते हैं जो **उग्रम्**=उदात्त है (High, noble), जिसे प्राप्त करके हम घमण्डी व कमीने नहीं बन जाते। **उग्रम्**=(Industrious)=जो

धन हमें श्रमशील बनाये रखता है। ३. **वयम् पुत्रम् (भगम् हुवेम)**=हम उस धन को पुकारते हैं जो (पुनाति+त्रायते) हमारे जीवनों को पवित्र बनाता है और वासना से सुरक्षित करता है। ४. फिर हमें वह धन चाहिए **यः**=जो **अदितेः**=अखण्डन, अर्थात् स्वास्थ्य का **विधर्त्ता**=विशेषरूप से धारण करनेवाला है। अस्वस्थ बना देनेवाला धन हमें नहीं चाहिए। 'अदिति' का अर्थ निरुक्त में 'अदीना देवमाता' दिया है। हमें वह धन चाहिए जो हमें अदीन बनाए, जिसके कारण हमें किसी के सामने गिड़गिड़ाना न पड़े और हमारे हृदयों में दिव्य गुणों का विकास हो। ५. हमें वह धन चाहिए **यम् भगम्**=जिस धन को (क) **आध्रः**=आधार देने योग्य, अर्थात् लूला-लँगड़ा **चित्**=भी **भक्षि इतिआह**='मैं खाता हूँ' ऐसा कहता है, अर्थात् जिस धन में इन सहारा देने योग्य अपाहिज लोगों को भी हिस्सा मिलता है। (ख) **मन्यमानः तुरः चित्**=आदरणीय, समाज की अज्ञानादि बुराइयों की हिंसा करनेवाला भी 'मैं खाता हूँ' इस प्रकार कहता है, अर्थात् हमारे धनों में समाजहित के कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों को भी भाग मिलना चाहिए। जो व्यक्ति **मन्यमानः**=आदरणीय माने हुए हैं। यह 'मन्यमानः' विशेषण यहाँ इसलिए है कि कहीं धन 'अपात्र' में न पहुँच जाए। जिन व्यक्तियों को हम धन दें वे समाज के आदर के पात्र हों, जिससे कि उस धन के सद्व्यय का हमें निश्चय रहे। (ग) **राजा चित् यं भगं भक्षि इतिआह**=और अन्त में हमें वह धन चाहिए जिस धन को राजा भी 'मैं खाता हूँ', ऐसा कहता है, अर्थात् जिस धन में से राजा को उचित कर दिया जाता है। राजा ने इस कर-प्राप्त धन से ही राष्ट्र की रक्षा व व्यवस्था करनी है। यदि हम कर नहीं देते तो राष्ट्र की चोरी ही करते हैं, अतः हमारे धन में अनाथों, समाज-सेवकों व राजा का भाग होना ही चाहिए।

भावार्थ—धन पुरुषार्थ से कमाया जाए, वह हमें उदात्त बनानेवाला हो, हमारी पवित्रता व वासनाओं से रक्षा का कारण हो, हमें स्वस्थ व अदीन तथा दिव्य गुणोंवाला बनाये। हमारे धन में दीनों, मान्य समाज-सेवियों तथा राजा को अवश्य अपना-अपना भाग मिले।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगवान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

जीवन-यात्रा में धन का महत्त्व

भग॒ प्रणे॑त॒र्भग॒ सत्य॑राधो॒ भगे॒मां धिय॒मुद॑वा॒ दद॑न्नः।
भग॒ प्र नो॑ जनय॒ गोभि॒रश्वै॒र्भग॒ प्र नृभि॑र्नृ॒वन्तः॑ स्याम॥३६॥

१. हे **भग**=ऐश्वर्य **प्रणेतः**=तू प्रकृष्ट नेता है, जीवन-यात्रा को उत्तमता से ले-चलनेवाला है। यह धन २. **सत्यराधः**=सत्य को सिद्ध करनेवाला है। यहाँ 'सत्य' सब उत्तम कर्मों का प्रतीक है, प्रत्येक उत्तम कार्य धन से ही सिद्ध होता है। यज्ञों के लिए, स्वध्याय के लिए, अन्य सभी उत्तम कार्यों के लिए धन की आवश्यकता है। ३. हे नेतृत्व देनेवाले, सत्य को सिद्ध करनेवाले **भग**=ऐश्वर्य! **नः**=हमारी **इमाम् धियम्**=इस बुद्धि की **ददत्**=हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण करते हुए **उदव**=रक्षा कर। जिस समय गरीबी के कारण नमक, तेल, ईंधन की चिन्ता सताती है तब यह बुद्धि को लुप्त कर देती है। ऐश्वर्य हमें इन चिन्ताओं से मुक्त करके स्वस्थ बुद्धिवाला करता है। ४. हे **भग**=ऐश्वर्य! तू **नः**=हमारा **गोभिः अश्वैः**=उत्तम गौवों व घोड़ों से **प्रजनय**=प्रकृष्ट विकास कर। धन के द्वारा हमारे घर गौवों व घोड़ोंवाले हो सकते है। ५. हे **भग**=ऐश्वर्य! तेरे द्वारा हम **प्रनृभिः**=उत्तम मनुष्यों से **नृवन्तः**=मनुष्योंवाले **प्रस्याम**=प्रकर्षेण हों। सामान्यतः हम संसार में देखते हैं कि हम सम्पन्न हैं तो हमारा घर बन्धु-बान्धवों से भरपूर रहता है, निर्धनता आई और सब गये और घर

उजड़ा-सा प्रतीत होने लगता है। (ख) सम्पन्न होने की स्थिति में मैं आये-गये मान्य अतिथियों का ठीक स्वागत कर पाता हूँ और वे मेरे यहीं निवास करते हैं। मैं गरीब हूँ तो उनके आतिथ्य की मुझे सुविधा नहीं होती और मेरा घर ऐसे मनुष्यों का निवासस्थान नहीं बनता।

भावार्थ—धन नेतृत्व करता है, सत्य को सिद्ध करता है, बुद्धि को स्थिर रखता है, हमारी शक्ति व ज्ञान के विकास का कारण बनता है और हमारे घर को उत्तम पुरुषोंवाला बनाता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रारम्भ, मध्य व अन्त में

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्वऽउत मध्येऽअह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानाᳬं सुमतौ स्याम॥३७॥

१. **इदानीम् उत**=इस समय भी **भगवन्तः स्याम**=भगवाले हों। **उत प्रपित्वे**=और अन्तकाल में भी ऐश्वर्यवाले हों। **उत अह्नाम् मध्ये**=और दिनों के मध्यभाग में भी हम ऐश्वर्यवाले हों। **उत**=और हे **मघवन्**=हे ऐश्वर्यशाली प्रभो! **वयम्**=हम **सूर्यस्य उदिता**=सूर्य के उदय होते ही **देवानाम् सुमतौ स्याम**=देवों की कल्याणी मति में हों। २. भग शब्द के छह अर्थ हैं **'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीयर्स्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा'**=(क) समग्र ऐश्वर्य, वस्तुतः ऐश्वर्य प्राप्ति का साधनभूत विज्ञान, (ख) वीर्य, (ग) यश, (घ) श्री, (ङ) ज्ञान, और (च) वैराग्य—ये छह अर्थ भगशब्द के हैं। जीवन के प्रातः काल में, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में हम विज्ञान व वीर्य का सम्पादन करनेवाले हों। साथ ही इस जीवन के प्रातःकाल में व्यक्ति अपने में विज्ञान=ऐश्वर्य और शक्ति को भरें। इस शक्ति व ऐश्वर्य प्राप्ति की योग्यता से अपने को परिपूर्ण करके सद्गृहस्थ बनता है। ३. यह सद्गृहस्थ अपने जीवन के मध्याह्न में चल रहा होता है। इसने अपने जीवन में यश और श्री का सम्पादन करना है। एक गृहस्थ को सदा ऐसे ही कर्म करने चाहिएँ जो उसके यश का कारण बनें, उसके जीवन को शोभावाला करें। ४. अब यशस्वी व श्री-सम्पन्न गृहस्थ को बिताकर मनुष्य को चाहिए कि वह आगे बढ़े और अपने जीवन के सायंकाल में ज्ञान और वैराग्य की साधना करे। यह 'श्रेयोज्ञान' (ब्रह्मज्ञान=ब्रह्म का दर्शन) पातञ्जलयोग के अभ्यास से ही होगा, अतः वानप्रस्थ को प्रातः-सायं कम-से-कम एक-एक घण्टा ध्यान करना ही चाहिए, अधिक हो सके तो अच्छा ही है। शेष समय स्वाध्याय में बिताने का प्रयत्न करना है। स्वाध्याय से श्रान्त होने पर लोकहित के कार्यों में आमोद-प्रमोद को अनुभव करना है। ये कार्य उसके आमोद-प्रमोद (Amusements) बन जाएँ। इस ज्ञान को प्राप्त करने से वैराग्य व अनासक्ति (Detachment) की भावना का उदय होगा और इस प्रकार इसका जीवन पूर्ण भगवाला हो सकेगा। ५. इस भग के क्रमिक विकास को सिद्ध करने के लिए हम सूर्योदय से ही, अर्थात् जीवन के प्रारम्भ से ही देवों की कल्याणी मति में हों। प्रातःकाल में 'मतृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'=माता-पिता व आचार्य हमें सुमति देनेवाले हों। मध्याह्न में 'अतिथिदेवो भव'=विद्वान् व व्रतमय जीवनवाले अतिथि हमें समय-समय पर सुमति देते रहें। जीवन के पूर्णता के काल में (सायंकाल में) अन्तर्मुख-यात्रा के अभ्यास से आभासित उस महादेव की कल्याणी मति को सुननेवाले हम बनें, अर्थात् आत्मा की आवाज़ को हम सुन पाएँ। इस

प्रकार देवों की कल्याणी मति से हम जीवन में पृथक् न होंगे तो अवश्य अपने अन्दर भग की वृद्धि करते हुए भगवान् के दर्शन कर पाएँगे।

भावार्थ—हमारा जीवन भग की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए भगवान् के समीप पहुँचने में ही व्यतीत हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगवान्**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु ही हमारा ऐश्वर्य हो

भगऽएव भगवाँ२॥ऽअस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्वऽइज्जोहवीति स नो भग पुरऽएता भवेह ॥३८॥

१. हे **देवाः**=देवो! आप ऐसी कृपा करो कि **भगवान् एव**=प्रभु ही **भगः अस्तु**=हमारे ऐश्वर्य हों, अर्थात् हम भगवान् को ही अपना भग बनाएँ, प्रभु-प्राप्ति को ही सच्चा ऐश्वर्य समझें। **तेन**=उस प्रभु से ही **वयम्**=हम **भगवन्तः**=भगवाले **स्याम**=हों। प्रभु ही हमारा धन हों। हम 'आत्मक्रीड व आत्मरति' बन पाएँ। हम 'आत्मन्येव च संतुष्टः'=आत्मतत्त्व को पाकर ही सन्तुष्ट हों। २. हे **भग**=सब ऐश्वर्यों के पुञ्ज प्रभो! **तम् त्वा**=उस आपको **सर्व इत्**=सर्व ही **जोहवीति**=पुकारता है। प्रभु की सच्ची आराधना वही करता है जो 'सर्व' बनता है। सर्व बनने का अभिप्राय 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों की उन्नति करने से है। केवल स्वस्थ पुरुष, केवल बुरी भावना से रहित पुरुष, किसी का बुरा चिन्तन न करनेवाला पुरुष तथा ज्ञान से भरे मस्तिष्कवाला पुरुष भी प्रभु का सच्चा उपासक नहीं। सच्चा उपासक तो वही है जो तीनों उन्नतियों की साधना करके 'सर्व' बनने का प्रयत्न करता है। ३. हे **भग**=सेवनीय, उपासनीय प्रभो! **सः**=वे आप **इह**=इस मानव-जीवन में **नः**=हमारे **पुर एता**=आगे चलनेवाले **भव**=होओ। आप हमारे नेता हों, हम आपके अनुयायी हों। हमारे पथ-प्रदर्शक आप ही हों।

भावार्थ—हम प्रभु को ही अपना सच्चा धन मानें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**भगः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

दधिक्रावा बनना

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिनऽआ वहन्तु॥३९॥

१. **उषसः**=उषाःकाल **अध्वराय**=अध्वर के लिए **संनमन्त**=सन्नत हों। हम प्रातःकाल ही विनीत बनकर अध्वर मार्ग पर चलने का निश्चय करें। 'न ध्वरति कुटिलो भवति, अध्वानं सत्पथं राति इति वा'=विनीत बनकर कुटिलतारहित सन्मार्ग पर चलें। विनीतता का परिणाम कुटिलता-त्याग है। जब नम्रता नष्ट होकर मद आ जाता है तभी जीवन कुटिलता व हिंसावाला हो जाता है। दैवी सम्पत्ति की चरमसीमा विनीतता ही है 'नातिमानिता'। २. **दधिक्रावा इव**=दधिक्रावा के समान **शुचये पदाय**=पवित्र मार्ग के लिए अथवा उस पूर्ण शुद्ध प्रभु को प्राप्त करने के लिए यह उषाःकाल हो। (क) 'दधत् क्रामतीति दधिक्रावा'=शक्ति को धारण करके चलता है, हम शक्तिशाली बनकर पवित्र मार्ग पर चलें। संसार निर्बलों के लिए नहीं है। निर्बलता में मनुष्य पाप कर बैठता है। **'वि शक्रः पापकृत्यया**—अ० ३।३१।२' शक्तिशाली पाप से दूर रहता है, इसीलिए उपनिषद् कहती है कि **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'**। (ख) 'दधत् क्रन्दति इति वा दधिक्रावा'=शक्तिशाली बनकर प्रभु को

पुकारता हुआ मैं पवित्र मार्ग पर चलूँ। **दधत्**=धारणात्मक कर्मों को करता हुआ मैं प्रभु की प्रार्थना करूँ। निर्बल बन प्रभु को पुकारने से कुछ लाभ नहीं। धारणात्मक कर्मों को करता हुआ ही प्रभु-प्रार्थना का अधिकारी है। ३. **इव**=जैसे **वाजिनः अश्वाः**=शक्तिशाली घोड़े **रथम्**=रथ को उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचाते हैं उसी प्रकार **वाजिनः**=शक्तिशाली व ज्ञानसम्पन्न **अश्वाः**=इन्द्रियरूप घोड़े **नः**=हमें **अर्वाचीने**=(अवरे देशे अञ्चति न तु परे) अन्दर ही विद्यमान **वसुविदम्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाले **भगम्**=ऐश्वर्यपुञ्ज, सेवनीय प्रभु को **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ। यहाँ इन्द्रियों का विशेषण 'वाजिनः' है, वे शक्तिशाली हों तथा ज्ञानप्राप्ति का उचित साधन हों। उस प्रभु को प्राप्त कराने के लिए इन इन्द्रियरूप घोड़ों की अन्तर्मुखयात्रा चाहिए, वे प्रभु 'अर्वाचीन' हैं, अन्दर ही मौजूद है, वे सब वसुओं के स्वामी हैं, अतः प्रभु-प्राप्ति में 'योगक्षेम' ठीक प्रकार से चलता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यह है कि (क) हम विनीतता को अपनाकर अहिंसा व अकुटिलता के मार्ग पर चलें, (ख) अपने को शक्तिशाली बनाते हुए पवित्र मार्ग का आक्रमण करें तथा धारणात्मक कर्मों में लगे हुए प्रभु की प्रार्थना करें, (ग) प्रभु को ऐश्वर्य का पुञ्ज, सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला जानते हुए अपनी इन्द्रियों को निरुद्ध कर उसी का ध्यान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**उषाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

'विश्वतः प्रपीत'—सर्वांगीण उन्नति

अश्वा॑वती॒र्गोम॑तीर्नऽ उ॒षासो॑ वी॒रव॑ती॒: सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः।
घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वत॒: प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒: सदा॑ नः॥४०॥

नः=हमारे लिए **उषासः**=उषःकाल **सदम्**=सदैव (ऋ० १।१०६। पर द०, सदम्=संवत्सरम्=वर्षभर, अर्थात् सारे साल—यास्क) **उच्छन्तु**=प्रकाशित हों। कैसी उषाएँ? १. **अश्वावतीः**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाली। अश्व शब्द 'अश्नुवते कर्मसु' इस व्युत्पत्ति से कर्मेन्द्रियों का वाचक है। हम प्रत्येक उषःकाल में उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले हों। पिछले मन्त्र में वर्णित प्रकार से हम 'अध्वरों' में अपना समय बिताएँ। धारणात्मक कर्म करते हुए जीवन-यात्रा में चलें (दधिक्रावा)। २. **गोमतीः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाली। 'गमयन्ति अर्थान्' इस व्युत्पत्ति से यह शब्द ज्ञानेन्द्रियों का वाचक है। हम प्रत्येक उषःकाल में स्वाध्याय को अपना भोजन बनाएँ और अपने मस्तिष्क का ठीक पोषण करनेवाले बनें। ३. **वीरवतीः**=ये उषःकाल वीरोंवाली हों। हम पवित्र मार्ग पर (शुचये पदाय) चलते हुए वासनाओं से दूर रहकर शक्ति को अपने में सञ्चित करनेवाले हों। ५. **भद्राः**=(भदि कल्याणे सुखे च) ये उषःकाल हमारे लिए कल्याणकर व सुखकारी हों। हम इनमें सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने का निश्चय करें। ५. **घृतम्**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मानस नैर्मल्य व ज्ञान की दीप्ति को **दुहानाः**=(दुह प्रपूरणे) हममें वे भरनेवाले हों। प्रत्येक उषःकाल (उष दाहे) हमारे दोषों का दहन करके हमें निर्मल बनाये और हमारे ज्ञानों को दीप्त करनेवाला हो। ६. **विश्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **प्रपीता**=खूब बढ़े हुए, अर्थात् हमारी वृद्धि करनेवाले ये उषःकाल हों। इनमें हम शरीर के स्वास्थ्य, मन के नैर्मल्य व बुद्धि की तीव्रता के लिए प्रयत्नशील हों। हमारी उन्नति सर्वांगीण हो, एकांगी उन्नति वस्तुतः उन्नति ही नहीं। 'विश्वतः प्रपीता' का अर्थ यह भी हो सकता है कि 'सब स्थानों से प्रकृष्ट पानवाले', हम जहाँ से भी अच्छाई मिल सके उसका ग्रहण

करनेवाले बनें। सूर्य जिस प्रकार सब स्थानों से जल ले-लेता है, इसी प्रकार हम भी सब स्थानों से अच्छाई को लेने का निश्चय करें। हे ऐसे उष:कालो! **यूयम्**=तुम **सदा**=हमेशा **नः**=हमारा **स्वस्तिभिः**=उल्लिखित बातों के द्वारा उत्तम स्थितियों से (सु+अस्ति) **पात**=पालन करो। उत्तम स्थिति यही है कि (क) हम उत्तम कर्मों में लगे रहें (अश्वावतीः) (ख) उत्तम कर्मों के लिए आवश्यक है कि हम उत्तम विचारों व ज्ञानवाले हों (गोमतीः) (ग) इस ज्ञान की उत्तमता के लिए वीर्यरक्षा आवश्यक है। वीर्य ही ज्ञानाग्नि का ईंधन है। हम वीर्यवान् हों (वीरवतीः)। (घ) ये बातें होने पर हमारा मार्ग कल्याण-ही-कल्याणवाला होगा (भद्राः)। (ङ) हमारा नैर्मल्य व ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता-ही-बढ़ता जाएगा (घृतं दुहानाः), (च) इस प्रकार हमारी सर्वांगीण उन्नति होगी (विश्वतः प्रपीताः)। हमारे उष:काल सदा हमारी इस उत्तम स्थित को प्राप्त करानेवाले (लाने) हों।

भावार्थ—हमारा प्रत्येक उष:काल उत्तमकर्म, उत्तमज्ञान, शक्ति, भद्रता, नैर्मल्य व वृद्धिवाला हो।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**पूषा**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पूजा के मार्ग पर

पूष॒न्तव॑ व्र॒ते व॒यं न रि॑ष्येम॒ कदा॑ च॒न। स्तो॒तार॑स्तऽइ॒ह स्म॑सि॥४१॥

'सुहोत्र' ऋषि का यह मन्त्र है। (हु=आदान) यह **सु**=उत्तम वस्तुओं का **होत्र**=आदान करता हुआ अपना त्राण करता है। यह कहता है कि हे **पूषन्**=सबका पोषण करनेवाले सूर्यदेव! **वयम्**=हम **तव व्रते**=तेरे व्रत में चलते हुए **कदाचन**=कभी भी न **रिष्येम**=हिंसित न हों। इसी उद्देश्य से **इह**=इस मानव-जीवन में हम **ते**=तेरे **स्तोतारः**=स्तुति करनेवाले **स्मसि**=होते हैं। स्तुति का अभिप्राय यही है कि हम तेरे गुणों का स्मरण करते हुए अपने जीवन के लिए भी एक लक्ष्यदृष्टि स्थिर करते हैं। १. जैसे सूर्य 'पूषा' है, सबका पोषण करनेवाला है, इस प्रकार हम भी 'पोषण' का व्रत लेते हैं। हम धारणात्मक कर्म ही करेंगे, ध्वंसात्मक नहीं। वस्तुतः यही तो 'दधिक्रावा' (संख्या ३९) बनना है। २. यह पूषा 'आदित्य' है सभी स्थानों से जल का आदान करता है, परन्तु इस ग्रहण में यह जल को ही लेता है, उस स्थान की दुर्गन्ध व मलिनता को नहीं लेता। हमारा भी यह व्रत हो कि हम औरों की अच्छाई को ही देखें और उसी को लें। ३. सूर्य (सरति) निरन्तर चल रहा है। यह आराम के लिए कभी कहीं रुक नहीं जाता। ४. सूर्य की चौथी बात यह है कि यह लोगों की स्तुति-निन्दा से अपने तापन व प्रकाशनरूप कार्य से कभी विचलित नहीं होता। हमें भी अपना आदर्श यही रखना है कि **'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव मरणामस्तु युगान्तरे वा, न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।'** स्तुति, निन्दा, ऐश्वर्य व निर्धनता तथा जीवन व मरण हमें अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित न कर सकेंगे। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सुहोत्र' इन 'पोषण, उत्तमता का आदान, सतत क्रियाशीलता व कर्तव्यपथ से अविचलता' रूप उत्तम बातों का आदान करता हुआ सूर्य के व्रत में चलता है, सूर्य का सच्चा स्तोता बनता है और इस प्रकार अपने जीवन में हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—हम सूर्य से शिक्षा ग्रहण करके अपने जीवन में (क) धारणात्मक कर्म ही करें, (ख) सब जगह से अच्छाई को लेनेवाले हों, (ग) क्रियाशील रहें, (घ) स्तुति-निन्दा हमें कर्त्तव्यपथ से विचलित न कर सकें।

ऋषिः—ऋजिश्वः। देवता—पूषा। छन्दः—विराट्त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

मार्गों का भी मार्ग

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतोऽअभ्यानडर्कम्।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियं सीषधाति प्र पूषा॥४२॥

पिछले मन्त्र के अनुसार सूर्य का उपासक, उसके गुणों का स्तोता बनकर सरल मार्ग से (ऋजु) निरन्तर आगे बढ़नेवाला (श्वि गति) 'ऋजिश्वा' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह इस मार्ग पर चलने के लाभ को कुछ अनुभव कर चुका है, अतः यह उस मार्ग पर **कामेन**=इच्छा से चलता है। यह सूर्य के प्रकाश की भाँति अपने को प्रकाशमय बनाने के लिए निरन्तर स्वाध्याय करता है और **वचस्या**=इस वेदवाणी से **कृतः**=संस्कृत (accomplished) हुआ-हुआ **अर्कम्**=उस सूर्य को **अभ्यानट्**=शिष्यरूपेण प्राप्त होता है जो सूर्य **पथस्पथः**=मार्गों के भी मार्ग का, अर्थात् सर्वोत्तम मार्ग का **परिपतिम्**=पूर्णरूप से रक्षक है, अर्थात् सदा एक आदर्श मार्ग पर चलनेवाला है। सूर्य के इस मार्ग का कुछ वर्णन ४१वें मन्त्र में हुआ है। इस मार्ग पर चलनेवाला 'ऋजिश्वा' प्रार्थना करता है कि **सः**=वह पूषा (सूर्य) **नः**=हमें **चन्द्राग्राः**=(चदि आह्लादे)=आह्लाद व प्रसन्नता को बढ़ानेवाली **शुरुधः**=(शुग् रुधः) शोक व दुःख को दूर करनेवाली सम्पत्तियों को **रासत्**=दे। वस्तुतः सूर्य के मार्ग पर **कामेन**=बड़ी इच्छा से उत्साहपूर्वक चलने से हमें शारीरिक स्वास्थ्य की, मानस नैर्मल्य की और बौद्धिक दीप्ति की सम्पत्ति प्राप्त होती है। ये सम्पत्तियाँ क्रमशः आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक शोकों को दूर करनेवाली हैं। नीरोगता से आध्यात्मिक कष्टों की इतिश्री हो जाती है, राग-द्वेष के क्षय से आधिभौतिक कष्ट नहीं होते और ज्ञानदीप्ति हमें आधिदैविक कष्टों से बचाती है। इस प्रकार प्रार्थना करता हुआ 'ऋजिश्वा' कहता है कि प्रभु ऐसी कृपा करे कि यह **पूषा**=सूर्य **धियम् धियम्**=हमारे प्रत्येक प्रज्ञान व कर्म को अथवा प्रज्ञापूर्वक किये जानेवाले कर्म को **प्रसीषधाति**=प्रकर्षेण सिद्ध करे। वस्तुतः मार्गों का मार्ग, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट मार्ग तो वही है जिस मार्ग से कि **पूषा**=सूर्य चल रहा है। 'पोषणात्मक कर्मों को करना, अच्छाई को लेना, क्रियामय जीवन बिताना और स्तुति-निन्दा से विचलित न होना' ही सर्वात्तम जीवन-यात्रा का मार्ग है। इस मार्ग से चलनेवाले पुरुष के सभी कर्म प्रज्ञापूर्वक होते हैं और इन कर्मों को करता हुआ वह अपने लक्ष्य-स्थान पर अवश्य पहुँच जाता है। उसकी जीवन-यात्रा पूर्ण होती है और वह सबके पोषण करनेवाले प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अध्ययन से अपने जीवन को संस्कृत बनाएँ। बड़ी इच्छा व उत्साह के साथ मार्गों के भी मार्ग के पति सूर्य के उपासक बनें, उसी के व्रत में चलें। आनन्दप्रद, दुःखद्राविणी सम्पत्तियों को प्राप्त करने का व कर्मसाफल्य का यही मार्ग है।

ऋषिः—मेधातिथिः। देवता—विष्णुः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः।

तीन कदम

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपाऽअदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥४३॥

पिछले मन्त्र का ऋषि 'ऋजिश्वा'=सरल मार्ग से चलता हुआ पूषा के उपदिष्ट मार्ग पर चलता है। इस मार्ग पर चलते हुए यह **त्रीणि पदा**=तीन कदमों को **विचक्रमे**=विशेषरूप से रखता है। १. यह **विष्णुः**=(विष्लृ व्याप्तौ) व्यापक, उदार अन्तःकरणवाला बनता है।

अपनी बुद्धि को विशाल बनता है। २. यह **गोपाः**=(गावः इन्द्रियाणि) इन्द्रियों का रक्षक होता है। इन्द्रियों को विषयों में भटकने से बचाता है। इसी से इसकी इन्द्रियाँ विषयासक्त होने से बची रहती हैं, दूसरे शब्दों में इसके इन्द्रियाश्व मार्गभ्रष्ट नहीं होते और यह अपनी जीवन-यात्रा में आगे-और-आगे बढ़ता चलता है। ३. **अदाभ्यः**=(दभ्=हिंसायाम्) यह अपने शरीर में रोगों से हिंसित नहीं होता। रोगकृमियों से यह दब नहीं जाता। सदा स्वस्थ शरीरवाला बना रहता है। ४. चूँकि यह 'विष्णु, गोपा व अदाभ्य' के रूप में 'व्यापक मानस उन्नति, इन्द्रियों की सुरक्षा व शरीर के स्वास्थ्य' रूप तीन कदमों को रखता है, अतः **धर्माणि**=देवपूजा, संगतिकरण व दानरूप मुख्य धर्मों का **धारयन्**=धारण करनेवाला बनता है। ३१वें अध्याय के १६वें मन्त्र में 'तानि धर्माणि प्रथमान्यसान्' इन शब्दों में यज्ञान्तर्गत इन तीन बातों को प्राथमिकता देनी है। देवपूजा से ज्ञान बढ़ता है, संगतिकरण हमें राग-द्वेष से ऊपर उठाता है, दान हमें विषय-वासनाओं से बचाकर स्वस्थ बनता है। ये ही तीन कदम हैं, जिन्हें कि प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' अपने जीवन में रखने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में तीन कदम रखनेवाले त्रिविक्रम बनें। 'विष्णु बनें, गोपा बनें और अदाभ्य हों'।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विष्णुः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

विप्र, विपन्यु व जागृवान्

तद्विप्रा॑सो विप॒न्यवो॑ जागृ॒वाꣳस॒: समि॑न्धते। विष्णो॒र्यत्प॑र॒मं प॒दम्॥४४॥

व्यापक उन्नति करनेवाला जीव भी विष्णु है, परन्तु सदा से पूर्णोन्नत प्रभु ही वस्तुतः विष्णु हैं, उस विष्णु की उपासना जीव विष्णु बनकर ही करता है 'विष्णुर्भूत्वा भजेद् विष्णुम्'। उस महान् **विष्णोः**=विष्णु का **यत्**=जो **परमम् पदम्**=उत्कृष्ट स्थान है **तत्**=उसे **समिन्धते**=अपने अन्दर दीप्त करते हैं। कौन? १. **विप्रासः**=(वि+प्रा) अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले। आत्मालोचन के द्वारा जहाँ भी कमी दिखी, उसे उन्होंने दूर करने का प्रयास किया। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को ये इसी प्रकार स्वस्थ रख पाते हैं। २. **विपन्यवः**=(पण् स्तुतौ) विशिष्ट स्तुतिवाले। ये अपने मन को सदा प्रभु के स्तवन में लगाते हैं, इसी कारण मन में मलिनता उत्पन्न नहीं होती। प्रभु-प्रवण मन सदा पवित्र बना रहता है। प्रभु-स्तुति में न लगा हुआ मन विषयों में चला जाता है और शत्रु बन जाता है। ३. **जागृवांसः**=जो सदा जागते हैं। जिनका बुद्धिरूप सारथि सदा सचेत है। मन को विषय जाल में फँसने से बचाने के लिए ये **विपन्यवः**=विशिष्टरूप से प्रभु का स्तवन करनेवाले बनते हैं, इस शरीर-रथ की सारथिभूत बुद्धि को सदा जागरित रखते हैं। बुद्धिपूर्वक चलनेवाले ये सचमुच 'मेधातिथि' (मेधया अतति) होते हैं। इस मेधातिथि के ये ही तीन विक्रम हैं 'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' बनना।

भावार्थ—'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' बनकर हम विष्णु के परमपद को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**द्यावापृथिव्यौ**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

द्यावापृथिवी—शरीर व मस्तिष्क

घृ॒तव॑ती॒ भुव॑नानामभि॒श्रियो॒र्वी पृ॒थ्वी म॑धु॒दुघे॑ सु॒पेश॑सा।
द्यावा॑पृथि॒वी वरु॑णस्य॒ धर्म॑णा॒ विष्क॑भिते॒ऽअ॒जरे॒ भूरि॑रेतसा॥४५॥

आधिदैविक जगत् में 'द्यावापृथिवी' का अभिप्राय द्युलोक व पृथिवीलोक है। यही अध्यात्म में मस्तिष्क व शरीर हैं। वस्तुतः यह पिण्ड (शरीर) क्या है? यह एक छोटा ब्रह्माण्ड है और ब्रह्माण्ड क्या है? यह एक बड़ा पिण्ड है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह उक्ति नितान्त सत्य है। 'हमारे इस पिण्ड में गत मन्त्र के 'विप्र, विपन्यु व जागृवान्' के शरीर व मस्तिष्क कैसे बनते हैं', इस विषय का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार है १. **घृतवती**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) ये **द्यावापृथिवी**=शरीर व मस्तिष्क घृतवाले—क्षरण व दीप्तिवाले होते हैं। शरीर में से मलों का क्षरण होकर शरीर पूर्ण स्वस्थ हो जाता है। इस स्वस्थ शरीर में मस्तिष्क ज्ञान की दीप्ति से चमक उठता है (Sound mind in a sound body)। २. **भुवनानाम् अभिश्रिया**=इस प्रकार स्वस्थ शरीर और दीप्त मस्तिष्क मनुष्य के बाहर व अन्दर दोनों ('अभि') को श्रीसम्पन्न बनाते हैं। शरीर का स्वास्थ्य बाह्य श्री का कारण बनता है तो मस्तिष्क की उज्ज्वलता अन्तःश्री का कारण होती है। ३. **उर्वी**=(ऊर्णु आच्छादने) ये श्रीसम्पन्न शरीर व मस्तिष्क मनुष्य का आच्छादन करनेवाले होते हैं। जैसे छत मनुष्य को सर्दी, गर्मी, वर्षा व ओलों से बचाती है, उसी प्रकार ये मस्तिष्क व शरीर भी मनुष्य को रोगों व मलिनविचारों से बचाते हैं, उसकी रक्षा करते हैं। ४. **पृथ्वी**=(प्रथ विस्तारे) ये द्यावापृथिवी उसकी सब शक्तियों का विस्तार करनेवाले होते हैं। ५. **मधुदुघे**=ये उसमें 'मधु' का, सारभूत वस्तु का पूरण करनेवाले होते हैं (दुह प्रपूरणे)। वस्तुतः सोम=वीर्य ही सर्वोत्तम सारभूत वस्तु है। इस सोम का विनाश न कर ये जागृवान् लोग इसका अपने में पूरण करते हैं। इसी से तो वस्तुतः वे शरीर में शक्ति को (वाज=शक्ति) तथा मस्तिष्क में ज्ञान (वाज=गति=ज्ञान) को भरनेवाले 'भरद्वाज' बनते हैं। भरद्वाज ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। ये ६. **सुपेशसा**=उत्तम निर्माण करनेवाले (पेश=shape, पेशः=रूपम्) होते हैं। शक्तिसम्पन्न शरीर व ज्ञानोज्ज्वल मस्तिष्क मनुष्य को बड़ा सुन्दर रूपवाला बनाते हैं। ७. **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **वरुणस्य धर्मणा**=वरुण की धारकशक्ति से **विष्कभिते**=थामे जाते हैं। वस्तुतः द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण प्रभु ही कर रहे हैं। यहाँ अध्यात्म में भी शरीर व मस्तिष्क वरुण की धारकशक्ति से धारित होते हैं। यहाँ 'वरुण' का अभिप्राय है, 'द्वेष का निवारण करनेवाला'। जो व्यक्ति अपने मन में ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि को नहीं जलने देता वही स्वस्थ शरीर व मस्तिष्कवाला होता है। ईर्ष्या-द्वेष से शरीर का स्वास्थ्य ही नष्ट नहीं होता, मन का स्वास्थ्य भी नष्ट हो जाता है। **'ईर्ष्योर्मृतं मनः'**=ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत हो जाता है, परन्तु जब हम **वरुण**=द्वेष का निवारण करनेवाले बनते हैं तब हमारे शरीर व मस्तिष्क ८. **अजरे**=न जीर्ण होनेवाले होते हैं। ९. **भूरिरेतसा**=ये बहुत रेतस्वाले होते हैं। 'भूरि' का अर्थ, भरण-पोषण करनेवाला भी है। ये उस रेतस् शक्तिवाले होते हैं जो इनका भरण करती है, इनमें किसी प्रकार की कमी नहीं आने देती।

भावार्थ—भरद्वाज वरुण='द्वेष को दूर करनेवाला' बनकर अपने मस्तिष्क व शरीर को अजर=न जीर्ण होनेवाला, सदा सबल बनाता है।

ऋषिः—**विहव्यः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विहव्य की विशिष्ट प्रार्थना

ये नः सपत्नाऽअप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान्।
वसवो रुद्राऽआदित्याऽउपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन्॥४६॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विहव्य' है—विशिष्ट प्रार्थनावाला। इसकी प्रार्थना इस प्रकार है—१. **ये**=जो **नः** =हमारे **सपत्नाः**='शत्रु' हैं **ते**=वे **अपभवन्तु**=दूर हों। शरीर का पति वस्तुतः मैं हूँ, यह मुझे जीवन-यात्रा को पूर्ण करने के लिए दिया गया है, परन्तु रोगकृमि इसमें घर कर लेते हैं और वे इसका पति बनना चाहते हैं, अतः वे मेरे 'सपत्न' कहलाते हैं। इसी प्रकार ईर्ष्या-द्वेष के अशुभ विचार मेरे मस्तिष्क के पति बनने का प्रयत्न करते हैं, अतः वे भी मेरे 'सपत्न' हैं। इन सबको दूर करने के लिए यह 'विहव्य' प्रार्थना करता है। इसका प्रयत्न यही होता है कि यह नीरोग व निर्द्वेष बना रहे। २. **तान्**=उन रोगों व ईर्ष्या-द्वेष के विचारों को **इन्द्राग्निभ्याम्**=इन्द्र व अग्नि से **अवबाधमहे**=दूर ही रोक देते हैं, उन्हें अपने पास नहीं फटकने देते। द्युलोक की देवता 'इन्द्र' है और पृथिवीलोक की प्रमुख देवता 'अग्नि' है। जैसे द्युलोक में इन्द्र=सूर्य चमकता है उसी प्रकार हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य चमके और शरीर में अग्नि हो, शक्ति की उष्णता हो। जब यह शक्ति की उष्णता नहीं रह जाती तब मनुष्य ठण्डा पड़ जाता है, अर्थात् मृत हो जाता है। शरीर की शक्ति और मस्तिष्क का ज्ञान दोनों मिलकर हमसे रोगों व मलिन विचारों को दूर रखते हैं। ३. **वसवः रुद्राः आदित्याः**=वसु, रुद्र व आदित्य, अर्थात् सब देवता **मा**=मुझे **उपरिस्पृशम्**=उपरले-और-उपरले लोक का स्पर्श करनेवाला, अर्थात् उत्कर्ष की ओर चलनेवाला **उग्रम्** =उदात्त, कमीनेपन व छोटे दिल से ऊपर उठा हुआ **चेत्तारम्**= संज्ञानवाला (चिती संज्ञाने) तथा **अधिराजम्** =सब इन्द्रियों का अधिष्ठाता **अक्रन्**=बनाते हैं।

भावार्थ—विहव्य की प्रार्थना तीन भागों में बँटी हुई है। १. हमारे सपत्न दूर हों, २. ज्ञान व शक्ति से हम सब सपत्नों को दूर रखने में समर्थ हों, ३. देवों की कृपा से हम उत्कर्ष की ओर चलनेवाले, उदात्त, आत्मस्मृतिमान्=चेतन, व अधिराट्=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बन पाएँ।

नोट—'वसवः' वे देवता हैं जो हमारे निवास में साक्षात् कारणभूत हैं। 'रुद्राः' वे देव हैं जो हमारे जीवनों को नीरोग व शक्तिसम्पन्न बनाते हैं। 'आदित्याः' उन देवों का नाम है जो हमें सद्गुणग्रहणक्षम व ज्ञान से देदीप्यमान करते हैं। (वासयन्ते इति वसवः, रुद्राः मरुतः प्राणाः, आदानात् आदित्याः)।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

हिरण्यस्तूप की आराधना तैतीस देवों का आगमन

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांꣳसि मृक्षतꣳ सेधतं द्वेषो भवतꣳ सचाभुवा॥४७॥

देवता तैतीस हैं, चौंतीसवाँ इनका अधिष्ठाता महादेव है। ग्यारह द्युलोक के देवता, ग्यारह अन्तरिक्षलोक के देवता और ग्यारह पृथिवीस्थ देव हैं। प्राणापान की साधना होने पर इन सब देवों का शरीर में उत्तम निवास होता है। ये प्राणापान वस्तुतः सत्य हैं, ये हमारे जीवन की सत्ता के कारण हैं। इसी से इन्हें 'नासत्या' कहते हैं जोकि 'न असत्या' असत्य नहीं हैं। इन प्राणापान की साधना करनेवाला ऋषि अपने वीर्य की ऊर्ध्वगति को सिद्ध करने के कारण 'हिरण्यस्तूप' कहलाता है। यह हिरण्यस्तूप प्रार्थना करता है कि १. **नासत्या**=हे सत्यस्वरूपवाले अश्विनीदेवो=प्राणापानो! आप **इह**=इस मेरे पार्थिव शरीर मे **त्रिभिः एकादशैः**=तीन गुणा ग्यारह, अर्थात् तैतीस **देवेभिः**=देवों के साथ **आयातम्**=आओ। प्राणापान की साधना से सब आसुरवृत्तियों का, दोषों का संहार होकर इस शरीर में देवों

व दिव्य गुणों का निवास होता है। सूर्यादि देव चक्षु आदि का रूप धारण करके अक्षि आदि स्थानों में ठीक प्रकार से निवास करते हैं और हमारी शरीररूप गौशाला देवरूप गौओं से परिपूर्ण हो जाती है। २. हे **अश्विना**=सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होनेवाले अथवा कर्मों में उत्तमता से व्याप्त होनेवाले प्राणापानो! आप **मधुपेयम्**=शहद के समान सारभूत वस्तु सोम के पान के लिए **आयातम्**=प्राप्त होवो। प्राणापान की साधना से सोम की शरीर में खपत होती है, यही अश्विनी देवों का सोमपान है। ३. इस सोमपान के द्वारा **आयु**=जीवन को **प्रायुस्तारिष्टम्**=खूब बढ़ा दीजिए—हम दीर्घजीवी बनें। ४. **रपांसि**=दोषों को **निर्मृक्षतम्**=पूर्णरूप से झाड़ लगाकर साफ़ कर दो। ५. **द्वेषः सेधतम्**=द्वेष को हमसे दूर करो। प्राणसाधक चित्तवृत्ति को वशीभूत कर लेने से द्वेष में नहीं फँसता। ६. हे प्राणापानो! आप **सचाभुवा**=साथ होनेवाले **भवतम्**=होओ। प्राणसाधक की चित्तवृत्ति ऐसी बन जाती है कि वह सबके साथ मिलकर चलता है। Live and let live. यह उसका जीवन सिद्धान्त हो जाता है। वह सबकी दृष्टि में 'देव' बन जाता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करें, जिससे १. देवों के निवासस्थान बनें २. वीर्य की ऊर्ध्वगति कर पाएँ। ३. दीर्घ जीवन प्राप्त करें ४. दोषों को दूर करें। ५. द्वषे से ऊपर उठें ६. मिलकर चलने के स्वभाववाले हों।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**मरुतः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

पापों से दूर

एष व स्तोमो मरुतऽइयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम्॥४८॥

१. पिछले मन्त्र में प्राणसाधना का वर्णन है। प्राणों को वैदिक साहित्य में 'मरुतः' भी कहते हैं। इनकी साधना करनेवाले भी 'मरुतः' कहलाते हैं। ये प्राणसाधक 'मितराविणः'=कम बोलनेवाले होते हैं। यह प्राणसाधना ही वस्तुतः प्रभु-स्तवन है। हे **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यो! **एषः वः स्तोमः**=यही तुम्हारा स्तुतिसमूह है। प्राणसाधना से हम दोषों का दहन करते हैं, इससे उत्तम प्रभु का स्तवन और क्या हो सकता है? २. **इयं गीः**=यह वेदवाणी **मान्दार्यस्य** (मन्दतेः ईयतेश्च)=सदा प्रसन्न रहनेवाले गतिशील पुरुष की है। यह वाणी **मान्यस्य**=बड़ों का आदर करनेवाले देवपूजक (respectful) की है, अर्थात् वेदवाणी के अध्ययन का मानव जीवन पर यह प्रभाव पड़ता है कि वह (क) सदा प्रसन्न, (ख) गतिशील, (ग) बड़ों का आदर करनेवाला तथा (घ) क्रियाओं को सुन्दरता से करनेवाला होता है। यदि उसका जीवन ऐसा नहीं बना तो यही समझना कि उसने वस्तुतः वेदवाणी का अध्ययन नहीं किया। ३. **एषा**=यह वेदवाणी **तन्वे**=(शरीरवृद्ध्यै) शरीर की सब शक्तियों के विस्तार के लिए **यासीष्ट**=तुम्हें प्राप्त हो। वेदवाणी हमारे जीवन का अङ्ग बनती है तो हमारी शक्तियों का सब प्रकार से वर्धन होता है। ४. **वयाम्** (वयम्)=कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाले हम (वेञ् तन्तुसन्ताने) **इषम्**=प्रेरणा को **वृजनम्**=पापवर्जन को और परिणामतः **जीरदानुम्**=जीवनौषध को **विद्याम**=प्राप्त हों। वेदवाणी के अन्दर निहित प्रभु-प्रेरणा को आलसी व्यक्ति प्राप्त नहीं करता। वह प्रेरणा क्रियाशील को ही प्राप्त होती है, उस प्रेरणा से हम पापों को दूर फेंकते हैं और अपने जीवन को सर्वथा नीरोग बना पाते हैं। शरीर में रोग नहीं, मन में पाप नहीं, बुद्धि में कुण्ठा नहीं। इस प्रकार **अग**=(अ ग) आगे न बढ़ने देनेवाले (पातक) गिरावट के कारणभूत सब पापों का (स्त्या) संहार

करनेवाला यह 'अगस्त्य' बनता है।

भावार्थ—प्राणसाधना ही प्रभु-स्तवन है। वेदाध्येता सदा प्रसन्न, क्रियाशील, देवपूजक व दक्ष बनता है। वेदवाणी हमारी शक्तियों का विस्तार करती है। हम वेदवाणी की प्रेरणा को प्राप्त करके पापों से ऊपर उठें और जीवन को सुन्दर बनाएँ।

ऋषिः—**प्राजापत्यो यज्ञः**। देवता—**ऋषयः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

पितर=पूर्वजों का आदर्श जीवन

सहस्तोमाः सहच्छन्दसऽआवृतः सहप्रमाऽऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीराऽअन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्॥४९॥

पिछले मन्त्र में वेदाध्येता के लक्षणों में एक लक्षण यह भी था कि वे मान्य=बड़ों का आदर करते हैं। प्रस्तुत मन्त्र में उन्हीं बड़ों के जीवन का चित्रण है। १. **सहस्तोमाः**=ये स्तोमवाले होते हैं, इनका जीवन प्रभुस्तुति के साथ चलता है। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते ये सदा उस प्रभु का स्मरण करते हैं। इसी से उन्हें जीवनमार्ग का दर्शन होता है। इस स्तवन से उन्हें विघ्नों व बाधाओं में व्याकुल न होने की शक्ति प्राप्त होती है। २. **सहच्छन्दसः**=ये छन्दोंवाले होते हैं, ये सप्तछन्दोरूप वेदवाणी के ज्ञाता बनते हैं। यह ज्ञानाग्नि वासनाओं का विध्वंस करके इनके कर्मों को पवित्र कर देती है। ३. **आवृतः**=ये आवृत होते हैं। इनके दिन का सारा कार्यकलाप ठीक आवर्तन में चलता है, उतने आवर्तन में, जितने में कि 'सूर्य और चन्द्रमा'। इस कार्यनियमितता से इनका स्वास्थ्य ठीक रहकर इन्हें दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। ५. **सहप्रमाः** =प्रमा शब्द का अर्थ है 'प्रकृष्टमाप'। इनका जीवन प्रकृष्टमापवाला होता है। ये प्रत्येक क्रिया को माप-तोलकर करते हैं। सब क्रियाओं में 'युक्तचेष्ट' होते हैं, परिणामतः ये सदा स्वस्थ रहते हैं। ५. **ऋषयः**='ऋष गतौ' से बनकर यह शब्द गति की सूचना देता है। ये अपने जीवन में सदा क्रियाशील रहते हैं। इसी कारण ये वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते। वासनाओं के शिकार अकर्मण्य पुरुष ही हुआ करते हैं ६. **सप्तदैव्याः**=इनकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि ये सातों दैव्य होते हैं। ये इनसे 'देव' की ओर चल रहे होते हैं। इनसे ये प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं, प्रकृति के स्वादों को भोगने नहीं लग जाते। ७. ये **धीराः**=स्थिर वृत्तिवाले ज्ञानी पुरुष **पूर्वेषाम्**=अपनों से पहले के **पन्थाम्**=मार्ग को—जीवन-यात्रा को **अनुदृश्य**=बारीकी से देखकर **अनु आलेभिरे**=उनके पदचिह्नों पर चलते हुए सर्वतः गुणों को ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार **न**=जैसे **रथ्यः**=एक उत्तम रथवाहक **रश्मीन्**=लगामों को। जिस प्रकार एक उत्तम सारथि रश्मि-नियमन में नाममात्र भी प्रमाद नहीं करता, उसी प्रकार ये धीर पुरुष भी गुणग्रहण में प्रमादशून्य होते हैं। अपने जीवन को अधिकाधिक गुणों से अलंकृत करते हुए ये सचमुच पितर पदवी को प्राप्त करते हैं। इन पूर्वजों का जीवन हमें भी प्रेरणा देता है और उस प्रेरणा को प्राप्त करके हम भी अपने जीवनों को उदात्त बनाते हैं। लोकहितकारी जीवन होने से ये पितर 'प्राजापत्य'=प्रजा के रक्षक कहलाते हैं और यज्ञमय जीवन होने के कारण 'यज्ञ' नामवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों को स्तुतिमय, ज्ञानप्रधान, नियमित आवर्तनवाला, मपी-तुली क्रियाओंवाला, गतिमय, दिव्य व महाजनानुगामी बनाने का प्रयत्न करें। इस शरीररूप रथ पर आरूढ़ होकर बागडोर को अपने काबू में रक्खें।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**हिरण्यन्तेजः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

हिरण्य का प्रवेश

आयुष्यं वर्चस्यꣳ रायस्पोषमौद्भिदम्।
इदꣳहिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु माम्॥५०॥

गतमन्त्र के सुन्दर जीवन के निर्माण का रहस्य 'हिरण्य'=तेज='वीर्य' की रक्षा में है। प्रस्तुत मन्त्र में उस हिरण्य की महिमा का वर्णन करते हैं। इसकी रक्षा के द्वारा अपनी सर्वांगीण उन्नति करनेवाला 'दक्ष' (दक्ष् to grow) मन्त्र का ऋषि है। दक्ष कहता है कि **इदम् हिरण्यम्**=यह वीर्य १. **आयुष्यम्**=दीर्घजीवन का कारण है। **'मरणं विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'**=इस हिरण्यबिन्दु के नाश से नाश है, रक्षा से जीवन है। २. **वर्चस्यम्**=यह वर्चस्य है। उस वर्चस्वाला है जो शरीर में रोगों के मूल पर ही कुठाराघात करता है, शरीर को (वर्च्=to shine) पूर्ण नीरोग करके यह अपने धारक के जीवन को चमका देता है। ३. **रायस्पोषम्**=यह ज्ञान की सम्पत्ति का पोषण करता है। वेद में वेदों को 'रायः समुद्राँश्चतुरः'=चार सम्पत्ति-समुद्र कहा है। वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। उस ज्ञानाग्नि के दीप्ति होने से हमारे ज्ञान-समुद्र का जल बढ़ता है। ४. **औद्भिदम्**=यह वीर्य (उद्भित्) हमें रोगों से ऊपर उठाकर सब विघ्न-बाधाओं का विदारण करके आगे बढ़ानेवाला होता है। ५. **इदम्**=यह **हिरण्यम्**=(हितरमणीयम्) अधिक-से-अधिक हमारा हित करनेवाला व रमणीय है। ४. यह **वर्चस्वत्**=वर्चस्वाला, दीप्ति को देनेवाला वीर्य **जैत्राय**=सब प्रकार की विजयों के लिए और अन्त में संसार का भी विजय करके मोक्षसाधन के लिए **माम्**=मुझे **उ**=निश्चय से **आविशतात्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में, सारे शरीर में प्राप्त हो। मैं इस सोम (वीर्य) का पान करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं हिरण्य के महत्त्व को समझूँ और उसके अन्तःप्रवेश के लिए पूर्ण प्रयत्नवाला होऊँ।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**हिरण्यन्तेजः**। छन्दः—**भुरिक्छक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्य का धारण

न तद्रक्षाꣳसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजꣳ ह्येतत्। यो बिभर्ति दाक्षायणꣳ हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥५१॥

गतमन्त्र के 'हिरण्य' का ही परिचय इन शब्दों में देते हैं कि १. **तत्**=इस हिरण्य= वीर्य को **न रक्षांसि**=न तो रक्षस् और **न पिशाचाः**=न ही पिशाच **तरन्ति**=तैर पाते हैं। 'रक्षस्' वे कृमि हैं जो अपने रमण के लिए हमारा क्षय करते हैं। ये कृमि नाना प्रकार के रोगों का कारण बनते हैं और 'पिशितम् अश्नन्ति' जो हमारे मांस को ही खा जाते हैं और हमें निर्बल (Emaciated) कर देते हैं—ये 'पिशाच' कहलाते हैं। शरीर में हिरण्य के होने पर ये रक्षस् व पिशाच हमारा कुछ नहीं बिगाड़ पाते। वीर्य शब्द का अर्थ ही 'विशेषरूप से कम्पित करके इन्हें दूर भगानेवाला' है, इसीलिए तो यह हिरण्य=हित व रमणीय है। २. **देवनाम् ओजः**=यह देवताओं का ओज है। देवों की वृद्धि का कारण है (ओज् to increase)। असुर इसे भोगों का साधन बना विनष्ट हो जाते हैं। देव इसकी रक्षा करते हैं। **एतत्** =यह **हि**=निश्चय से **प्रथमजम्**=प्रथामाश्रम में, ब्रह्मचर्याश्रम में होनेवाला देवताओं का तेज सचमुच प्रथमजम्=(प्रथ विस्थारे) अत्यन्त विस्तृत शक्तियोंवाले पुरुष को जन्म

देनेवाला है। ३. **यः**=जो कोई भी इस **दाक्षायणम्**=(to grow) वृद्धि के कारणभूत (to kill) रोगकृमियों के विध्वंसक **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्य को **बिभर्ति**=धारण करता है। **सः**=वह **देवषु**=देवों में **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन को **कृणुते**=करता है, **सः**=वह **मनुष्येषु**=मनुष्यों में **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन **कृणुते**=कर लेता है, अर्थात् इस वीर्य को धारण करनेवाला व्यक्ति देव=दिव्य गुणों का पुञ्ज बनता है और मनुष्य मननशील ज्ञानी बनता है। दिव्य व ज्ञानी बनकर यह दीर्घ जीवनवाला होता है, एवं, इस दाक्षायण हिरण्य के तीन लाभ हैं—(क) शरीर में नीरोगता से दीर्घ जीवन, (ख) मन में दिव्यगुण, (ग) मस्तिष्क में अवबोध (मनु अवबोध)। इसी कारण इसे दाक्षायाण सुनहला आभूषण a golden ornament कहा गया है।

भावार्थ—हम दाक्षायण हिरण्य को धारण करके दीर्घजीवी, दिव्य व दीप्त ज्ञानवाले बनें।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**हिरण्यन्तेजः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

हिरण्य का बन्धन

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यꣳ शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तन्मऽआ बध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम्॥५२॥

पिछले मन्त्र में 'दाक्षायण हिरण्य' के धारण की महिमा का सुन्दर वर्णन हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में उस 'दाक्षायण हिरण्य' के बाँधने का निश्चय करता हुआ 'दक्ष' कहता है कि **यत्**=जिस **दाक्षायणाः**=वृद्धि के कारणभूत, रोगकृमियों के विध्वंसक **हिरण्यम्**=हितरमणीय तेज को **सुमनस्यमानाः**=उत्तम विचार करते हुए लोग **शतानीकाय**=सौ-के-सौ वर्ष प्राणशक्ति के (अन प्राणने) स्थिर रखने के लिए **आबध्नन्**=अपने अन्दर बाँधते हैं **तत्**=उस तेज को **मे**=अपने लिए **आबध्नामि**=बाँधता हूँ **यथा**=जिससे **आयुष्मान्**= उत्कृष्ट जीवनवाला **जरदष्टिः**=वृद्धावस्था तक पूर्ण आयुष्य को व्याप्त करनेवाला **शतशारदाय**= सौ-के-सौ वर्ष के लिए **आसम्**=होऊँ। उल्लिखत अर्थ में 'सुमनस्यमानाः' शब्द से हिरण्य के अपने मे बन्धन के साधन का सङ्केत हुआ है। मनुष्य मन में सदा उत्तम विचारों का करनेवाला बनेगा तो इस वीर्य को अवश्य सुरक्षित कर पाएगा। अशुभ विचार ही इसके नाश के महान् कारण बनते हैं। इसे अपने में बाँधने से होनेवाले लाभ इस रूप में हैं—१. **शतानीकाय**=सौ-के-सौ वर्ष प्राणशक्तिसम्पन्न बने रहेंगे। २. **शतशारदाय**=सौ वर्ष के आयुष्य तक हम अवश्य चलेंगे। ३. **आयुष्मान्**=उत्तम जीवनवाले होंगे। ४. **जरदष्टिः**=पूर्ण वृद्धावस्था तक चलेंगे। नौजवानी में ही हमारा जीवन समाप्त न हो जाएगा। ५० से ५२ तक तीन मन्त्रों में 'हिरण्य'=वीर्य की महिमा का वर्णन है। इसका हम अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रवेश करें (५०) अपने में धारण करें (५१) और इसे अपने में ही बाँधनेवाले हों (५२)। जो व्यक्ति इस हिरण्य के प्रवेश, धारण व बन्धन को कर पाता है वह 'दक्ष'=उन्नतिशील (to grow) स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाला (to act quickly), रोगकृमियों व द्वेषादि मलों का ध्वंसक (to hurt, kill), कार्यकुशल (to be competent), क्रियाशील व निरालस्य (to go, move) होता है।

भावार्थ—हम हिरण्य का अपने में प्रवेश, धारण व बन्धन करके दीर्घ व उत्तम जीवनवाले बनें। यह हिरण्य सचमुच हमारा सुनहला आभूषण बन जाए।

ऋषिः—**ऋजिश्व**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदर्श जीवन

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वजऽएकपात्पृथिवी समुद्रः।
विश्वेदेवाऽऋतावृधो हुवाना स्तुता मन्त्राः कविशस्ताऽअवन्तु ॥५३॥

गतमन्त्र में हिरण्य के बन्धन से 'आयुष्मान्'=उत्तम जीवनवाला होने का उल्लेख था। उसी उत्तम जीवन का चित्रण प्रस्तुत मन्त्र में है। इस मन्त्र का ऋषि 'ऋजिश्वा' है। 'ऋजुना श्वयति'=सरल मार्ग से चलता है और आगे बढ़ता है (श्वि गतिवृद्ध्योः), एवं उत्तम जीवन वह है जिसमें (क) सरलता है, (ख) गतिशीलता है और (ग) शक्तियों का वर्धन है, १. यह 'ऋजिश्वा' प्रार्थना करता है कि **नः**=हमारी प्रार्थना को **अहिर्बुध्न्यः**=अहीन मूलवाला (अग्निर्वा अहिर्बुध्न्यः—कौ० १६।७) अग्नि **उत**=और **अजः एकपात्**=(सूर्यं देवमजमेकपादम् —तै० ३।१।२।८) सूर्य, **पृथिवी**=पृथिवी, **समुद्रः**=समुद्र—ये देव **शृणोतु**=सुनें। इन सब देवों की मुझपर कृपा हो। मैं इन देवों की विशेषताओं को अपने जीवन में धारण करनेवाला बनूँ। (क) अग्नि के समान सब मलों का जलानेवाला बनूँ (ख) मलों का नाश होकर यह तेजस्विता के दृष्टिकोण से सूर्य-जैसा बनता है। (ग) तेजस्वी होने के कारण यह पृथिवी के समान क्षमाशील होता है। पृथिवी का तो नाम ही 'क्षमा' पड़ गया है। हम उसपर कूदते-फाँदते हैं, गड्ढे करते हैं, परन्तु पृथिवी सब सहती है। यह तेजस्वी पुरुष भी सहनशील बनता है। (घ) यह क्षमाशील पुरुष समुद्र के समान गम्भीर होता है। २. अग्नि को 'अहिर्बुध्न्य' कहा है, अहीन मूलवाला। जब तक शरीर में यह अग्नितत्त्व है तब तक जीवन का मूल क्षीण नहीं होता। अग्नि गई और मूल नष्ट हुआ। सूर्य 'अज एकपात्' है। 'अज गतिक्षेपणयोः'=सूर्य निरन्तर क्रिया से मलों को दूर फेंक रहा है और एक बार इसने कदम रखा तो फिर रुकने का नाम नहीं लिया। ३. 'अग्नि, सूर्य, पृथिवी और समुद्र' तो हमारी प्रार्थना को सुनें ही, अन्य सब देव भी **हुवानाः**=परस्पर स्पर्धा करते हुए **ऋतावृधः**=मुझमें ऋत को बढ़ानेवाले हों। सब देव अपनी दिव्यता को मुझमें भरनेवाले हों। मैं सब देवों का ऐसा प्रिय बनूँ कि वे एक-दूसरे से बढ़कर मुझे अच्छा बनाने की कामना करें। मैं सब देवों की दिव्यता का पात्र बन जाऊँ। ४. **स्तुताः**=प्रभु की स्तुति का प्रतिपादन करनेवाले **कविशस्ताः**=क्रान्तदर्शी विद्वानों से उच्चारण किये गये **मन्त्राः**=मन्त्र (ज्ञान-प्रतिपादकवाक्य) **अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। हम विद्वानों से सदा प्रभु की महिमा की प्रतिपादिका उत्तम ज्ञानवाणियों को सुनें, जिससे हमारे जीवन सुन्दर और सुन्दरतर बनते जाएँ।

भावार्थ—उत्तम जीवन वह है जो (क) सरलता, गतिशीलता व शक्तिवर्धनवाला है (ऋजिश्वा)। (ख) अग्नि के समान मलों का दाहक, सूर्य के समान तेजस्वी, पृथिवी के समान क्षमाशील व समुद्र के समान गम्भीर है। (ग) जिसमें सब दिव्य गुणों ने ऋत व सत्य का वर्धन किया है। (घ) जो विद्वानों से ज्ञानवाणियों को सुनने में व्यतीत होता है।

ऋषिः—**कूर्म गार्त्समदः**। देवता—**आदित्याः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रभु का छोटा रूप

इमा गिरऽआदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रोऽअर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षोऽअंशः॥५४॥

१. पिछले मन्त्र में 'कविशस्त मन्त्रों के श्रवण' का वर्णन है। उसी बात को कुछ

विस्तार से कहते हैं कि **इमाः गिरः**=इन वाणियों को जो **घृतस्नूः**=ज्ञानदीप्ति का स्रवण करनेवाली हैं, **सनात्**=नित्य **राजभ्यः**=ज्ञानदीप्ति से देदीप्यमान **आदित्येभ्यः**=चारों वेदों का ग्रहण करनेवाले आदित्यसंज्ञक विद्वानों की **जुह्वा**=वाणी से (जुहू इति वाङ्नाम) **जुहोमि**=आहूत करता हूँ। चारों वेदों के विद्वान् 'आदित्य' हैं। इन आदित्य विद्वानों से मैं सदा ज्ञान की वाणियों को सुनता हूँ। उन वाणियों का उच्चारण करता हुआ उन ज्ञानवाणियों को हृदय में धारण करता हूँ। २. इन ज्ञानवाणियों को सुनने का परिणाम यह हो कि निम्न देव **नः शृणोतु**=हमारी प्रार्थना को सुनें। मैं इन देवों का कृपापात्र बनूँ, इन देवों का मुझमें निवास हो (क) **मित्रः**=स्नेह की देवता। हम सदा सबके साथ स्नेह करनेवाले बनें। (ख) **अर्यमा**=(अरीन् गच्छति) हम काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें, 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'=हम सदा कुछ देनेवाले हों। (ग) **भगः**=ऐश्वर्य की देवता। 'भज सेवायाम्'=हम भजनीय धन को प्राप्त करनेवाले बनें। (घ) **तुविजातः**=महान् विकासवाला **वरुणः**=द्वेष के निवारणवाला वरुणदेव हमारी प्रार्थना को सुने। हम किसी से द्वेष न करें। द्वेष व ईर्ष्या से ऊपर उठना ही विकास का मार्ग है। (ङ) **दक्षः**=हम 'दक्ष' के प्रिय बनें। दक्ष (to grow)=अपनी शक्तियों के विकासवाले हों। दक्ष (to act quickly, to go)=हम स्फूर्ति से कार्यों को करनेवाले हों। दक्ष (to hurt, to kill)=रोगकृमियों के ध्वसंक हों। दक्ष (to be competent)=हम कार्यकुशल बनें। (च) **अंशः**=उल्लिखित सब बातों को अपने जीवन में लाकर हम प्रभु के 'अंश'=छोटे रूप बन पाएँ अथवा 'अंश्' to divide=हम अपने धनों का उचित विभाग करनेवाले हों, सारे का सारा स्वयं न खा जाएँ। वस्तुतः प्रभु बाँटते हैं तो सब बाँट देते हैं, अपने लिए कुछ रखकर जीव भी अधिक-से-अधिक बाँटने का प्रयत्न करे, अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करने का प्रयत्न करे। यही परमेश्वर का 'छोटा रूप' बनने का उपाय है। ३. इस प्रकार जीवन बनानेवाला व्यक्ति 'कूर्म गार्त्समद' है। 'कूर्म'=क्रियाशील, **गृत्स**=प्रभु का स्तोता **मद**=आनन्दमय। वस्तुतः नित्य ज्ञानयज्ञ करता हुआ यह व्यक्ति अपने जीवन को प्रभु के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—हम ज्ञानावाणियों को सुनें। स्नेह, दान, सेवनीय धन, द्वेषनिवारण व दक्षता को धारण करें और प्रभु का ही छोटा रूप बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**अध्यात्मं प्राणाः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

ऋषि का आश्रम, सात ऋषि, अस्वप्नज देव

सप्तऽऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽअस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥५५॥

१. **सप्त ऋषयः**=सात ऋषि **प्रतिशरीरे**=प्रत्येक शरीर में **हिताः**=रक्खे गये हैं। प्रभु ने 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'='दो कान, दो नासिका (छिद्र), दो आँखें व एक मुख' इस प्रकार सात ऋषि—तत्त्वज्ञान प्राप्त करानेवाले देव (ज्ञानेन्द्रियाँ) अथवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि—ये सात ज्ञानसाधक देव हम सबके शरीर में स्थापित किये हैं। २. **सप्त**=ये सात ऋषि **सदम्**=इस तेतीस देवों के निवासस्थान को **अप्रमादम्**=बिना किसी प्रकार के प्रमाद के **रक्षन्ति**=रक्षित करते हैं। जब तक ये ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप ऋषि ठीक कार्य करते हैं तब तक नाश का भय नहीं होता। ३. इन सातों ऋषियों से ज्ञान के प्रवाह निरन्तर चलते हैं। इन ज्ञानप्रवाहों के चलने से ही इन्हें 'आपः' नाम से यहाँ स्मरण किया गया है। जैसे जल बहता है, उसी प्रकार इनसे ज्ञान के प्रवाह चलते हैं, वृत्तियाँ

इधर-उधर फैलती हैं, परन्तु जिस समय जीवात्मा, इन्द्रियों का अधिष्ठाता 'इन्द्र'-देव मस्तिष्करूप कार्यालय को छोड़कर हृदयरूप घर में जाता है ('स्वम् अपि इतो भवति' =अपने घर की ओर गया होता है=स्वपिति) तब **स्वपतः**=हृदयरूप घर की ओर जाते हुए इन्द्र के **लोकम्** =स्थान व दर्शन को (लोक्=to look) **सप्त आपः**=ये सात इन्द्रियवृत्तियों के प्रवाह **ईयुः**=प्राप्त होते हैं। जागरितावस्था में तो ये प्रवाह बाहर की ओर चल रहे थे। अब स्वप्नावस्था में ये बाहर की ओर न जाकर उस आत्मा के ही लोक में पहुँच जाते हैं। इसलिए स्वप्न में कई बार हमें आत्मा का आभास होता प्रतीत होता है। इसी आभास को दृढ़ता से पकड़ लेने के लिए योगदर्शन के **'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा'** इस सूत्र में कहा गया है। ४. **तत्र**=उस स्वप्नावस्था में भी **अस्वप्नजौ**=(स्वप्नक्=शयालु) न सोने के स्वभाववाले **देवौ**=सदा अपनी क्रीडा को स्थिर रखनेवाले, दिव्य गुणोंवाले 'प्राणापान' **सत्रसदौ**=इस जीवन-यज्ञ में सदा स्थित होनेवाले **जागृतः**=जागते रहते हैं। सब सो जाएँ, पर ये प्राणापान तो यज्ञ के रक्षक हैं, ये सोते नहीं। ये सोने लगें तो सब समाप्त न हो जाए? इससे इन प्राणापान का महत्त्व स्पष्ट है। इनकी साधना पर इसीलिए अत्यधिक बल दिया गया है। इनकी साधना करनेवाला 'कण्व'=मेधावी बनता है। यह कण्व ही मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम इस शरीर को ऋषि-आश्रम के रूप में देखें। इसके दिन-रात चलनेवाले ज्ञानयज्ञ का ध्यान करें और यज्ञ के रक्षक प्राणापानों की साधना को महत्त्व दें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ब्रह्मणस्पति का उत्थान

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे।

उप प्र यन्तु मरुतः सुदानवऽइन्द्र प्राशूर्भवा सचा॥५६॥

१. हमारे जीवनों में सामान्यतः सांसारिक भावनाएँ प्रबल रूप से उठती रहती हैं। कभी काम की वासना उठ खड़ी हुई, कभी क्रोध प्रबल हो गया या लोभ ने हमें आ घेरा। इन वासनाओं के उठ खड़े होने पर दिव्य-भावनाओं का तो हमारे हृदयों से कूच हो ही जाता है। इनके जाने पर 'देव' वहाँ से चले जाते हैं, अतः 'कण्व' प्रार्थना करता है कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के पति प्रभो! **उत्तिष्ठ**=हमारे हृदयों में आपका ही भावन उठे। हम आपका ही चिन्तन करें। हमें आपकी कभी विस्मृति न हो। २. जिस प्रकार राजा के आने पर अन्य अधिकृत पुरुष उसके पीछे-पीछे स्वयं आ जाते हैं उसी प्रकार उस महान् देव के आने पर अन्य देव उसके साथ आएँगे ही, अतः **देवयन्तः**=देवों को अपनाने की कामना करते हुए हम **त्वा**=आपको **ईमहे**=चाहते हैं, प्राप्त करने की कामना करते हैं। मेरे हृदय में प्रभुभावना उठ खड़ी होगी तो 'आसुर भावनाएँ लुप्त हो जाएँगी'। इतना ही नहीं, प्रत्युत सब दिव्य-भावनाएँ मेरी हृदयस्थली में अंकुरित हो उठेंगी। 'कण्व' की इस प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि ३. **उपप्रयन्तु**=मेरे समीप आएँ। कौन? (क) **मरुतः**=प्राणों की साधना करनेवाले (मरुतः प्राणाः) परिमित बोलनेवाले (मितराविणः) तथा (ख) **सुदानवः**=उत्तम दान देनेवाले। वस्तुतः प्रभुभावना को जागरित करने के ये तीन साधन हैं—'प्राणसाधना, कम बोलना और दानशील बनना।' पुनः प्रभु कहते हैं कि (ग) **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू (घ) **प्राशूः**=(प्र अश व्याप्ति) प्रकर्षेण कर्मों में व्याप्त होनेवाला हो। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस आदेश को भूल नहीं। 'एवं त्वयि, न अन्यथा इतः अस्ति'='यही मार्ग है, दूसरा नहीं' इस बात को भूलना नहीं और (ङ) फिर **सचाभवा**=सबके साथ मिलकर

चलनेवाला हो। तूने मोक्ष भी अकेले पाने की कामना नहीं करनी। सभी के कल्याण में अपना कल्याण समझना। इस जीवन-यात्रा में वैर-विरोध से नहीं चलना। मुझे तो तू तभी प्राप्त करेगा जब सबके साथ तेरा प्रेमभाव होगा।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रभुभावना को हृदय में सदा जागरित करता है, जिससे कि हृदय देवों का निवासस्थान बने। प्रभु-प्राप्ति के उपाय इस प्रकार हैं १. प्राणसाधना करना, कम बोलना (मरुत:) २. प्रकृति में न फँसना, ख़ूब देनेवाला बनना (सुदानव:) ३. जितेन्द्रिय बनने का प्रयत्न करना (इन्द्र) ४. सदा उत्तम कर्मों में लगे रहना (प्राशु:) ५. मिलकर चलना (सचा) **'सं गच्छध्वम्',** इस उपदेश को क्रियान्वित करना।

ऋषि:—**कण्व:**। देवता—**ब्रह्मणस्पति:**। छन्द:—**विराड्बृहती**। स्वर:—**मध्यम:**॥

ब्रह्मणस्पति का मन्त्रोच्चारण

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रोऽअर्यमा देवाऽओकाᳬंसि चक्रिरे॥५७॥

पिछले मन्त्रों में कण्व की प्रार्थना थी कि 'ब्रह्मणस्पति का मेरे हृदय में उत्थान हो, मेरे हृदय में प्रभुभावना जागरित हो'। इसपर प्रभु ने कहा था कि 'मरुत्, सुदानु, इन्द्र, प्राशू सचा' बनकर तू मेरे समीप आ। यदि हम प्रभु के आदेशानुसार ऐसे बनकर प्रभु के समीप आते हैं तो हमारे हृदयस्थ वे **ब्रह्मणस्पति:**=ज्ञान के पति प्रभु **नूनम्**=निश्चय से **उक्थ्यम्**= ऊँचे-ऊँचे उच्चारण के योग्य प्रशंसनीय **मन्त्रम्**=मननीय, ज्ञान से परिपूर्ण वेदवाक्यों का **प्रवदति**=ख़ूब ही उच्चारण करते हैं। हम न सुनें तो यह हमारा दोष है, प्रभु तो उच्चारण कर ही रहे हैं। ये मन्त्र वे हैं **यस्मिन्**=जिसमें **इन्द्र: वरुण: मित्र: अर्यमा देवा:**=इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यया तथा अन्य सभी देव **ओकांसि**=अपने गृहों को **चक्रिरे**=बनाते है। इस मन्त्र में यह शक्ति है कि जहाँ यह मन्त्र होगा वहाँ देवों का भी निवास होगा। जहाँ हम हृदयस्थ प्रभु के मन्त्रों का ग्रहण करनेवाले बनते है, वहाँ हमारा जीवन इन देवों का निवास स्थान बन जाता है। ज्ञान की वाणियों के अध्ययन का यह परिणाम है कि मनुष्य १. **इन्द्र:**=जितेन्द्रिय=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है। उसकी इन्द्रियाँ विषयों में आसक्तिवाली नहीं होती। वे विषय-रस की तुच्छता को जानकर 'रसरूप' प्रभु की ओर चलनेवाली होती हैं। २. **वरुण:**=यह व्यक्ति द्वेष का निवारण करनेवाला होता है। ३. **मित्र:**=यह सबके प्रति स्नेह की वृत्ति से चलता है। ४. **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) यह 'काम, क्रोध व लोभ' रूप शत्रुओं का नियमन करनेवाला होता है। ५. **देवा:**=(देवो दानाद्वा दीपनाद्वा) यह दान की वृत्ति को अपनाता है, ज्ञान की दीप्ति से दीप्त होता है औरों को ज्ञान की दीप्ति से द्योतित करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम हृदयस्थ ब्रह्मणस्पति प्रभु के उच्चरित मन्त्रों को सुनें, ज्ञानयज्ञों में प्रवृत्त हों, जिससे हमारा जीवन दिव्य गुणों की सम्पत्ति से परिपूर्ण हो, हम 'दैवी सम्पद्' को अपने में बढ़ा पाएँ।

ऋषि:—**गृत्समद:**। देवता—**ब्रह्मणस्पति:**। छन्द:—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वर:—**धैवत:**।

गृत्समद द्वारा ब्रह्मणस्पति-स्तवन

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीरा:॥५८॥

पिछले मन्त्र में कण्व ऋषि ब्रह्मणस्पति के मन्त्रोच्चारण को सुनकर अपने जीवन को देवों का निवासस्थान बनाता है और प्रभु-स्तवन करनेवाला 'गृत्स' तथा प्रसन्न रहनेवाला 'मद' बनता है। यह गृत्समद ब्रह्मणस्पति का निम्न प्रकार से स्तवन करता है १. हे **ब्रह्मणस्पते**=सब ज्ञान के पति प्रभो! **त्वम्**=आप **अस्य सूक्तस्य**=इस उत्तमता से (सु) उच्चारण किये गये (उक्त) मन्त्र के **यन्ता**=देनेवाले हैं (यच्छति=देता है) **बोधि**=इस मन्त्र को देकर आप हमें ज्ञान दीजिए। हमें ही नहीं, **तनयम् च**=हमारे सन्तानों को भी **जिन्व**=इस ज्ञान से प्रीणित कीजिए। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर ही हम देवों के निवासस्थान बनेंगे और **यत्**=जब **देवाः अवन्ति**=देव किसी पुरुष की रक्षा करते हैं **तत्**=तब **विश्वम् भद्रम्**=सब कल्याण-ही-कल्याण होता है। दिव्य गुण हमारा रक्षण करते हैं, असुरवृत्तियाँ हमें अशुचि नरक में ले-जानेवाली होती हैं (पतन्ति नरकेऽशुचौ), इसलिए हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों **में बृहद् वदेम**=उस सदा वर्धमान ब्रह्म की चर्चा करें। इस प्रभु के चिन्तन से हम **सुवीराः**= उत्तम वीर बनें। संसार में शक्तिशाली बनकर वासनाओं के जीतनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु मुझे ज्ञान दें। मैं धन के संग्रह में न फँस जाऊँ प्रत्युत प्रभु का स्तवन करता हुआ आनन्दमय जीवन बिताऊँ।

इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**पितरः**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यागायत्री**[क], **प्राजापत्याबृहती**[र]।
स्वरः—**षड्जः**[क], **मध्यमः**[र]॥

सुतावान् का लोक

[क]अपे॒तो य॑न्तु प॒णयो॒ऽसु॑म्ना देवपी॒यव॑:। अ॒स्य लो॒कः सु॒ताव॑तः।
[र]द्यु॒भि॒रहो॑भि॒र॒क्तुभि॒र्व्य॑क्तं य॒मो द॑दात्वव॒सान॑मस्मै॥१॥

१. **इतः**=यहाँ से **पणयः**=केवल व्यवहार व व्यापार का ध्यान करनेवाले वणिक् वृत्ति के लोग, जिनका धन ही सब-कुछ है, वे **अपयन्तु**=दूर हों। ये लोग **असुम्ना**=(सुम्न=Hymn) प्रभु के स्तवन से रहित होते हैं, (सुम्न=Sacrifice) इनके जीवन में त्याग की वृत्ति नहीं होती। परिणामतः ये **देवपीयवः**=दिव्य गुणों की हिंसा करनेवाले होते हैं। देवत्व का मूल 'देवो दानात्' दान है, दान से पृथक् होकर ये देवत्व की समाप्ति कर डालते हैं। परिणामतः सब आनन्द व सुरक्षा (सुम्न=Joy, protection) की समाप्ति हो जाती है। यह लोक अयज्ञिय पुरुष के लिए नहीं है यह **लोकः**=लोक तो **अस्य सुतावतः**=इस यज्ञशील पुरुष का है, (सुतः=यज्ञ) उस पुरुष का है जो वणिक् वृत्ति का नहीं बनता, जो **'असुम्ना'**=प्रभु-स्तवन से दूर नहीं हो जाता, त्याग की वृत्ति को नष्ट नहीं कर देता, **देवपीयु**=दिव्यगुणों की समाप्ति कर देनेवाला नहीं हो जाता। जब लोग 'परिग्रह को छोड़कर प्रभुप्रवण, त्यागशील बनकर देवत्व की वृद्धि करते हुए यज्ञमय जीवन बनाएँगे तभी यह लोक उनके लिए समृद्ध हो पाएगा। २. **अस्मै**=इस यज्ञशील पुरुष के लिए **यमः**=वे सर्वनियन्ता प्रभु **अवसानम्**=(Residence=जगह, अवकाश) घर को **ददातु**=दें। जो घर **द्युभिः**=प्रकाशमय **अहोभिः**=दिनों तथा **अक्तुभिः**=रात्रियों से **व्यक्तम्**=विशेषरूप से कान्तिमय हो। जिस घर में दिन शास्त्रों के स्वध्याय से प्रारम्भ होने के कारण प्रकाशमय हो तथा रात्रि भी इतिहास व महापुरुषों के जीवन-चरित्रों के श्रवण से ज्योतिर्मय हो, अर्थात् प्रातः शास्त्रीय अध्ययन और सायं इतिहास-श्रवण इस घर की शोभा को बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—जो व्यक्ति (क) पणिवृत्ति से दूर रहते हैं, (ख) प्रभु-स्तवन को अपनाते हैं, (ग) देवत्व की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील होते हैं, (घ) जो दिन व रात्रि को स्वाध्याय से ज्योतिर्मय बनाये रखते हैं, ये लोग उत्तमताओं का निरन्तर आदान करते हुए 'आदित्य' कहलाते है और देवत्व की वृद्धि करने से 'देव' होते हैं। ये 'आदित्या देवाः' ही इन मन्त्रों के (१ से ६ तक) ऋषि हैं। 'इनके घर कैसे हों।' इस विषय को अगले मन्त्र में देखिए—

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सूर्य-किरणें

स॒वि॒ता ते॒ शरी॑रेभ्यः पृथि॒व्यां लो॒कमि॑च्छतु। तस्मै॑ युज्यन्तामु॒स्रिया॑ः॥२॥

'घर में सब लोग स्वस्थ हों, घर का विकास (प्रसव व उत्पत्ति) हो तथा ऐश्वर्य की कमी न हो' इसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि घर में सूर्यकिरणों का सम्पर्क

अविच्छिन्न हो। सूर्य का नाम सविता है, यह 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' सब प्रसव (Growth) व ऐश्वर्य का करनेवाला है। मन्त्र में कहते हैं कि **सविता**=यह सूर्य **ते**=तेरे **शरीरेभ्यः**=शरीरों के लिए **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **लोकम्**=आलोक=प्रकाश को **इच्छतु**=चाहे। **तस्मै**=उस तेरे लिए **उस्त्रियाः**=सूर्यकिरणें **युज्यन्ताम्**=युक्त हों, सदा उपयोग की वस्तु बनें (युज्=use) जिस घर में सूर्यकिरणों का प्रवेश ठीक प्रकार से होता है उस घर में रोग नहीं घुस पाते, इसलिए हमारे घर ऐसे ही बनने चाहिए जिनमें सूर्यकिरणें सदा आ सकें।

भावार्थ—'घरों में रोगों का प्रवेश न हो', इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनमें सूर्य की किरणों का प्रवेश अव्याहतरूप से हो।

ऋषिः—**आदित्या देवा वा**। देवता—**सविता**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

वायु, सूर्य, अग्नि व गौवें

वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा। वि मुच्यन्तामुस्त्रियाः॥३॥

१. स्वस्थ गृहों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि **वायुः पुनातु**=वायु पवित्र करे **सविता पुनातु**=सूर्य पवित्र करे। 'वायु घरों को पवित्र करे' का अभिप्राय स्पष्ट है कि घरों में शुद्ध वायु का प्रवेश होता रहे। इसी दृष्टिकोण से वैज्ञानिक लोग गृहनिर्माणकला में वायु के आर-पार 'Cross ventilation' आ-जा सकने को महत्त्व देते हैं। **अग्नेः भ्राजसा**=अग्नि की दीप्ति से वायु हमारे घरों को पवित्र करे। घर में जब अग्निहोत्र आदि में अग्नि प्रज्वलित की जाती है तब वहाँ की वायु उष्ण होकर फैलती है और ऊपर उठती है, उसका स्थान लेने के लिए बाहर से वायु आती है और इस प्रकार वायु का प्रवाह चल पड़ता है। इस वायु में अम्लजन की मात्रा अधिक होने से यह घर स्वास्थ्यप्रद बना रहता है। अग्नि की दीप्ति रोगकृमियों के संहार में उपयोगी होती है। विशेषतया तब जब हव्य पदार्थों में उत्तमोत्तम औषध द्रव्यों का समावेश हो। उस समय तो **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्'**=अग्नि में डाले गये इन हव्य पदार्थों से ज्ञात-अज्ञात सभी रोग दूर हो जाते हैं। २. **सूर्यस्य वर्चसा**= प्राणशक्ति के साथ **उस्त्रियाः**=सूर्यकिरणें **विमुच्यन्ताम्**=विशेषरूप से इन घरों में पड़ें (pour forth=विमुच्)। सूर्यकिरणों के द्वारा प्राणशक्ति का सञ्चार होता है। वनस्पतियों में भी जीवनीशक्ति के तत्त्व सूर्य-किरणों से ही रक्खे जाते हैं। सम्पूर्ण प्राणशक्ति का स्रोत ये सूर्य-किरणें ही हैं। ३. **उस्त्रिया**=शब्द का अर्थ 'गौ' भी है। सूर्य की प्राणशक्ति के उद्देश्य से (सूर्यस्य वर्चसा) ये **उस्त्रियाः**=गौवें **विमुच्यन्ताम्**=बाहर खुले में घूमने के लिए छोड़ी जाएँ। वस्तुतः उन गौवों के दूध में ही प्राणदायी तत्त्व अधिक होता है, जो गौवें खुले में सूर्य-किरणों के सम्पर्क में दिनभर रहती हैं। इन गौवों का दूध घर के लोगों को स्वास्थ्य देनेवाला होगा।

भावार्थ—हमारे घरों में वायु का प्रवाह ठीक बहे, सूर्य-किरणें हमारे घर के वातावरण को प्राणतत्त्व से परिपूर्ण करनेवाली हों, हमारे घर की गौवें प्रतिदिन सूर्य-किरणों के सम्पर्क के हेतु खूँटे से खोलकर बाहर भ्रमण के लिए भेजी जाएँ।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**वायुसवितारौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाजऽइत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥४॥

दूसरे व तीसरे मन्त्र में वर्णित स्वास्थ्यप्रद घरों में निवास करते हुए हम संसार की वास्तविकता को कभी भूल न जाएँ। यह नश्वर है, परन्तु जब हम नश्वरता को भूल जाते हैं तब प्राय: हमारा जीवन विषयासक्त होकर पतन की ओर चला जाता है, अत: प्रभु कहते हैं कि १. **व:**=तुम्हारा **निषदनम्**=बैठना, रहना **अश्वत्थे**=(न श्व: तिष्ठति) कल ही न रहनेवाले, अर्थात् नश्वर संसार में है। इस संसार में तुम्हें सदा नहीं रहना। इस नश्वरता को तुम न भूलोगे तो इस शरीर में भी तुम्हें बहुत आसक्ति न होगी। इसकी रक्षा के लिए तुम औरों का घात-पात न करोगे। २. मैंने **व:**=तुम्हारा **वसति:**=निवास **पर्णे कृता**=इन पत्तों पर किया है। तुम्हें इन वनस्पतियों का ही प्रयोग करना है, मांस का नहीं। ३. तुम जिह्वा के स्वादों में न पड़कर **किल**=निश्चय से **गोभाज: इत्**=वेदवाणियों के सेवन करनेवाले ही **असथ**=होओ। तुम्हारा जीवन भोगप्रधान न बनकर ज्ञानप्रधान बने। ४. **यत्**=जिससे तुम **पूरुषम्**=उस संसार-नगरी में शयन करनेवाले पुरुष-प्रभु को **सनवथ**=प्राप्त करो। 'प्रभु को प्राप्त करना' ही मानव जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए आवश्यक है कि हमारी बुद्धि शुद्ध व सात्त्विक बने। बुद्धि की सात्त्विकता के लिए भोजन का सात्त्विक होना आवश्यक है, अत: मांसरूप राजस् व तामस् भोजन को तो छोड़ना ही होगा। हम इस भोजन के स्वाद से ऊपर उठने के लिए संसार की नश्वरता व शरीर के अस्थायित्व को भूल न जाएँ। ये न भूलनेवाले ही ठीक मार्ग पर चलते हुए, अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाले 'आदित्य व देव' बन पाते हैं।

भावार्थ—संसार नश्वर है, मांस खाना हमें जीवन व स्वाद में आसक्त करता है, अत: इसे छोड़कर वेदवाणियों का सेवन करें और प्रभु को प्राप्त करें।

सूचना—गीता के 'छन्दांसि यस्य पर्णानि' इन शब्दों के अनुसार संसारवृक्ष के पर्ण=पत्ते छन्द=वेदमन्त्र है। उन्हीं में प्रभु ने हमारा निवास निश्चय किया है, अर्थात् हमें जीवन का खाली समय उन्हीं के अध्ययन के लिए अर्पित करना चाहिए और उनके अनुसार ही जीवन बिताना चाहिए।

ऋषि:—**आदित्या देवा वा**। देवता—**वायुसवितारौ**। छन्द:—**अनुष्टुप्**। स्वर:—**गान्धार:**।

माता की गोद में

सविता ते शरीराणि मातुरुपस्थऽआ वपतु। तस्मै पृथिवि शं भव॥५॥

जब हम पिछले मन्त्र के अनुसार जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं तब हमारा जीवन बड़ा सुन्दर व शान्त बनता है। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि **सविता**=सूर्य **ते**=तेरे **शरीराणि**='स्थूल, सूक्ष्म व कारण' सभी शरीरों को **मातु:**=इस पृथिवी माता की (भूमिमाता पुत्रोऽहं पृथिव्या:'=भूमि माता है और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ—अथर्व०) **उपस्थे**=गोद में **आवपतु**=ठीक ढंग से स्थापित करे (Fit in, instill=वप्) और हे **पृथिवि**=मातृस्थानापन्न भूमे! **तस्मै**=उस सूर्य द्वारा तुझमें स्थापति पुरुष के लिए तू **शम् भव**=शान्ति देनेवाली हो। सूर्य के द्वारा रोगकृमियों का संहार होकर स्थूलशरीर नीरोग बनता है। स्वास्थ्य के ठीक होने पर मन की प्रसन्नता उत्पन्न होती है, मन की प्रसन्नता से मस्तिष्क ठीक काम करता है। इस प्रकार यह सूर्य सूक्ष्मशरीर का स्वास्थ्य देता है। आनन्दमयता की उत्पत्ति से कारणशरीर तो ठीक हो ही जाता है, स्थूल व सूक्ष्मशरीर भी अधिक स्वस्थ हो जाते हैं और उस समय हमें सच्ची शान्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों के सम्पर्क से हमारे सब शरीर प्रफुल्लित हों और हमें शान्ति

प्राप्त हो।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

रहने योग्य लोक

प्रजापतौ त्वा देवतायामुपोदके लोके निदधाम्यसौ। अप नः शोशुचदघम्॥६॥

पिछले मन्त्र में 'शान्त जीवन' का संकेत किया है। जीवन में अशान्ति के तीन बड़े-बड़े कारण हैं १. राष्ट्र में अराजकता हो, मात्स्य-न्याय चल रहा हो, 'शक्ति ही अधिकार है' Might is right इस सिद्धान्त को लेकर बलवान् निर्बल को ग्रस रहे हों। २. जहाँ हम रहते हैं उसके आस-पास आसुरवृत्ति के लोगों का निवास हो, परस्पर झगड़नेवाले लोग वहाँ रहते हों, उनका शोर सारे वातावरण को क्षुब्ध किये रक्खे। ३. तीसरी बात यह कि आस-पास पानी सुलभ न हो। अन्न तो कई दिनों के लिए संग्रह करके भी रक्खा जा सकता है, परन्तु पानी के लिए ऐसी बात नहीं है और पानी की आवश्यकता पग-पग पर बनी रहती है, यह जन्म से लय तक उपयुक्त होने से ही 'जल' कहलाया है। अशान्ति के इन तीन कारणों को दूर करना आवश्यक है, अतः मन्त्र में प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **लोके**=उस लोक में **निदधामि**=रखता हूँ जो ४. (क) **प्रजापतौ**=प्रजापतिवाला है, अर्थात् जिसमें प्रजा का रक्षक राजा विद्यमान है। राजा है और वह प्रजा का रक्षक है, अतः इस लोक में किसी प्रकार की अराजकता का भय नहीं। (ख) **देवतायाम्** =जो देवताओंवाला है। जिस लोक में देववृत्ति के लोग रहते हैं। ये किसी के साथ शुष्क वैर-विवाद नहीं करते, परस्पर मिलकर चलते हैं, अतः इनका प्रेम सारे वातावरण को बड़ा स्निग्ध बना देता है। (ग) **उपोदके**=जो समीप पानीवाला है। यह नदी के किनारे स्थित है, अतः पानी के अकाल का यहाँ भय नहीं है। वर्षा भी यहाँ न होती हो वह बात भी नहीं। कुओं का पानी भी बहुत गहरा न होकर समीप ही है (उप+उदक), एवं, प्रभु ने रहने योग्य लोक का तीन शब्दों में उल्लेख किया है ऐसे ही लोक की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हुए मन्त्र के ऋषि 'आदित्यदेव' प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **असौ**=(लोकः) वह लोक **नः**=हमारे **अघम्**=पापों व शोकों (Sins and griefs), को, दौर्भाग्यों (Mishap) को, अपवित्रताओं (Impurity), वासनाओं व पीड़ाओं (pains) को **अप**=दूर ले-जाकर **शोशुचत्**=(शुच=to burn, consume) अच्छी प्रकार जला दे, भस्म कर दे और इस प्रकार हमारे जीवनों को धार्मिक, प्रसादपूर्ण, सौभाग्यशाली, पवित्र, वासनाओं से ऊपर उठा हुआ और कल्याणमय बना दे।

भावार्थ—'आदित्यदेव' प्रजापतिवाले, देवताओं के पड़ौसवाले, समीप जलवाले लोक में निवास करते हैं और इस लोक में रहते हुए पापों व पीड़ा से परे हो जाते हैं।

ऋषिः—**सङ्कसुकः**। देवता—**यमः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मृत्यु का (पर पन्थाः) उत्कृष्ट मार्ग

परं मृत्योऽअनु परेहि पन्थां यस्तेऽअन्यऽइतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳरीरिषो मोत वीरान्॥७॥

प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **मृत्यो**=यम—अपने जीवन को नियन्त्रित करनेवाले जीव! अथवा पुराने ढर्रे को छोड़कर जीवन को नवमार्ग पर ले-चलनेवाले (to turn a new leaf) जीव! बुराइयों को समाप्त करके अच्छाइयों को ग्रहण करनेवाले मृत्यो! तू **परम् पन्थाम्**

अनु=उत्कृष्ट मार्ग को लक्ष्य करके **परा इहि**=इन विषय-वासनाओं से परे होकर चल। 'कौन-से उत्कृष्ट मार्ग का लक्ष्य करके?' **यः**=जो **ते**=तेरा **इतरः देवयानात्**=देवयान से भिन्न मार्ग से **अन्यः**=भिन्न है। 'देवयान से भिन्न मार्ग से भिन्न है', अर्थात् जो तेरा देवयान मार्ग है। 'द्वौ नञ प्रकृतार्थं गमयतः'=दो 'न' मिलकर मूल अर्थ को ही बतलाते हैं। जीवात्मा को चाहिए कि वह अपने देवयानमार्ग का ध्यान करके सांसारिक विषय-वासनाओं में फँसने से बचे। जीव का वास्तविक मार्ग तो देवयान है, जब भटकता है तब अन्य मार्गों पर चला जाता है। २. प्रभु का दूसरा आदेश यह है कि हे मृत्यो! संयमी जीव! **चक्षुष्मते**=आँखोंवाले **शृण्वते**=कानों से सुननेवाले **ते**=तेरे लिए **ब्रवीमि**=मैं यह कहता हूँ कि **नः प्रजाम्**=हमारी सन्तान को **मा रीरिषः**=मत हिंसित कर **उत**=और **वीरान्**=हमारी वीर सन्तान को **मा**=मत **रीरिषः**=हिंसित करना। जब मनुष्य देवयानमार्ग को छोड़कर भोगमार्ग की ओर चलता है तब असंयम व अब्रह्मचर्य के कारण उसकी सन्तानें दीर्घजीवी नहीं होती, जीती भी हैं तो दुर्बल रहती हैं। भोगमार्ग पर चलनेवाला अपनी ही शक्तियों को क्षीण नहीं करता, वह आनेवाली सन्तान की भी हानि करनेवाला होता है और एक विचारशील पुरुष कभी भी उस मार्ग का आक्रमण न करेगा जो न उसके अपने हित में है और न ही आगे आनेवाली पीढ़ियों के। ३. मनुष्य को यह भी भ्रम न होना चाहिए कि सन्तान उसी के तो हैं। प्रभु स्पष्ट कह रहे हैं कि ये सब आनेवाले व्यक्ति प्रभु के पुत्र हैं, मनुष्य तो उन्हें जन्म देने का माध्यम मात्र है। मनुष्य क्षणिक भोगवृत्ति के कारण अपना ही नहीं आनेवाली सन्तान की भी कितनी हानि करता है। प्रभु कहते हैं कि तू तो 'चक्षुष्मान्' है, क्या इतना भी तुझे नहीं दिखता कि यह भोगवृत्ति कितनी हेय है? तू तो शृण्वन् है, तुझे क्या मेरी बात सुनाई नहीं पड़ती, इसीलिए तू निश्चय कर कि 'देवयान से इतर मार्ग पर नहीं चलना'। तभी तू दीर्घजीवी, अदुर्बलेन्द्रिय सन्तान को जन्म देनेवाला होगा। ४. इस प्रकार देवयानमार्ग से चलनेवाला यह व्यक्ति उत्तम गतिवाला होने से 'संकसुक' है। (कस् to go, to move सम्=सम्यक्)। इस उत्तम मार्ग से चलता हुआ यह उस प्रभु तक पहुँचता है। (कस् to approach)। यदि वह शब्द 'संकुसुक' हो तो अर्थ होगा 'यह प्रभु का आलिंगन करनेवाला बनता है' (कुस to embrace)।

भावार्थ—हम जीवन के मार्ग को उत्तम करें, देवयान मार्ग से चलें। सन्तानों को प्रभु की सन्तानें समझते हुए उत्तम बनाने का प्रयत्न करें। हमारे असंयम से वे नष्ट न हों।

ऋषिः—**आदित्या देवा वा**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

आधिदैविक शान्ति

शं वातः शꣳहि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः।
शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभि शूशुचन्॥८॥

गतमन्त्र के अनुसार जब मनुष्य देवयानमार्ग पर चलता है तब उसे किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्ति प्राप्त नहीं होती। उसके लिए सब प्राकृतिक देव अनुकूल होते हैं। इस विषय को आठवें व नौवें मन्त्र में इस प्रकार कहते हैं कि १. **वातः शम्**=वायु तेरे लिए शान्ति देनेवाली हो। २. **घृणिः**=(घृ=दीप्ति, A ray of light, sunshine, the sun) सूर्यकिरणें, धूप तथा स्वयं सूर्य **ते**=तेरे लिए **हि**=निश्चयपूर्वक **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। ३. **घृणिः**=(A wave, water) जलतरंगें तथा जल तेरे लिए शान्तिदायक हो। ४. **इष्टकाः**=यज्ञवेदी में चयन की गई ईंटें अथवा दिन तथा रात्रि (अहोरात्राणि वा इष्टकाः —श० ९।१।२।१९) **ते**=

तेरे लिए **शं भवन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। ५. **ते**=तेरे लिए **पार्थिवासः अग्नयः**=ये पृथिवीलोक की अग्नियाँ **शम् भवन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। यहाँ 'अग्नयः' यह बहुवचन पृथिवी के ग्यारह देवों का ध्यान करके रखा गया है। अग्नि इनका मुखिया है, अतः सभी को 'अग्नि' कह दिया है। ६. ये सबके सब **त्वा**=तुझे **मा**=मत **अभिशूशुचन्**=शोकयुक्त करनेवाले हों।

भावार्थ—हम सातवें मन्त्र के अनुसार मन को मार लेने-(पूर्णरूप से काबू कर लेने)-वाले मृत्यु बनेंगे और देवयानमार्ग को अपनाएँगे तो सब देव हमारे लिए शान्तिकर होंगे।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

दिशाओं की सामर्थ्यप्रदता

कल्पन्तां ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः।
अन्तरिक्षꣳशिवं तुभ्यं कल्पन्तां ते दिशः सर्वाः॥९॥

१. **ते**=तेरे लिए **दिशः**=पूर्वादि दिशाएँ **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य देनेवाली हों (कृपू सामर्थ्ये) २. **तुभ्यम्**=तेरे लिए **आपः**=जल **शिवतमाः**=अत्यन्त कल्याणकर हों। ३. **तुभ्यम्**=तेरे लिए **सिन्धवः**=नदियाँ व समुद्र **शिवतमाः भवन्तु**=कल्याणकर हों। ४. **अन्तरिक्षम्**=द्यावापृथिवी का मध्यवर्ती सम्पूर्ण लोक **तुभ्यम्**=तेरे लिए **शिवम्**=कल्याणकर हो। ५. और अन्त में **ते**=तेरे लिए **सर्वाः दिशः**=ईशानादि सब विदिशाएँ **कल्पन्ताम्**=सामर्थ्य देनेवाली हों। इस प्रकार देवयानमार्ग पर चलनेवाले देवत्व का आदान करते हुए 'आदित्य' कहलाते हैं। ये धीमे-धीमे 'देव' ही बन जाते हैं। अथवा देवमाता 'अदिति' है, इसके पुत्र बनने से ये 'आदित्यदेव' कहलाने लगते हैं। इनके लिए सब दिशा-विदिशाएँ, जल, समुद्र और अन्तरिक्ष शान्ति देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम धर्माचरण करेंगे तो आधिदैविक आपत्तियों से बचे रहेंगे।

ऋषिः—**सुचीकः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अश्मन्वती नदी का सन्तरण

अश्मन्वती रीयते सꣳरभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽअसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥१०॥

१. यह संसार एक नदी के समान है, जिसमें नानाविध प्रलोभन नुकीले पत्थरों के समान है। यह **अश्मन्वती**=प्रलोभनमय पाषाणोंवाली संसार-नदी **रीयते**=तीव्र गति से चल रही है। इसको हमें पार करना है, इस संसार-नदी में डूबना नहीं है। प्रभु कहते हैं कि २. **संरभध्वम्**=सम्यक् क्रिया को प्रारम्भ करो। आलसियों की भाँति पड़े न रहो। ३. **उत्तिष्ठत**=उठ खड़े होओ। आलस्य से ऊपर उठकर प्रयत्न करो और ५. **सखायः**=सबके साथ मित्रता के भाव से वर्त्तते हुए **प्रतरत**=इस नदी को तैर जाओ। अकेले व्यक्ति के लिए इस नदी को तैरना कठिन है। कदम-कदम पर विषयों के नुकीले पत्थर शरीर को छलनी कर देनेवाले हैं, ज़रा फिसले कि गये। २. इस नदी को तैर जाने के लिए आवश्यक है कि **अत्र**=यहाँ ही **जहीमः**=हम उन वस्तुओं को छोड़ देते हैं **ये**=जो **अशिवाः**=अमङ्गलकारी **असन्**=हैं। बोझ को लादे तैरना सम्भव नहीं होता। बोझ उन्हीं वस्तुओं का हुआ करता है जो हमारी अङ्गभूत नहीं हैं। जो भी वस्तुएँ हमारा अङ्ग बन जाती हैं उनका भार नहीं हुआ करता। इस सिद्धान्त के अनुसार 'ज्ञान, मानस पवित्रता व प्राणशक्ति' हमारे अङ्गभूत होने से उपादेय हैं और बाह्य सम्पत्ति बाह्य होने से भारभूत है। उसका संग्रह तैरने में विघातक

होता है। उसका बोझ उतारना ही ठीक है, अतः **वयम्**=हम **शिवान्**=कल्याणकर **वजान्**=वाजों को, शक्तियों तथा धनों को **उत्तरेम**=इस नदी को तैर कर प्राप्त होंगे। अशिव को छोड़ेंगे तो शिव को प्राप्त करेंगे ही। इस किनारे को छोड़कर उस किनारे को छूनेवाला यह '**सुचीक**'=उत्तम स्पर्श करनेवाला कहलाता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम उत्तम कार्यों को प्रारम्भ करें, आलस्य छोड़ उठ खड़े हों, मित्रता की भावना को अपनाकर इस अश्मन्वती नदी को तैर जाएँ। अशिव को छोड़ शिव को प्राप्त करें।

ऋषिः—**शुनःशेपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अपामार्ग

अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः। अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳ सुव॥११॥

१. (अप=away, दूर तथा मार्ग (मृजू शुद्धौ) शोधन करनेवाला) **अपामार्ग**=हमसे पापों को दूर करके हमें शुद्ध करनेवाले हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अघम्**=हिंसादि पापों को **अस्मत्**=हमसे **अपसुव**=दूर कीजिए। जब हम प्रभु का स्मरण करते हैं तब सभी प्राणियों के प्रभु-सन्तान होने की कल्पना से विश्वबन्धुत्व की भावना जागती है और हम हिंसा की वृत्ति से ऊपर उठते हैं। ३. हे प्रभो! **किल्बिषम्**=उस मन की मलिनता को जो हमें विषय-वासनाओं में ही क्रीड़ा कराती रहती है **अप** =हमसे दूर कीजिए। प्रभु-स्मरण से मन से वासना भाग ही जाती है और मन विषयप्रवण नहीं रहता। ३. **कृत्याम्**=औरों को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से जो जादू-टोना आदि दुष्ट क्रियाएँ हैं, उन्हें **अप**=हमसे दूर कीजिए। प्रभु-भावन हमारे हृदयों को पवित्र करता है, अतः हृदय में ईर्ष्या-द्वेष नहीं रहते और उनकी परिणामभूत कृत्याएँ भी समाप्त हो जाती हैं। ४. **उ**=और **रपः**=जो भाषण-सम्बन्धी दोष हैं, उन कटु भाषणादि को **अप**=हमसे दूर कीजिए। प्रभु-स्मरण से भ्रातृभाव का उदय होता है, कटुभाषण का प्रसङ्ग ही नहीं रहता। ५. हे अपामार्ग प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों की कारणभूत सब बुराइयों को **अपसुव**=दूर कीजिए। सब पापों को दूर करके जीवन में सुख का निर्माण करनेवाला **शुनःशेप**=(शुनम्=सुखम्, शेप=to make) प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह 'अपामार्ग' ओषधि के प्रयोग को समझकर जिस प्रकार शरीर को नीरोग बनाता है, उसी प्रकार उस **अपामार्ग**=प्रभु के स्मरण से यह अपने मन को निर्दोष बनाता है।

भावार्थ—प्रभु अपामार्ग हैं, वे हमारे अघों, किल्बिषों, कृत्याओं और रपस् को हमसे दूर करते हैं। संक्षेप में बुरे स्वप्नों की कारणभूत सब बातों को वे प्रभु हमसे दूर करते हैं।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सुमित्रिय आप् और ओषधियाँ

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥१२॥

छठे मन्त्र में उत्कृष्ट मार्ग पर चलने का उल्लेख था और परिणामतः आधिदैविक कष्टों के न होने का वर्णन आठवें व नववें मन्त्र में था। ग्यारहवें मन्त्र में पापों को दूर करने का उल्लेख करके इस बारहवें मन्त्र में कहते हैं कि **नः**=हमारे लिए, जिन हम लोगों ने 'अघ, किल्बिष, कृत्या व रपस्' को दूर करने का निश्चय किया है, **आपः**=जल और

ओषधयः=ओषधियाँ **सुमित्रयाः सन्तु**=उत्तम स्नेह करनेवाली हों (ञिमिदा स्नेहने), अर्थात् हमारे लिए हितकारी हों। ये जल व ओषधियाँ हमारे रोगों को दूर करके मृत्यु से बचानेवाली हों (प्रमीतेः त्रायते) **तस्मै**=उस व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः सन्तु**=दुर्मित्रिय हों **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबसे **द्वेष्टि**=द्वेष करता है **यं च**=और परिणामतः जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=प्रीति के योग्य नहीं समझते। यदि कोई व्यक्ति ऐसा है जो सारे समाज से सदा वैर-विरोध करता रहता है, समझाने से भी समझता नहीं तो वह फिर अवाञ्छनीय हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के लिए ये जल व ओषधियाँ हितकर न हों। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह बात है भी ठीक। जो व्यक्ति सदा ईर्ष्या-द्वेष व लड़ाई-झगड़े में चलता है उसकी इस मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं जो इन जलों व ओषधियों का परिणाम हितकर नहीं होने देते।

जो व्यक्ति सब स्थानों से अच्छाई को ही लेने का अभ्यास करते हैं और इस प्रकार देववृत्तिवाले होते हैं वे 'आदित्यदेव' ही प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हैं, इनका मन ईर्ष्या-द्वेषादि से सदा ऊपर रहता है। इस मनःप्रसाद के कारण इनके खान-पान का इनके जीवन में उत्तम प्रभाव होता है। सर्पवृत्ति के कुटिल व औरों का घात-पात करनेवाले लोग दुग्धामृत भी पीएँ तो उसका परिपाक विष के रूप में होता है।

भावार्थ—पापों को दूर करके हम देवों के प्रिय हों, जलौषधि हमारे लिए हितकर हों।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**कृषीवलाः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'वह अनड्वान्'

अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयꣳस्वस्तये।
स नऽइन्द्रऽइव देवेभ्यो वह्निः सन्तारणो भव॥१३॥

दसवें मन्त्र में 'अश्मन्वती नदी' के तैरने का उल्लेख था। उसी सन्तरण के लिए प्रभु से शक्तियोग का निश्चय करते हैं कि **अनड्वाहम्**=इस संसार-शकट (अन=गाड़ी) के वहन (वाह) करनेवाले प्रभु को **आरभामहे**=अपना आधार (to rely on) बनाते हैं, उनपर अपनी जीवन-यात्रा की सफलता के लिए पूर्ण आस्था (to reach or attain to) रखते हैं। उस प्रभु को प्राप्त करने के लिए (to seize, to grasp) पूर्ण प्रयत्न करते हैं। उस प्रभु को समझने के लिए कोई कमी उठा नहीं रखते। वे प्रभु **सौरभेयम्**=सुरभियों में उत्तम हैं, हमारे जीवन को सुगन्धित कर देते हैं। प्रभु का आश्रय करने पर हमारे जीवन पवित्र हो जाते हैं, उनमें पापमय कर्मों की दुर्गन्ध नहीं रहती। ऐसा हम **स्वस्तये**=उत्तम जीवन की स्थिति के लिए करते हैं (सु+अस्)। वे प्रभु 'वह्नि' हैं, हमारी जीवन-यात्रा को पूरा करनेवाले हैं। हमें लक्ष्यस्थान पर ले-जाते हैं (वह्नि to carry)। हे प्रभो! आप हमारे लिए **सन्तारणः**=इस संसार-नदी को तैरने के साधन **भव**=होओ, **इव**=उसी प्रकार जैसेकि **इन्द्रः**=देवराट् **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए सन्तरण हुआ करता है। इस शरीर में 'इन्द्र' आत्मा है और सब इन्द्रियाँ 'देव' हैं। जब इन्द्र इन देवों पर आक्रमण करनेवाले असुरों का संहार करता है तब देव, अर्थात् इन्द्रियाँ सब मलिनताओं को पार कर जाती हैं। मलिनताओं से ऊपर उठकर देव चमक उठते हैं। इसी प्रकार प्रभु का आश्रय करने पर जीव चमक उठता है। प्रभु का आश्रय करनेवाले ये लोग अच्छाइयों का ग्रहण करने के कारण 'आदित्य' होते हैं, दिव्य गुणोंवाले होने से 'देव' होते हैं। वे देव उस प्रभु को ही **'अनड्वान्'**=संसार-शकट का सञ्चालक समझते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को ही जीवन-सञ्चालक जानें। वे हमारे जीवन को पवित्र बनाएँगे, वे हमें इस संसार-नदी को तैरने के योग्य करेंगे।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत्तम ज्योति को प्राप्त करना

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१४॥

१. गत मन्त्र के 'आदित्यदेव' निश्चय करते हैं कि **वयम्**=हम **उत्**=इस उत्कृष्ट व सुन्दर, अत्यन्त आकर्षक **तमसः**=पूर्ण अन्धकारमय प्रकृति से **परि**=परे **उत्तरम्**=प्रकृति के साथ तुलना में अधिक उत्कृष्ट, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है और यह जीवात्मा चेतन है, **स्वः**=ज्ञान के प्रकाश से युक्त आत्मस्वरूप को **पश्यन्तः**=देखते हुए **देवत्रा देवम्**=देवों के भी देव, वस्तुतः सब देवों के प्रकाशक **उत्तमम्**=सर्वोत्कृष्ट **ज्योतिः**=प्रकाशरूप उस **सूर्यम्**=सबके प्रेरक प्रभु को (सुवति कर्मणि) **अगन्म**=प्राप्त होते हैं। २. प्रस्तुत मन्त्र में प्रकृति, जीव व परमात्मा का उल्लेख 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्द से हुआ है। प्रकृति **उत्**=उत्कृष्ट है। जीव की उन्नति के लिए प्रत्येक साधन उसमें निहित है। ३. हाँ, जीव उससे अधिक उत्कृष्ट है चूँकि प्रकृति जीव के हित के लिए ही है और प्रकृति जहाँ पूर्ण जड़ है वहाँ जीव चेतन है, अतः यह 'उत्तर' है। ४. परमात्मा जीव से भी उत्तम है चूँकि जीव का ज्ञान जहाँ अल्प है प्रभु का ज्ञान पूर्ण है। ज्ञान की चरमसीमा ही तो प्रभु हैं **'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'** (योगदर्शन)=जहाँ ज्ञान के तारतम्य की विश्रान्ति होती है वही तो प्रभु हैं। ये देवों के भी देव हैं, सूर्यादि के भी ये ही प्रकाशक हैं। वे गुरुओं के भी गुरु हैं **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**। ये प्रभु सारे संसार के सञ्चालक तो हैं ही, हृदयस्थरूपेण जीवों को भी ये कर्म की प्रेरणा दे रहे हैं, अतः सूर्य हैं।

भावार्थ—हम 'उत्, उत्तर व उत्तम' शब्दों से व्यक्त होनेवाले प्रकृति, जीव व परमात्मा के रूप को समझें।

ऋषिः—**सङ्कसुकः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्रेरणा-पञ्चक—पाँच प्रेरणाएँ

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरोऽअर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥१५॥

पिछले मन्त्र की समाप्ति इन शब्दों पर थी कि हम उत्तम ज्योति परमात्मा को प्राप्त करते हैं, जो प्रभु 'सूर्य' हैं, हमें कर्मों में प्रेरित कर रहे हैं। इस प्रेरणा का स्वरूप प्रस्तुत मन्त्र में दिया गया है। १. **जीवेभ्यः**=जीवों के लिए **इमम् परिधिम्**=इस परिधि को, मर्यादा को **दधामि**=धारण करता हूँ। जीव को सर्वप्रथम तो यह चाहिए कि वह मर्यादा में चले। उसका प्रत्येक कार्य सीमा में हो। २. दूसरी प्रेरणा प्रभु की यह है कि **एषाम्**=इन जीवों के **एतम् अर्थम्**=इस धन को, उपार्जित सम्पत्ति को **अपरः**=दूसरा व्यक्ति **मा नु गात्**=निश्चय से न प्राप्त करे, अर्थात् सब कोई अपने पुरुषार्थ से ही धनार्जन का विचार करे। ३. प्रेरणा का तीसरा अंश यह है कि जीव **शरदः शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **जीवन्तु**=जीएँ। सौ वर्ष तक जीने को भी वह अपना धर्म समझें। दीर्घजीवन के दृष्टिकोण से उनका आहर-विहार हो। ४. इस जीवन में प्रजाएँ **पुरूचीः** (पुरु अञ्च्)=पालन व पूरणात्मक गतिवाले होते हुए प्रभु की पूजा करनेवाले हों (पृ पालनपूरणयोः, अञ्चु गतिपूजनयोः) प्रभु-पूजा वस्तुतः यही है

कि हमारे कर्म पालन व पूरण करनेवाले हों, विनाश व ह्रास का कारण न बनें। ५. ये जीव **पर्वतेन** (पर्व पूरणे)=इस पूरण के हेतु से, कमियों को न आने देने की लिए, **अन्तः**=अपने हृदयों में **मृत्युम्**=उस सर्वत्र यन्ता यमरूप प्रभु को **दधताम्**= धारण करें। रुद्ररूप में उस प्रभु का स्मरण हमारे जीवनों में न्यूनताओं को नहीं आने देता। यह 'मृत्यु' का स्मरण हमारी जीवन की गाड़ी को पथभ्रष्ट नहीं होने देता, हम प्रकृति में नहीं फँसते। बस, इस प्रकृति में न फँसने के कारण ही हम उत्तम गतिवाले होते हैं (सम्=उत्तम, कसु गतौ) अन्त में हम प्रभु को प्राप्त करते हैं (कस् to approach), इसीलिए हमारा नाम 'सङ्कसुक' हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणा इस रूप में है कि १. मर्यादा में चलो, २. पुरुषार्थ से कमाओ, ३. सौ वर्ष अवश्य जीना है, ४. तुम्हारी प्रत्येक क्रिया पालन व पूरणवाली हो, ५. पूरण के दृष्टिकोण से ही प्रभु के 'रुद्र' रूप को हृदयस्थ करना, मृत्यु को नहीं भूलना।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

'आदित्यदेवों' की प्रार्थना

अग्नऽआयूंᳯषि पवसऽआ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥१६॥

गत मन्त्र का अन्तिम वाक्य था कि 'अपनी उत्तमता व दिव्यता के पूरण के हेतु से रुद्र प्रभु को हृदयों में धारण करो।' वे हृदयस्थ प्रभु सुननेवाले को जो प्रेरणा देते हैं उसका वर्णन गत मन्त्र में विस्तार से है। प्रस्तुत मन्त्र में दिव्यता का आदाता 'आदित्यदेव' जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि १. हे **अग्ने**=हमारी सब बुराइयों को भस्म करनेवाले अग्निदेव! आप ही हमारे **आयूंषि**=जीवनों को **पवसे**=पवित्र बनाते हैं। काम-क्रोधादि आसुर वृत्तियों से युद्ध में जीतने का सामर्थ्य हममें नहीं है। यह तो आपकी शक्ति से ही होगा। २. **नः**=हमें **इषम्**=प्रेरणा को **ऊर्जम् च**=और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने के लिए प्राणशक्ति को **आसुव**=प्राप्त कराइए। जीवनों को पवित्र करने के लिए यही मार्ग है कि हम प्रेरणा को सुनें और उस प्रेरणा को क्रियान्वित करने की शक्ति हममें हो। ३. हे प्रभो! **दुच्छुनाम्** (शुन गतौ)=सब दुर्गमनों, दुरितों को **आरे**=हमसे दूर **बाधस्व**=रोक दीजिए। हे प्रभो! यह सब आपने ही करना है, हमारी शक्ति से यह साध्य नहीं।

भावार्थ—हमारे जीवन पवित्र हों, हमें प्रेरणा व शक्ति प्राप्त हो, दुरित हमसे दूर रहें।

ऋषिः—**वैखानसः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

सुन्दर प्रेरणाएँ

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा॥१७॥

गतमन्त्र में अच्छाई का आदान करने की वृत्तिवाले 'आदित्यदेव' ने प्रभु से कहा था कि 'मुझसे दुरित को दूर रोक दीजिए'। इन शब्दों में वस्तुतः उसने यही निश्चय किया था कि मैं इन सब बुराइयों का विशेषरूप से समूल उत्खात (जड़ से उखाड़ देनेवाला) कर देनेवाला बनूँगा। इसी से उसका नाम **'वैखानस'**='विशिष्ट खनन करनेवाला' हो गया है, यही मन्त्र का ऋषि है। इससे प्रभु कहते हैं कि १. हे **अग्ने!**=बुराइयों को भस्म करनेवाले जीव! **आयुष्मान्**=तू उत्तम जीवनवाला बन, उत्तम जीवन वही है जो मलों से रहित है।

शरीर के मल 'रोग' हैं, मन के मल 'राग-द्वेष' हैं, बुद्धि का मल 'कुण्ठा' (dullness) है, अतः तू रोगों, द्वेषों व कुण्ठा से दूर होकर अपने जीवन की उत्तमता को सिद्ध कर। २. **हविषा**=(हु दान+अदन) दानपूर्वक अदन करता हुआ तू **वृधानः**=वृद्धि के स्वभाववाला बन। दानपूर्वक अदन ही हवन व यज्ञ है। यही तेरे फूलने-फलने का मौलिक रहस्य है। ३. **घृतप्रतीकः**=ज्ञान की दीप्ति से दीप्त मुखवाला तू हो। (घृ दीप्तौ) तेरे चेहरे पर अन्तःस्थ ब्रह्मज्ञान की आभा दिखे, तू ब्रह्मवर्चस्वी लगे। ४. **घृतयोनिः**=(घृ क्षरण) मलों के उत्तम क्षरणवाले घर-(योनि)-वाला **एधि**=तू हो। तेरे इस शरीररूप गृह में मलों का सञ्चय न हो जाए। मलों का क्षरण इसमें से ठीकरूप में होता रहे। ५. 'घृतप्रतीक' व 'घृतयोनि'=ज्ञानदीप्त मुखवाला तथा स्वस्थ शरीरवाला बनने के लिए तू **मधु**=अत्यन्त मधुर व ओषधियों के सारभूतम् **चारु**=सुन्दर **गव्यम् घृतम्**=गोदुग्ध से आज ही निकाले गये घृत को **पीत्वा**=पीकर **इमान्**=इन दिव्य गुणों को (आयुष्मत्ता, यज्ञ द्वारा वृद्धि, ज्ञानदीप्ति व शारीरिक स्वास्थ्य को) **अभिरक्षतात्**=अपने में उसी प्रकार सुरक्षित करनेवाला बन **इव**=जैसे **पिता**=पिता **पुत्रम्**=पुत्र को। जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है, तू इन दिव्य गुणों की अपने में रक्षा कर।

भावार्थ—मलों को भस्म करके हम उत्तम जीवनवाले बनें, यज्ञ के द्वारा वृद्धि करके ज्ञान दीप्त हों, शरीर स्वस्थ हो। गोघृत का प्रयोग करनेवाला तू बन। दिव्य गुणों की अपने में तू रक्षा कर।

ऋषिः—**भरद्वाजः शिरिम्बिठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अधर्षण—अजेयता

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत। देवेष्वक्रत श्रवः कऽइमाँ२॥ऽआ दधर्षति ॥१८॥

पिछले मन्त्र का वैखानस=काम-क्रोधादि को उखाड़कर शक्तिशाली बना है, अतः 'भरद्वाज' है। इसका (हृदयान्तरिक्ष) शिरि=वासनाओं को शीर्ण करनेवाला हुआ है, अतः यह 'शिरिम्बिठ भरद्वाज' नामवाला ऋषि है। १. **इमे**=ये ऋषि वे हैं जिन्होंने कि **गाम्**=वेदवाणी का **परि अनेषत**=परिणय किया है, वेदवाणी के साथ विवाह किया है। २. **अग्निम्**=अग्नि को **परि अहृषत**=सब ओर से धारण किया है (हृ=to have, to possess), अर्थात् अग्निहोत्र की अग्नि को इन्होंने अपने घर में बुझने नहीं दिया है। इन्होंने ज्ञान की वाणियों के सतत अध्ययन से जहाँ अपने मस्तिष्क को ज्ञान से परिपूर्ण किया, वहाँ इनके हाथ सदा अग्निहोत्र आदि यज्ञों में लगे रहे हैं ३. इस प्रकार इन्होंने **देवेषु**=देवों में **श्रवः**=यश को **अक्रत**=सम्पादित किया है, अर्थात् इनके हृदय दिव्य गुणों से परिपूर्ण हुए हैं। **इमान्**=इनको **कः**=कौन **आदधर्षति**=धर्षित कर सकता है (धृष्=Dare to attack, challenge, defy)। इन व्यक्तियों को कोई वासना आक्रान्त नहीं कर पाती। दूसरे शब्दों में, वासनाओं से अपराजित होने का प्रकार यही है कि (क) मनुष्य अपने मस्तिष्क को सतत अध्ययन में व्याप्त रक्खे। (ख) उसके हाथ यज्ञादि उत्तम कार्यों में लगे रहें और (ग) वह अपने हृदय को सदा दिव्य गुणों से परिपूर्ण करने के लिए यत्नशील हो। वस्तुतः इन्हीं के कारण उसका चारों ओर यश हो। इन लोगों के 'ज्ञान' ने काम पर विजय पाई है, 'यज्ञ' ने लोभ पर (यज्ञ=दान), तथा 'दिव्यता' ने क्रोध पर। काम की चिता पर ज्ञान इनके जीवन में दीप्त हुआ है, लोभ की चिता पर यज्ञों का मन्दिर बना है, और क्रोध को भस्म कर ये दिव्य बने हैं।

भावार्थ—हम अध्ययन-व्यापृत, यज्ञशील व दिव्यता के धारण से यशस्वी बनकर वासनाओं से अपराजित बन जाएँ।

ऋषिः—**दमनः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

चार बातें

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥१९॥

१. **क्रव्यादम्**=कच्चे मांस (क्रव्य) को खानेवाले (अद) **अग्निम्**=अग्नि को **दूरम्**=दूर **प्रहिणोमि**=भेजता हूँ, अर्थात् हमारे घरों में कोई भी अपरिपक्व अवस्थावाला व्यक्ति मृत्यु का ग्रास नहीं होता। 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते'='सस्य की भाँति मनुष्य परिपक्व होता है' ये उपनिषद् के शब्द परिपक्व की भावना को व्यक्त कर रहे हैं। 'इसके बाल पक गये हैं' यह हिन्दी का प्रयोग भी पकने का अर्थ स्पष्ट कर देते हैं, अर्थात् हमारे घरों में पूर्ण वृद्धावस्था से पूर्व कोई भी व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। 'जरदष्टिं त्वा कृणोभि'=प्रभु ने मनुष्य को पूर्ण आयुष्य प्राप्त करनेवाला बनाया है। २. यह **रिप्रवाहः**=मलों व दोषों (रिप्र) को धारण करनेवाला (वह) **यमराज्यम्**=यम के राज्य को **गच्छतु**=जाए। **'आचार्यो मृत्युर्वरुणः'**=इस अथर्व-वाक्य के अनुसार आचार्य ही मृत्यु व यम है। यम=आचार्य उसे बड़े नियम में रक्खेगा। बालकों में 'स्वार्थ, जिद' इत्यादि की भावना बड़ी प्रबल होती है, शिक्षणालयों में उन्हें 'औरों के साथ मिलकर चलना', 'अपने को ही सबसे महत्त्वपूर्ण न समझना' इत्यादि भावनाओं की शिक्षा मिलती है। यहीं इन गुणों का विकास होता है और ये शिक्षित व सभ्य बनते हैं। ३. जहाँ हम चञ्चल बच्चों को आर्चायकुल में भेजते हैं, वहाँ यह भी चाहते हैं कि **अयम्**=यह **इतरः**=उस चञ्चल बच्चे से भिन्न, **देवेभ्यः**=आचार्यकुल में विद्वान् उपाध्यायों से **जातवेदाः**=उत्पन्न हुए-हुए ज्ञानवाला **इह एव**=यहाँ हमारे मध्य में ही, अर्थात् आचार्यकुल से शिक्षित हो समावृत होकर घरों में आये। ४. वह **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला ब्रह्मचारी **हव्यम्**=ग्रहण करने योग्य विज्ञान को **वहतु**=औरों तक ले-जानेवाला हो। यह लोगों में अपने प्राप्त किये हुए ज्ञान को फैलानेवाला हो।

भावार्थ—(क) हमारे घरों में कोई छोटी उम्र में न चला जाए, (ख) हमारा प्रत्येक बालक आर्चायकुल में शिक्षा प्राप्त करे (ग) विद्वान् उपाध्यायों से शिक्षित होकर वह यहाँ ही हो, अर्थात् घर का निर्माण करनेवाला हो, (घ) अपने जीवन के अन्तकाल में औरों में उस ज्ञान को फैलानेवाला बने।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**जातवेदाः**। छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

वपा (चरबी) पितरों के लिए

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके।
मेदसः कुल्याऽउप तान्त्स्रवन्तु सत्याऽएषामाशिषः सं नमन्ताᳪ स्वाहा॥२०॥

पिछले मन्त्र का 'दमन' एक सद्गृहस्थ बनता है। यह सद्गृहस्थ ही जीवन के अन्तकाल में आदित्य के समान ज्ञान के प्रकाश को फैलानेवाला देव=ज्ञान के प्रकाश से सभी को द्योतित करनेवाला होता है। इसके 'आदित्यदेव'='सूर्य के समान चमकनेवाला' बन सकने का रहस्य इस बात में है कि इसने आचार्यों की खूब सेवा की है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **जातवेदः**=ज्ञान को प्राप्त करनेवाले ब्रह्मचारिन्! तू **पितृभ्यः**=ज्ञान के दान द्वारा

रक्षा करनेवाले इन पितरों के लिए **वपाम्**=अपनी चरबी को दे डाल, उनकी सेवा में तेरी चरबी ढल जाए। **यत्र**=जहाँ कहीं भी **एनान्**=इनको **पराके**=विषयों से दूर देश में **निहितान्**=स्थित हुए हुओं को **वेत्थ**=तू जानता है वहाँ भी **तान् उप**=उनके समीप तेरी **मेदसः**=चरबी की **कुल्याः**=नहरें **स्रवन्तु**=बह पड़ें, अर्थात् तू विषयों से ऊपर उठे हुए विद्वान् आचार्यों की सेवा में अपने पसीने को बहानेवाला हो। पूर्ण परिश्रम से तू उनकी सेवा करनेवाला बन। इनकी सेवा में तेरी सारी चरबी इस प्रकार ढल जाए जैसेकि बर्फ पिघलकर नदी के रूप में बह चलती है। बर्फ जल के रूप में और तेरी चरबी पसीने के रूप में होकर आचार्य-चरणों में यह स्वेद-सरित्=पसीने की नदी बहने लगे और तब **एषाम्**=इस शुश्रूषा से प्रसन्न आचार्यों के **सत्याः आशिषः**=सच्चे आशीर्वचन **संनमन्ताम्**=तेरी ओर झुकें, तुझे प्राप्त हों। इन आशीर्वादों को प्राप्त करने के लिए तू **स्वाहा**=स्व का त्याग (हा) करनेवाला हो। स्वार्थ को छोड़कर, तन, मन व धन से आचार्यों की सेवा करनेवाला बनकर ही तो तू इन आशीर्वादों को प्राप्त कर सकेगा।

भावार्थ—विषयव्यावृत्त विद्वान् आचार्यों की सेवा में श्रम से हमारी चरबी ढल जाए और हम उनके सत्य आशीर्वादों के पात्र हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**पृथिवी**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**[क], **प्रजापत्यागायत्री**[र]। स्वरः—**षड्जः**।

उत्तम घर

[क]स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः। [र]अप नः शोशुचदघम्॥२१॥

'हमारा प्रारम्भिक जीवन 'विद्वान्, व्रती आचार्यों की सेवा में, उनके चरणों में बीते' यह गतमन्त्र का विषय था। यदि यही नियम व्यापकरूप धारण कर ले, सभी बालक आचार्य- चरणों में उत्तम शिक्षा प्राप्त करें तो यह पृथिवी सचमुच हमारे लिए पूर्ण सुखकर हो जाए। इसी मार्ग से चलनेवाला और परिणामतः मेधाबुद्धि की ओर चलनेवाला 'मेधातिथि' (अत्=निरन्तर चलना) कहता है कि १. **पृथिवि**=हे अत्यन्त विस्तारवाली भूमे! **नः**=हमारे लिए **स्योना**=सुख देनेवाली हो। वस्तुतः जिस राष्ट्र में, आचार्यकुलों में विद्यार्थियों का निर्माण होता है, उस राष्ट्र में उत्तम मनुष्यों का निवास होने से राष्ट्र फूला-फला व सुखमय होता है। २. हे पृथिवि! तू **अनृक्षरा**=मनुष्यों का नाश न करनेवाली हो (अ नृ क्षरा)। लोगों का परस्पर व्यवहार इतना सुन्दर हो कि लड़ाई-झगड़ों के कारण मनुष्यों में घात-पात न होते रहें। 'नृक्षर' काँटे को भी कहते हैं। तब 'अनृक्षरा' का अर्थ होगा 'कण्टकरहित'। निवासस्थान बननेवाली भूमि कण्टकरहित होनी चाहिए। ३. यह भूमि **निवेशनी**=हमें उत्तम निवेश देनेवाली हो, अर्थात् इसपर हमारे घर बड़ी सुन्दरता से बने हों। वे निवेशवाले (Spacious), खुली जगहवाले हों। ४. **सप्रथाः**=हे विस्तारवाली भूमे! तू **नः**=हमें **शर्म**=कल्याण **यच्छ**=प्राप्त करा। यहाँ पृथिवी की विशालता का ध्यान कराने का उद्देश्य यह है कि लोग मकानों को खुला बनाएँ, गलियाँ, बाजार तंग न हों। साथ ही कई मंजिलों के मकान बनाकर सूर्यकिरणों व वायु का सहज प्रवेश न होने देना भी स्वास्थ्य के लिए हानिकर ही है। पृथिवी बड़ी विशाल है, अतः मकान आदि को खुला ही बनाना ठीक है। ५. ऐसी स्थिति होने पर **अघम्**=पाप व उसकी परिणामभूत पीड़ा **नः**=हमसे **अप**= दूर होकर **शोशुचत्**=शोक करनेवाली हो, अर्थात् उसे हमारे राष्ट्र में कहीं रहने का स्थान प्राप्त न हो।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में लोग मेधातिथि=समझदार Sensible होते हैं, वे राष्ट्र को बड़ा सुखद बनाते हैं, उनमें परस्पर घात-पात नहीं होते रहते, उनके मकान विशाल होते हैं और खुले स्थानों में बने होते हैं। इन घरों में पाप व पीड़ा का प्रवेश नहीं होता।

ऋषिः—**आदित्या देवाः**। देवता—**पृथिवी**। छन्दः—**स्वराड्गायत्री** स्वरः—**षड्जः**।

स्वर्ग

अस्मात्त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा॥२२॥

इस अध्याय की समाप्ति पर कहते हैं कि **त्वम्**=तू **अस्मात्**=इस प्रभु से **अधिजातः**=प्रादुर्भूत **असि**=हुआ है। प्रभु ने तुझे यह शरीर दिया है। उसमें उन्नति के लिए विविध इन्द्रियाँ प्रभु ने तुझे प्राप्त कराई हैं। **पुनः**=अब फिर **अयम्**=यह प्रभु **तत्**=तुझसे **जायताम्**=प्रादुर्भूत किया जाए। प्रभु से तेरा प्रादुर्भाव हुआ है, तुझसे प्रभु का प्रादुर्भाव हो। जो व्यक्ति प्रभु का अपने हृदय में प्रादुर्भाव करने का प्रयत्न करता है उसकी वृत्ति सुन्दर बनती है इसमें कोई शक नहीं है। प्रभु की अनुभूति हुई और मानव-जीवन की सब मलिनता समाप्त हुई। **असौ**=यह प्रभु-अनुभव लेनेवाला व्यक्ति **स्वर्गाय लोकाय**=स्वर्गलोक के लिए समर्थ होता है। यह अपने ऐहिक निवास को सुखमय बना पाता है। इसी उद्देश्य से यह **'स्वाहा'**=(स्व+हा) स्वार्थ का त्याग करता है। जितना-जितना स्वार्थ का त्याग करता जाता है उतना-उतना यह स्वर्गमय जीवनवाला होता जाता है। जो पुरुष परमात्मा के प्रादुर्भाव का प्रयत्न करते हैं और स्वार्थ-त्यागवाले होते हैं उनका जीवन सुखमय हो जाता है। ये स्वर्ग में निवास करनेवाले 'आदित्यदेव' कहलाते हैं, ये उत्तमता व दिव्यता का आदान करते हुए सचमुच स्वर्ग-सुख के अधिकारी होते हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रभु की भावना को जागरित करें, स्वार्थ-त्यागवाले हों, जिससे स्वर्ग का निर्माण कर सकें।

इति पञ्चत्रिंशोऽध्यायः॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

—:0:—

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

चार व्रत

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये। वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ॥१॥

१. **वाचम्**=वाणी का आश्रय करके **ऋचम्**=ऋचाओं की, ऋग्वेद की **प्रपद्ये**=शरण में जाता हूँ। वाणी को ऋग्वेद के अर्पित करता हूँ। ऋग्वेद का स्वरूप 'मण्डल' व 'सूक्त' हैं। (क) मैं अपनी वाणी को शुभ ज्ञान से मण्डित करता हूँ और (ख) वाणी से सूक्तों को ही बोलता हूँ। यदि हम यह व्रत लेते हैं तो **वाग् ओजः**=वाणी का बल प्राप्त होता है। २. **मनः**=मन का आश्रय करके **यजुः**=यजुर्वेद की शरण में **प्रपद्ये**=जाता हूँ, अर्थात् मन को यज्ञों के प्रति अर्पित करता हूँ। मन को वश में करने का उपाय इसे यज्ञों में लगाये रखना ही है। यज्ञों में लगा हुआ मन वासनाओं में नहीं फँसता। यजुर्वेद अध्यायात्मक है। इसे सदा स्वाध्याय में लगाये रखना चाहिए। स्व-अध्याय=अपना अध्ययन करना नकि औरों की मीन-मेख निकालते रहना। ऐसा करने पर मनुष्य को अपने पर गर्व नहीं होता तथा औरों से घृणा नहीं होती। परस्पर प्रेम बढ़कर **सह ओजः**=एकता का बल बढ़ता है। परस्पर एक होकर हम शक्तिशाली हो जाते हैं। ३. **प्राणम्**=मैं अपने प्राण, जीवन का आश्रय करके **साम**=सामवेद, उपासना वेद की **प्रपद्ये**=शरण में जाता हूँ, जीवन को उपासनामय बना देता हूँ। मैं सदा प्रभु का स्मरण करता हूँ और कार्यों में लगा रहता हूँ। इस प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य करने से जहाँ मेरे कार्य पवित्र होते हैं वहाँ मैं शक्ति का अनुभव करता हूँ। प्रभुशक्ति मुझमें प्रवाहित होती है और **मयि प्राणः**=मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार हो जाता है। ४. **श्रोत्रम्**=कान का आश्रय करके **चक्षुः**=ज्ञान अथवा ब्रह्मवेद (अर्थववेद) की शरण में जाता हूँ। अथर्ववेद हमारे दृष्टिकोण को ठीक करता है, अतः उसका नाम ही 'चक्षुः' हो गया है। श्रोत्र से इसकी शरण में जाना, अर्थात् सदा ज्ञान-श्रवण में लगे रहना ही चौथा व्रत है। इस व्रत के धारण से **मयि अपानः**=मुझमें अपान, अर्थात् दोषों को दूर करने की शक्ति होगी। ज्ञान ही दोषों का निराकरण करके जीवन को पवित्र बनानेवाला है। इन चार व्रतों का सदा ध्यान करनेवाला 'दध्यङ्' है, अपने व्रतों पर स्थिर रहने से यह 'आथर्वण' है। यह 'दध्यङ् आथर्वण' निश्चल होकर प्रभु का ध्यान भी इसीलिए करता है कि इन व्रतों का पालन कर पाये।

भावार्थ—हमारे जीवन के चार व्रत हों १. वाणी को ज्ञानप्राप्ति में लगाये रखकर इससे मधुर शब्द ही बोलेंगे २. मन को सदा उत्तम कर्मों में लगाये रखकर कभी पराये दोषों को देखने में न लगाएँगे। ३. जीवन में प्रभु को कभी विस्मृत न करेंगे। ४. श्रोत्र से सदा ज्ञान का श्रवण करेंगे।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

दोषदहन—शान्तिप्राप्ति

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥२॥

१. **यत्**=जो **मे**=मेरा **चक्षुषः**=आँख का, **हृदयस्य**=हृदय का **मनसो वा**=या मन का **अतितृण्णम्**=बहुत फटा हुआ (बहुत त्रुटियुक्त) **छिद्रम्**=दोष है, **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे**=मेरे **तत्**=उस छेद को **दधातु**=भर दे। मेरे उस दोष को दूर करदे। 'मेरे दोष को दूर कर दे' इस प्रार्थना में कुछ स्वार्थ-सा लगता है, सभी के दोष क्यों दूर न हों—मेरे ही क्यों? परन्तु वस्तुतः यहाँ स्वार्थ नहीं है, हम दूसरों के दोषों की कल्पना ही क्यों करें। हमें तो अपने ही दोष देखने हैं। इन दोषों के दूर हो जाने पर जो कल्याण व शान्ति होगी उसकी प्राप्ति में स्वार्थ न होना चाहिए, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **भुवनस्य**=सारे संसार का **यः पतिः**=जो पालक है, वह प्रभु **नः**=हमें **शम् भवतु**=शान्ति व कल्याण का देनेवाला हो। २. पूर्वार्ध व उत्तरार्ध को मिलाकर देखा जाए तो कार्य-कारण के सिद्धान्त से स्पष्ट करते हैं कि (क) दोषों के दूर होने पर ही शान्ति होगी। (ख) दोष अपने-अपने दूर करो तभी सबका कल्याण हो सकेगा। औरों के दोष दूर करने पर ध्यान दिया तो परिणाम में अशान्ति-ही-अशान्ति होगी। वेद का यही तो सौन्दर्य है कि 'दोष अपने दूर करो, कल्याण सबका चाहो।' ३. दोष भी किसका 'आँख का, हृदय का व मन का।' यहाँ शरीर के व्याधिरूप दोष का उल्लेख नहीं हैं। (क) उसे तो एक सामान्य चिकित्सक भी दूर कर सकता है, (ख) आँख आदि का दोष न होने पर शरीर का दोष तो होगा ही नहीं। प्रभु हमारे आँख के दोष को दूर करें, मेरा दृष्टिकोण ठीक हो। ४. हृदय का दोष श्रद्धा का न होना व ग़लत श्रद्धा का होना है। श्रद्धा न होने पर तो जीवन बन ही नहीं सकता। **'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** जैसी श्रद्धा होती है वैसे ही हम बनते हैं। इस श्रद्धा का ठीक होना भी आवश्यक है। अन्धश्रद्धा से जीवन भी कुछ अन्ध-सा हो जाता है। ५. तीसरा मन का दोष है। यह मन अत्यन्त प्रबल है और बहकाकर प्रभु की आज्ञा तुड़वाता रहता है। इसको काबू करना अत्यन्त आवश्यक है। काबू हुआ-हुआ यह हमारे मोक्ष का कारण बनता है, और बेकाबू बन्ध का कारण होता है, अतः मन को निर्दोष रखने के लिए इसे कार्यों में लगाये रखना तथा प्रभु का चिन्तन करना ही साधन है। बुद्धि ही मनीषा है, मन की शासिका है। ६. हमारे सारे दोष दूर करेंगे बृहस्पति, ज्ञान के स्वामी प्रभु। दूसरे शब्दों में ज्ञान से ही दोषों का विनाश होगा, अतः हम निरन्तर ज्ञानवृद्धि में लगे रहें।

भावार्थ—हम सब अपने-अपने दोषों को दूर करने का ध्यान करें। यही सबके कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**दैवीबृहती**[क], **निचृद्गायत्री**[र]।
स्वरः—**मध्यम**[क], **षड्जः**[र]॥

नव-जीवन

[क]भूर्भुवः स्वः। [र]तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥३॥

१. 'मानव-जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिए' इसका निर्देश प्रभु ने इन तीन महाव्याहृतियों द्वारा किया है (क) **भूः**=(भू सत्तायाम् to be)=स्वास्थ्य, होना अर्थात्

'स्वस्थ' होना। 'अपने में स्थित न होना', यह बात न हो, अर्थात् 'अस्वस्थ' न हों। (ख) **भुवः**=ज्ञान (भुवो अवकल्कने, अवकल्कनम्=चिन्तनम्) ज्ञानी बनें। (ग) **स्वः**=स्वयं राजमानता, अपरतन्त्रता, अर्थात् जितेन्द्रियता। एवं, इन तीन शब्दों में मनुष्य जीवन का ध्येय इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है कि 'शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ बनो, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से ज्ञानी बनो तथा आत्मिक दृष्टिकोण से जितेन्द्रिय बनो। इन्द्र वही है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता हो। २. उल्लिखित ध्येय को प्राप्त करने के लिए हम सदा इस बात का ध्यान करें कि 'प्रभु के तेज को प्राप्त करना' ही हमारी रट हो, यही हमारा जप हो। इस तेज को प्राप्त करने के लिए मुझे अपना जीवन अधिकाधिक सुन्दर बनाना होगा, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **तत् सवितुः**=(तनु विस्तारे–तत्) उस विस्तृत, अनन्त विस्तारवाले सर्वव्यापक प्रभु के **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज परमात्मा के **वरेण्यम्**=वरने के योग्य श्रेष्ठ **भर्गः**=तेज का **धीमहि**=हम ध्यान करें, उसे ही अपनी आँखों के सामने रक्खें और धारण करने का प्रयत्न करें। किस प्रभु को? उस प्रभु को **यः**=जो **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=उत्कृष्ट प्रेरणा देता है। जिस व्यक्ति ने प्रभु के तेज को धरण करने का ही जप किया वह व्यक्ति सदा हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। ३. यह प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति सभी का मित्र होता है, यह 'विश्वामित्र' होता है। जिसका ध्यान प्रभु की ओर जाता है, वह सब-में प्रभु को देखता है। ४. यह मन्त्र वेदों का सारभूत मन्त्र समझा जाता है। प्रसिद्धि तो यह है कि ब्रह्मा ने वेदों का दोहन किया। ऋचाओं के दोहन से 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इस चरण का दोहन हुआ, यजुः मन्त्रों के दोहन का परिणाम 'भर्गो देवस्य धीमहि' है तथा साम-मन्त्रों का सार 'धियो यो नः प्रचोदयात्' निकाला।

नोट्–गायत्री मन्त्र वस्तुतः तीन प्रश्नों का उत्तर है–'क्या, क्यों, कैसे'?

प्रश्न : क्या करें? **उत्तर** : प्रभु के तेज का ही नित्य ध्यान करें।

प्रश्न : क्यों करें? **उत्तर** : देवस्य=देव और सवितु=सविता=ऐश्वर्यशाली बनने के लिए, वास्तविक ऐश्वर्य को पाने के लिए।

प्रश्न : कैसे करें? **उत्तर** : उस प्रभु से दी जा रही प्रेरणा को सुनें।

भावार्थ–हम प्रभु के तेज को अपने जीवन में धारण करें, जिससे प्रभु हमारी बुद्धियों को प्रेरित करते रहें।

ऋषिः–**वामदेवः**। देवता–**इन्द्रः**। छन्दः–**गायत्री**। स्वरः–**षड्जः**॥

वह सदा का साथी

कया नश्चित्रऽआभुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता ॥४॥

१. वे **सदावृधः**=सदा से बढ़े हुए **सखा**=जीव के मित्र **चित्रः**=अद्भुत शक्ति व ज्ञानवाले प्रभु **नः**=हमारे **ऊती**=कल्याणमय रक्षण के द्वारा **आभुवत्**=चारों ओर विद्यमान हैं। जब मैं प्रभु से आवृत हूँ, तब मुझे भय किस बात का? यह अभय प्राप्त उसी को होता है जो इस कल्याणमय रक्षण का अनुभव करता है। २. प्रभु **सदावृधः**=सदा जीव को बढ़ानेवाले हैं। 'फिर भी जीव क्यों नहीं बढ़ पाता?' इसका कारण यह है कि यह क्रोधादि से सड़ता रहता है। प्रभु तो हमें सदा बढ़ा रहे हैं, परन्तु ये द्वेष, घृणा व असन्तोष हमें पनपने नहीं देते। २. वे **सखा**=सदा साथ रहनेवाले हैं, परन्तु मुझे इस बात का ध्यान नहीं, अतः अपने को अकेला समझ घबरा जाता हूँ। ४. वे प्रभु **चित्रः**=ज्ञान देनेवाले हैं, ज्ञान देकर ही वे सब वस्तुओं को हमारे लिए कल्याणकर बना रहे हैं। ५. वे प्रभु **कया**=कल्याणकर

शचिष्ठया=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**=आवर्तन के द्वारा हमारे चारों ओर विद्यमान हैं (नः आभुवत्)। यह ऋतुओं का चक्र व दिन-रात का चक्र और इसी प्रकार अन्य सब चक्र हमारी शक्ति को बढ़ाने के लिए आवश्यक हैं। ६. इसलिए हमें यही चाहिए कि इस प्रभु के कल्याणमय आवर्तन से अपने शरीरों को सबल बनाते हुए उस प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करते हुए निर्भीक बनें। उस प्रभु की ज्ञानमयी रक्षा में दुर्गुणों से बचते हुए हम दिव्य गुणों का सदा अपने में समन्वय करें।

भावार्थ—मैं उस सदा के साथी, मेरी सतत वृद्धि के कारणभूत प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करूँ, जो प्रभु अत्यन्त शक्तिप्रद आवर्तन से मेरी रक्षा कर रहे हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

त्रिपुर-दहन व देव-मन्दिर-निर्माण

कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु॥५॥

१. हे जीव! **त्वा**=तुझे **कः**=आनन्दमय **सत्यः**=सत्यस्वरूप **मदानां मंहिष्ठः**=आनन्दों के सर्वाधिक दाता (मंहतेर्दानकर्मणः) प्रभु **अन्धसः**=इस आध्यायनीय सोम के द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करते हैं। इस सोम को वे तुझे इसलिए भी प्राप्त कराते हैं कि **दृढाचित्**=बड़े दृढ़ भी **वसु**=लोकों को **आरुजे**=छिन्न-भिन्न करने के लिए तू समर्थ हो सके। २. वे प्रभु आनन्दमय हैं। जीव आनन्द की उपलब्धि प्रभु के सम्पर्क में ही कर पाएगा, क्योंकि प्रकृति में स्वयं आनन्द नहीं, वह हमें कहाँ से आनन्द दे पाएगी। २. वे प्रभु सत्यस्वरूप हैं। पूर्ण सत्य प्रभु ही हैं। जीव के व्यवहार में कुछ-न-कुछ असत्य आ ही जाता है, अतः हममें परस्पर कमियों के लिए उपेक्षावृत्ति को अपनाने की क्षमता होनी ही चाहिए, औरों के दोष ही देखते रहने की वृत्ति से दूर ही रहना चाहिए। ४. प्रभु आनन्द देनेवाले हैं। हम पञ्चकोशों में रहते हैं और पञ्चकोशों में आनन्द उत्तरोत्तर अधिक-और-अधिक सुन्दर हैं। स्वास्थ्य का भी एक आनन्द है तो प्राणसाधना का आनन्द उससे अधिक है। शुद्ध मन के आनन्द की तुलना में वह भी अल्प हो जाता है तो विज्ञान का आनन्द मानस आनन्द को भी अभिभूत कर लेता है। सर्वत्र एकत्वदर्शन से होनेवाला आनन्दमयकोश का आनन्द तो सर्वाधिक सत्यता को लिये हुए है। ये सब आनन्द अध्यात्म आनन्द हैं। इनके अतिरिक्त बाह्य आनन्द भी अपने स्थान में बड़ें महत्त्वपूर्ण हैं। प्रभु ने खाने के लिए अद्भुत कन्दमूल तथा फल उपजाये हैं, सभी में एक विचित्र स्वाद है। परस्पर मिलकर बैठने में मित्रता का आनन्द आता है। धन की भी एक गर्मी व उत्साह होता ही है। ५. इन सब आनन्दों का अनुभव जीव तभी कर पाता है जब वह अपने में उत्पन्न होनेवाले इस अन्धस् की रक्षा करता है। यह अन्धस् अन्न का सप्तम स्थान में सार होने से कितना महत्त्वपूर्ण है। अन्न का सार रस, रस का रुधिर, रुधिर का मांस, मांस का अस्थि, अस्थि का मज्जा, मज्जा का मेदस् और मेदस् का यह अन्धस्=सोम=वीर्य सार है। एवं, यह कितना अधिक आध्यायनीय है? इस सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर ही स्वास्थ्य आदि के आनन्द का अनुभव कर पाते हैं। यही प्राणों को सबल बनाता है, मन को निर्मल और बुद्धि को तीव्र। इस सोम की रक्षा से ही अन्त में हम तीव्र बुद्धि द्वारा उस सोम (प्रभु) का दर्शन करते हैं और एकत्व के अनुभव से परम आनन्द Supreme bliss का अनुभव करते हैं। ६. इस सोम से ही हम असुरों के दृढ़ निवास-स्थानों को छिन्न-भिन्न कर पाते हैं। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि काम के निवास-स्थान हैं। काम इन तीन स्थानों में अपने किले बनता है और हमारा शिकार करता

है। सोम की रक्षा के द्वारा हम असुरों के इन किलों को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। इन किलों को तोड़कर ही देव-मन्दिर की स्थापना होती है। महादेव जी त्रिपुरारि हैं। हम भी असुरों के इन तीन पुरों को तोड़कर महादेव के समान उत्तम दिव्य गुणोंवाले 'वामदेव' बन पाएँगे। इस वामदेव का सर्वमहान् कार्य यही है कि त्रिपुर का ध्वंस करके उसके स्थान में देव-मन्दिर का निर्माण करता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें यह सोम दिया है, जिससे हम अपने जीवन में वास्तविक आनन्द का अनुभव कर पाएँ और इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आसुरवृत्तियों का अधिष्ठान न बनने दें।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सखा, जरिता, ऊतियुक्त

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतिभिः॥६॥

हे प्रभो! आप **अभि**=दोनों ओर **सु**=उत्तमता से **नः**=हम **सखीनाम्**=समान ख्यानवाले, समान ज्ञानवाले **जरितॄणाम्**=स्तोताओं का **शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त **ऊतिभिः**=क्रियाओं के द्वारा **अविता**=रक्षक **भवासि**=होते हैं। १. वे प्रभु रक्षक हैं। **अभि**=अन्दर और बहार दोनों स्थानों में वे प्रभु हमारी रक्षा कर रहे हैं। मातृगर्भ में भी उन्होंने किस सुन्दरता से हमारे निर्माण व धारण की व्यवस्था की और हमारे बाहर आने पर भी उस व्यवस्था में किसी प्रकार की कमी नहीं है। पहले मातृस्तनों से दूध मिल जाता है, फिर फल-मूल, कन्दों के रूप में सब भोजन प्राप्त हो जाता है। २. इस रक्षा की व्यवस्था से उत्तम व्यवस्था की कल्पना सम्भव नहीं है। सूर्यकिरणों से समुद्र जल का अन्तरिक्ष में पहुँचना और बादलों के रूप में होकर उसका फिर से पर्वत-शिखरों पर पहुँच जाना कितना महान् चमत्कार है! इस अद्भुत कार्य के द्वारा वे प्रभु कितनी उत्तमता से हमारे प्राणों की रक्षा कर रहे हैं। दिन-रात तथा ऋतुओं के चक्र द्वारा यह रक्षा कितनी उत्तमता से हो रही है। ३. प्रभु रक्षक हैं, परन्तु किनके? (क) **सखीनाम्**=समान ख्यान व ज्ञानवालों के। जो ज्ञानी बनते हैं, प्रभु के बनाये पदार्थ उन्हीं के लिए हितकर होते हैं। बिना ज्ञान के वे पदार्थ कल्याण के स्थान में अकल्याण के हेतु हो जाते हैं। ज्ञान विष को भी अमृत बना देता है तो अज्ञान अमृत को भी विष कर देता है। (ख) **जरितॄणाम्**=स्तोताओं की आप रक्षा करते हो। प्रभु का उपासक सदा जीवन के लक्ष्य को देखता है और इसी कारण उस लक्ष्य की ओर चलने से कल्याण प्राप्त करता है। लक्ष्यभ्रष्ट व्यक्ति का सारा जीवन असुरक्षित हो जाता है। (ग) प्रभु रक्षा तो करते हैं, परन्तु **ऊतिभिः**=क्रियाओं के द्वारा। यदि हम क्रियाशील होंगे तभी प्रभु की रक्षा के पात्र हो सकेंगे। अकर्मण्य व्यक्ति प्रभु की रक्षा का पात्र नहीं होता, एवं जो व्यक्ति अपने जीवन में 'ज्ञान, भक्ति व कर्म' का समन्वय करता है, वही रक्षा का पात्र होता है। प्रभु की रक्षा ज्ञानी, भक्त व कर्मशील को ही प्राप्त होती है। ४. **शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त। मनुष्य ने सौ वर्षों तक जीवन का सङ्कल्प करके ही चलना है और सदा कर्ममय जीवन बिताना है। वैदिक परिभाषा में **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ने सदा कर्ममय रहकर अपने 'शतक्रतु' नाम को सार्थक करना है। इस शतक्रतु के लिए प्रभु 'शतकृप' बने रहते हैं। सदा प्रभु की कृपा को प्राप्त करके यह अपने जीवन को पूर्ण सुरक्षित कर पाता है और आसुरवृत्तियों के आक्रमण से बचकर उत्तम दिव्य गुणोंवाला 'वामदेव' बनता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी, भक्त व क्रियामय जीवनवाले बनकर प्रभु-रक्षा के अधिकारी बनें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**वर्द्धमानागायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का प्रवेश व प्रसाद

कया त्वं नऽऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन्। कया स्तोतृभ्यऽआभर॥७॥

१. **वृषन्**=हे शक्तिशालिन्! हे सब सुखों के वर्षक प्रभो! जो निर्बल है वह तो दूसरे का कल्याण कर ही नहीं सकता। सबल होते हुए भी जिसे हमसे प्रेम नहीं वह हमारी सहायता नहीं करता। आप सबल भी हैं, जीव के प्रिय मित्र होने से सुखों की वर्षा करनेवाले भी। हे वृषन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **कया ऊत्या**=(अव्=प्रवेश) कल्याणकारक प्रवेश से **अभिप्रमन्दसे**=आनन्दित व हर्षित करते हो। जैसे एक छोटा बच्चा पिताजी के घर आने पर प्रसन्न होता है, इसी प्रकार प्रभुभक्त प्रभु के हृदय में प्रवेश करने पर आह्लाद का अनुभव करता है। २. प्रभु के प्रवेश से हममें दिव्यता का पोषण होता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **कया** (ऊत्या)=इस आनन्ददायक प्रवेश से और इसके द्वारा दिव्यांश के दोहन से **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **आभर**=दिव्यता को धारण कीजिए। आपके स्तोताओं का जीवन दिव्यता से भर जाए। स्तोता 'दध्यङ्' है, प्रभु का ध्यान करनेवाला है। यह सांसारिक विषयों के प्रति डाँवाँडोल मनोवृत्तिवाला न होने के कारण 'अथर्वण' है। यह 'दध्यङ्-आथर्वण' स्थिर मनोवृत्ति के कारण प्रकृति के पीछे नहीं भटकता, अतः प्रभु का ध्यान कर पाता है। इस ध्यान के परिणामरूप ही उसका जीवन अधिकाधिक दिव्यतावाला होता है। यह दिव्य जीवन वास्तविक प्रसाद व उल्लास को जन्म देता है।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें, जिससे प्रभु की दिव्यता को अपने में भरकर सदा उल्लासमय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**द्विपाद्विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

एकशासन—विश्वशान्ति व विश्वनागरिकता

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥८॥

१. **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान्, सब असुरों को दूर भगानेवाला प्रभु **विश्वस्य**=सारे ब्रह्माण्ड का तथा इस संसार में प्रविष्ट (विश्) सब प्राणियों का **राजति**=शासन व व्यवस्था करता है। जिस दिन हम प्रभु के अध्यात्मशासन का अनुभव करेंगे, उस दिन **नः**=हम **द्विपदे**= दो पाँवों से गति करनेवाले मनुष्यों के लिए **शम्**=शान्ति होगी तथा **चतुष्पदे** **शम्**=चौपयों, अर्थात् पशुओं के लिए भी शान्ति होगी। वस्तुतः इस अध्यात्मशासन में मनुष्यों के परस्पर संघर्ष का तो प्रश्न ही नहीं, पशुओं से उनका किसी प्रकार का द्वेष न होगा, अर्थात् सिंहादि पशु भी मनुष्य के साथ शान्ति से चलेंगे। वन्य न रहकर वे भी पालतू हो जाएँगे, चिड़िया घर की वस्तु हो जाएँगे। योगदर्शन का **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः'** यह सूत्र स्थूलरूप धारण करता हुआ दृष्टिगोचर होगा, २. परन्तु इस अध्यात्मराज्य को ला वही व्यक्ति सकता है जो 'दध्यङ्'=प्रभु का ध्यान करनेवाला है, जो 'आथर्वण'=स्थिरवृत्ति का होने से सभी को समान राज्य में रहनेवाला अपना साथी समझता है।

भावार्थ—हम उस ईश के साम्राज्य का सर्वत्र अनुभव करें और सब प्राणियों के साथ शान्ति से चलने की मनोवृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**मित्रादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

साधनसप्तक

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।

शन्नऽइन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥९॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को मित्रादि सात नामों से स्मरण करके शान्ति-प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। भिन्न-भिन्न नामों से शान्ति की प्रार्थना का स्वारस्य इसमें है कि इन नामों के द्वारा शान्ति-प्राप्ति के सात साधनों का वर्णन हुआ है। १. सबसे प्रथम साधन 'मित्रः' शब्द से सूचित हो रहा है। **मित्रः नः शम्**=मित्र नामक प्रभु हमें शान्ति देनेवाले हों। वस्तुतः जब हम परस्पर मित्रभाव से चलेंगे तभी शान्ति प्राप्त होगी। स्नेह के अभाव में शान्ति का प्रश्न ही नहीं। ईर्ष्या-द्वेष हमें सदा सन्तप्त किये रहते हैं। इनसे हम जलते रहते हैं। २. **वरुणः शम्**=वरुण हमें शान्ति दे। 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'=श्रेष्ठ बनना ही शान्ति देनेवाला है। श्रेष्ठ वह है जो न दबता है, न दबाता है, न खुशामद करता है, न कराता है। कभी बदले की भावना से आन्दोलित नहीं होता। ३. **अर्यमा नः शम् भवतु**=अर्यमा हमें शान्ति दे। 'आर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'=अर्यमा देनेवाला है। प्रभु निरपेक्ष (Absolute) अर्यमा है। हम भी देने की वृत्तिवाले बनें, हमारे जीवनों में भी शान्ति होगी। दान हमें धन के बन्धन से ऊपर उठा शान्ति प्राप्त कराता है। ४. **इन्द्रः नः शम्**=इन्द्र नामक प्रभु हमें शान्ति दे। इन्द्र बनकर हम भी शान्ति-लाभ कर सकेंगे। इन्द्र असुरों का संहार करनेवाला है। आसुरवृत्तियों का संहार करके ही हम शान्ति का अनुभव कर सकते हैं। इन्द्र वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। यही शान्त होता है, इन्द्रियों का गुलाम वासना-समुद्र में डूब जाता है। ५. **बृहस्पतिः नः शम्**=बृहस्पति हमें शान्ति दे। बृहस्पति 'ब्रह्मणस्पति' है, वेदज्ञान का स्वामी है। ज्ञान के अनुपात में ही हमारे जीवन शान्त होते हैं। ६. **विष्णुः नः शम्**=विष्णु हमें शान्ति दे। 'विष् व्याप्तौ' से बना हुआ विष्णु शब्द व्यापक मनोवृत्ति का संकेत कर रहा है। जितना हमारा हृदय विशाल होगा उतना ही शान्त होगा। संकुचित हृदय औरों के उत्कर्ष को देखकर जला करता है, उसमें शान्ति का अवकाश नहीं। ७. **उरुक्रमः**=(क) महान् पराक्रमवाला प्रभु हमें शान्ति दे। अकर्मण्य व्यक्ति के जीवन में मालिन्य भर जाता है और वह शान्त नहीं हो पाता (ख) 'उरुक्रम' का अर्थ महान् व्यवस्थावाला भी है। व्यवस्थित जीवन सदा शान्त होता है। घर में वस्तुएँ अव्यवस्थित-सी पड़ी हों तो उठने-बैठने को भी जी नहीं करता। नियम या व्यवस्था शान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

भावार्थ—मित्रादि सात साधनों से सच्ची शान्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**वातादयः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वायु, सूर्य व पर्जन्य

शन्नो वातः पवताᳩं शन्नस्तपतु सूर्यः।

शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु॥१०॥

नः=हमारे लिए **वातः**=वायु **शम्**=शान्तिकर होकर **पवताम्**=बहे, **नः**=हमारे लिए **सूर्यः**=सूर्य **शम्**=शान्तिवाला होकर **तपतु**=तपे। **नः**=हमारे लिए **कनिक्रदत्**=गर्जना करता हुआ **देवः**=दिव्य गुणोंवाला **पर्जन्यः**=बादल **शम्**=शान्तिवाला होता हुआ **अभिवर्षतु**=बरसे। मन्त्र में उल्लिखित शब्दों के द्वारा संसार की सर्वमहान् घटना का उल्लेख हुआ है।

घटनाचक्र का नाम ही संसार है। प्रत्येक घटना अपना-अपना महत्त्व रखती है। सर्वमहान् घटना यह वर्षण की घटना ही है। इसमें त्रिलोकी के तीनों लोक ही भाग लेते हैं। द्युलोक का सूर्य तपता है और इस ताप से पृथिवीलोक के जल का वाष्पीकरण होता है। यह वाष्पीभूत जल अन्तरिक्ष में घनीभूत होकर बादल के रूप में परिणत होकर पर्वत-शिखरों पर वर्षता है। इस प्रकार समुद्र का जल पर्वत-मस्तक पर पहुँच जाता है और वहाँ से प्रवाहित होकर नदियों के रूप में फिर से समुद्र की ओर जाना प्रारम्भ होता है। एवं, एक चक्र की स्थापना होती है। समुद्र का जल फिर समुद्र में आ मिलता है। यदि यह घटना न होती तो इस भूमण्डल पर जीवन सम्भव न रहता। ये ही देवता अध्यात्म में भी भिन्न-भिन्न रूपों से कार्य कर रहे हैं। वायु अध्यात्म में प्राण है। इस प्राण की साधना के लिए प्राणायाम का विधान है। **'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'**=प्राणायास से क्या शरीर, क्या मन व क्या बुद्धि सभी के दोष दग्ध हो जाते हैं। ये दोष दग्ध होकर शरीर स्वस्थ हो जाता है, मन प्रसन्न व बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्माति-सूक्ष्म विषयों का ग्रहण करने में समर्थ हो जाती हैं। एवं, शरीर में वायु का महत्त्व है ही। सूर्य शरीर में चक्षुरूप से रह रहा है। इस चक्षु को निर्दोष रखने के लिए भी प्राणसाधना आवश्यक ही है। ज्ञान-सूर्य का उदय होने पर हृदयान्तरिक्ष में करुणा का मेघ उठता है। ज्ञानी का हृदय अवश्य ही करुणापूर्ण होता है। यह परातृप्ति की जनक होने से सचमुच 'पर्जन्य' है। इसे 'कनिक्रदत्' इसलिए कहा गया है कि दयार्द्र हृदय में ही प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है, पाषाण हृदय में प्रभु की गर्जना नहीं सुन पड़ती। एवं, हम प्राणसाधना को महत्त्व दें। इससे हमारी ज्ञानचक्षु भी खुलेगी और हृदय में दया के मेघ की भी उत्पत्ति होगी। कितना दिव्य व शान्त होगा उस दिन हमारा जीवन!

भावार्थ—वशीभूत प्राण, देदीप्यमान ज्ञानचक्षु तथा हृदयस्थ करुणा की भावना हमें शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

चातुर्वर्ण्यम्

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु॒ नः॒ शꣳरात्री॒ः प्रति॑धीयताम्।
शन्न॑ऽइन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भि॒ः शन्न॒ऽइन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या।
शन्न॑ऽइन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑साता॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सुवि॒ताय॒ शंयोः॥११॥

१. **अहानि**=दिन **नः**=हमारे लिए **शम् भवन्तु**=शान्तिकारक हों। **रात्रीः**=रात्रियाँ **शम्**=शान्तिकारक होकर **प्रतिधीयताम्**=धारण की जाएँ। दिन और रात दोनों हमारे लिए शान्तिकर हों। दिन 'अहन्' है, अ+हन्=न नष्ट करने योग्य है। दिन का एक-एक क्षण हमारे लिए क्रियामय होना चाहिए। रात्रि 'रमयित्री' है, आराम देनेवाली है। 'दिन में कार्य, रात्रि को आराम' यह हमारा जीवनसूत्र होना चाहिए तभी हमारा स्वास्थ्य ठीक रहकर जीवन शान्त होगा। २. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि **अवोभिः** (अव्=दीप्ति) ज्ञान की दीप्तियों से **नः**=हमारे लिए **शम् भवताम्**=शान्ति देनेवाले हों। **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण **रातहव्या**=हव्यों को, आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होकर **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति दें। **इन्द्रापूषणा**=इन्द्र और पूषा **वाजसातौ**=अन्न-प्राप्ति के निमित्त **नः शम्**=हमें शान्ति दें। **इन्द्रासोमा**=इन्द्र और सोम **सुविताय**=(सु इताय) सुगमता से कार्य सञ्चालन के

लिए होकर **शम्**=शान्ति दें और **शंयो:**=हमारे जीवनों में शान्ति हो तथा भयों का यावन, दूरीकरण हो। ३. उल्लिखित मन्त्रार्थ में **'अग्नि'** ब्राह्मण है। समाज व राष्ट्र में यह ज्ञान की दीप्ति को फैलाता है और इस प्रकार सामाजिक शान्ति का कारण बनता है। यह ज्ञान मनुष्यों को मिलकर चलना सिखाता है, ४. **'वरुण'**=क्षत्रिय हैं, राजपुरुष हैं, राजा की रक्षा के लिए इनका वरण होता है और ये प्रजाओं का उत्पथ पर जाने से निवारण करते हैं। वरण किये जाने व निवारण करने से ही ये 'वरुण' कहलाते हैं। इनका मुख्य कार्य यह होता है कि ये राष्ट्र में इस प्रकार की व्यवस्था करें कि प्रत्येक व्यक्ति को हव्य-पदार्थ प्राप्त होते रहें। शरीर-रक्षा के लिए जिन पदार्थों की आहुति देनी आवश्यक है वे 'हव्य' हैं। ५. **'पूषन्'**=वैश्य हैं ये **वाजसाति**=अन्न प्राप्त करानेवाले हैं। 'कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य' ये वैश्यों का व्यापार है। अन्न का उत्पादन इन्होंने ही कराना है। गोरक्षा और अन्न को मण्डियों में पहुँचाना—ये सब वैश्यों के कार्य हैं। इनमें कमी आते ही सारे राष्ट्र में अशान्ति छा जाती है। ६. इसके बाद **'सोम'** शूद्र हैं। ये अत्यन्त विनीत होकर 'ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों' के लिए उनके कार्यों में सहायक होते हैं। इनके बिना कोई भी कार्य सुगमता से नहीं चलता। इन्हीं शूद्रों में मेहतर भी हैं, जिनके कार्य के अभाव में मल-दुर्गन्ध व रोगकृमियों की वृद्धि होकर बीमारियों का प्रकोप हो जाता है। एवं, ये सोम **यो:**=रोगों को दूर करने में सहायक होते हैं। ७. इन 'अग्नि, वरुण, पूषन् व सोम' के साथ 'इन्द्र' शब्द जुड़ा हुआ है। यह राजा व राजशक्ति का वाचक है। यह अग्नि इत्यादि अपना-अपना कार्य तभी कर सकते हैं जबकि इनमें राजशक्ति कार्य करे। राजशक्ति के बिना 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' कोई भी कार्य नहीं कर सकता। राजशक्ति के द्वारा ही शिक्षणालय, प्रबन्ध, कृषि, व्यापार व श्रम आदि सब ठीक चलते हैं और सर्वत्र शान्ति का प्रसार होता है।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में ब्राह्मणादि अपने-अपने कार्यों को राजव्यवस्था द्वारा ठीक-ठीक करनेवाले हों, जिससे सर्वत्र शान्ति का विस्तार हो। लोगों के जीवन का सूत्र 'दिन में कार्य व रात में आराम हो'।

ऋषि:—**दध्यङ्ङाथर्वण:**। देवता—**आप:**। छन्द:—**गायत्री**। स्वर:—**षड्ज:**।

जल व स्वास्थ्य

शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शँयोर॒भिस्र॑वन्तु न:॥१२॥

१. **आप:** शब्द सर्वव्यापक (आप्=व्याप्तौ) प्रभु के लिए भी प्रयुक्त होता है। ये दिव्य गुणोंवाले प्रभु (देवी:) **न:**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले **अभिष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिए तथा **पतिये**=रक्षा के लिए **भवन्तु**=हों। ये प्रभु **शंयो:**=शान्ति देनेवाले तथा मलों को दूर करनेवाले **न:**=हमारे **अभि** =दोनों ओर अन्दर व बाहर **स्रवन्तु**=गतिवाले हों। इस प्रकार मन्त्र का यह अर्थ प्रभुपरक है। जब **'आप:'** शब्द जलवाचक होकर प्रयुक्त होता है तब मन्त्रार्थ निम्न प्रकार से होता है। २. **देवी: आप:**=दिव्य गुणोंवाले जल **न:**=हमें **शम्**=शान्ति देनेवाल हों। **अभिष्टये**=रोगों पर आक्रमण के लिए और **पीतये**=रक्षा के लिए **भवन्तु**=हों। **शंयो:**=शान्ति को देनेवाले तथा रोगों को दूर करनेवाले ये जल **न:**=हमारे **अभि**=अन्दर व बाहर **स्रवन्तु**=बहें। ३. जलों के अन्दर अद्भुत दिव्यगुण हैं। ये सब रोगों को दूर करनेवाले हैं। **'आप: सर्वस्य मेषजी:'**=जल सब रोगों के औषध हैं। **'अप्सु मे सोमो अब्रवीत्, अन्त: विश्वानि भेषजा'**=मुझे सोम ने यह बतलाया है कि जलों में सब औषध हैं। जलों का नाम ही 'भेषजम्' है। ये वारि हैं **निवारयन्ति रोगान्**=रोगों को दूर करते हैं। ४. ये जल

आपः=व्यापक हैं। प्रत्येक पदार्थ में इनकी सत्ता है। प्राण के साथ इनकी सत्ता अनिवार्य है। प्राण अपोमय ही हैं। ५. ये रोगों पर आक्रमण के लिए होकर हमारी मृत्यु से रक्षा करते हैं। जल के प्रयोग से जलचिकित्सक रोगमात्र को दूर कर देता है। ६. इनका अन्दर व बाहर प्रयोग हमारे लिए शान्तिकर हो। 'अन्दर के लिए गरम व बाहर के लिए ठण्डा' यह सामान्य नियम है, जिसकी सामान्यतः मनुष्य सदा अवहेलना करता है, हम पीने में बर्फ का प्रयोग करते हैं, स्नान के लिए पानी को गरम करते हैं। ये दोनों ही बातें हानिकर हैं।

भावार्थ—जलों के ठीक प्रयोग से हम स्वस्थ बनकर शान्ति-लाभ करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**पृथिवी**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

खुले मकान, खुले कमरे, सुखदा पृथिवीमाता

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः॥१३॥

१. हे **पृथिवि**=विस्तारवाली भूमिमातः! **नः**=हमारे लिए **स्योना**=सुखदा **भव**=हो। यहाँ 'प्रथ विस्तारे' धातु से बने 'पृथिवी' शब्द का प्रयोग संकेत कर रहा है कि जितना विस्तृत व खुला हमारा निवासस्थान होगा उतना ही वह हमारे स्वास्थ्य आदि के लिए हितकर होगा। २. हे पृथिवि! तू **अनृक्षरा**=(ऋक्षर=कण्टक) कण्टकरहित हो। हमारे ग्रामों के मार्ग कण्टकादि की बाधा से रहित होने ही चाहिएँ तथा 'अनृक्षरा'=यह पृथिवी मनुष्यों का विनाश करनेवाली न हो। (क) विषम गर्तों से युक्त प्रदेश पानी के खड़े हो जाने से व मच्छरों की उत्पादक भूमियाँ बन जाने से स्वास्थ्य के लिए कभी हितकर नहीं हो सकता। (ख) वृक्षों की कमीवाला प्रदेश भी अम्लजन की मात्रा की कमी के कारण स्वास्थ्यप्रद नहीं होता। (ग) किसी ग्राम में टी०बी० के अधिक बीमारों के कारण यह बीमारी औरों को भी दबा सकती है, वह स्थान मनुष्यों का नाशक होने से रहने योग्य नहीं रहता। ३. **निवेशनी**=हे पृथिवि! तू विशाल निवासोंवाली हो। मकानों के कमरों का खुला होना भी आवश्यक है। छोटे-छोटे कमरे हमारे स्वास्थ्य को ही ख़राब नहीं करते ये हमारे दिलों को भी छोटा बनाते हैं। ४. **सप्रथाः**=अत्यन्त विस्तार-सहित भूमिमातः! तू **नः**=हमारे लिए **शर्म**=सुख **यच्छ**=दे। यह खुलापन स्वास्थ्य के लिए हितकर होकर हमें सुखी बनाता है। तङ्ग स्थानों में सूर्यकिरणों का प्रवेश न होने से बीमारियों का प्रवेश हो जाता है। स्वास्थ्यप्रद वायु भी उन मकानों को पवित्र नहीं कर पाती। ५. यहाँ प्रारम्भ में 'पृथिवी' शब्द है और समाप्ति पर 'सप्रथाः'। एवं, सर्व महत्त्वपूर्ण बात तो विस्तार की है। ये शब्द यदि मकानों के खुले-खुले बने होने का संकेत कर रहे हैं तो 'निवेशनी' शब्द मकान के कमरों के भी खुलेपन पर बल दे रहा है। इन खुले मकानों में ही मस्तिष्क का ठीक विकास होता है और मनुष्य बुद्धि को बढ़ाता हुआ अपने 'मेधातिथि' नाम को सार्थक करता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हमारे मकान खुले-खुले स्थानों में हो। मकानों के कमरे भी बड़े खुले-खुले हों।

नोट—वेद में ग्रामों का उल्लेख है, बड़े-बड़े नगर वेद को प्रिय नहीं। खुलापन ग्राम-सभ्यता में अधिक सम्भव है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

कल्याणकर जल

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥१४॥

१. **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=(मी हिंसायाम्) रोगों के नाश के द्वारा कल्याण करनेवाले **ष्ठाः** (स्था)=हैं। जल रोगों को दूर करके कल्याण प्राप्त कराते हैं। **ताः**=वे जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=(ऊर्ज् बलप्राणनयोः) बल और प्राणशक्ति के लिए **दधातन**=धारण करें। इन जलों से हमारा बल तो बढ़ता ही है, प्राणशक्ति की भी वृद्धि होती है। वस्तुतः 'आपोमयाः प्राणाः'=प्राण तो हैं ही जलरूप। 'आपः रेतो भूत्वा'=जल ही रेतस् रूप से शरीर में रहते हैं। ३. **महे**=ये जल **महस्**=तेज के लिए हमें धारित करें। जल नीरोगता के द्वारा हमें तेजस्वी बनाते हैं अथवा **मह**=महत्त्व के लिए, भार के लिए धारण करें। जल से शरीर पतला-दुबला न रहकर उचित स्थूलता को प्राप्त करता है। ४. **रणाय**=(रमणीयतायै) जल हमें नीरोग बनाते हैं, तेजस्वी बनाते हैं, इस प्रकार ये जल हमें रमणीयता के लिए धारण करते हैं। इनसे हमें स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्राप्त होता है। 'रणाय' शब्द 'रण शब्दे' धातु से बनकर इस भावना को भी व्यक्त करता है कि ये जल हमारी वाणी की शक्ति को बढ़ाते हैं। इनके उचित प्रयोग से संभवतः गूँगेपन की चिकित्सा भी सम्भव हो। ५. **चक्षसे**=ये जल हमें दृष्टिशक्ति के लिए धारण करें। 'जल आँखों की शक्ति को बढ़ाते हैं' इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। शुद्ध जल से परिपूर्ण बालटी में आधे सिर को डालकर आँखों को उसमें खोलने से दृष्टिशक्ति की निश्चय से वृद्धि होती है।

भावार्थ—जल नीरोगता, बल व प्राणशक्ति, महत्त्व, रमणीयता व वाक्शक्ति तथा दृष्टिशक्ति को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

जल-रस-सेवन—पीने का प्रकार

यो वः॑ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑। उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑॥१५॥

१. इन मन्त्रों के ऋषि 'सिन्धुद्वीप' हैं। 'स्यन्दन्ते इति सिन्धवः'=बहने से जल 'सिन्धु' हैं। ये जल जिसके अन्दर व बाहर उपयुक्त हुए हैं, वह 'द्विर्गता आपो यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से 'द्वीप' है। यह सिन्धुद्वीप कहता है कि हे जलो! **यः**=जो **वः**=आपका **शिवतमः रसः**=अत्यन्त कल्याणकर रस है **तस्य**=उसका **नः**=हमें **इह**=इस मानव-शरीर में **भाजयत**=सेवन कराइए। उसी प्रकार **इव**=जैसे **उशती**=हित चाहती हुई **मातरः**=माताएँ बच्चे को दूध का सेवन कराती हैं। २. जल हमारे लिए उसी प्रकार हितकर हैं जैसे बच्चे के लिए माता। बच्चा जिस प्रकार मातृस्तन से दुग्ध का धीमे-धीमे पान करता है, इसी प्रकार हमें धीमे-धीमे जल का रस लेना है। ३. जैसे हाथी तो गन्ना खा जाता है, परन्तु मनुष्य गन्ने का रस लेता है इसी प्रकार हमें जल नहीं पी जाना अपितु जल का रस लेना है। 'कुल्ला करते जाएँ', थोड़ा-थोड़ा पानी अपने आप अन्दर जाएगा। यह जल के रस को लेना है। एकदम गिलास-का-गिलास पेट में नहीं उलट देना। बाहर भी वस्तुतः स्पञ्जिंग के ढंग से पानी का रस लेना है, बालटियाँ नहीं उलटाते चलना। हम सन्तरा नहीं खा जाते, उसका रस ही लेते हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में जल के रस के सेवन का विधान है। जल को सदा धीमे-धीमे पीना ही हितकर है, इसी को आचमन करना कहते हैं, sipping न कि Drinking। आचमन के रूप में पिया हुआ जल रोगों का आचमन (चमु भक्षणे) कर जाता है। यह रस हमें नीरोगता व दीर्घायु प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम सदा जलों का सेवन आचमनरूप से करते हुए उनके रस का ग्रहण करें।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

विकास व बन्ध्यत्व-निवृत्ति

तस्मा॒ऽअरं॑गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ। आपो॑ ज॒नय॑था च नः॥१६॥

१. **वः तस्मा** (तस्मै)=हे जलो! आपके उस रस को हम **अरम्**=पर्याप्त रूप से **गमाम**=प्राप्त हों, **यस्य**=जिस रस के कारण (यस्य हेतोः) आप हमें **क्षयाय**=(क्षि=निवासगत्योः) निवास व गति के लिए **जिन्वथ**=प्रीणित करते हो, बढ़ाते हो। जलों में एक रस है, रस ही जलों का गुण है। यह रस रोगों को नष्ट कर शरीर में हमारे निवास को उत्तम बनाता है और हममें स्फूर्ति का सञ्चार करता है। हम नीरोग व बड़े क्रियाशील बने रहते हैं। २. **आपः**=हे जलो! आप **नः**=हमें **जनयथा च**=सब प्रकार से आविर्भूत, विकसित करते हो। आपके प्रयोग से हमारी सब शक्तियों का ठीक विकास होता है। 'जनयथा' शब्द का संकुचित अर्थ यह है कि जननशक्ति से युक्त करते हो। ये जल बन्ध्या को अबन्ध्या बना देते हैं। जैसे ये मरुभूमि को उर्वरा बना देते हैं, उसी प्रकार ये पुरुष व नारी को भी अबन्ध्यता प्राप्त कराते हैं। इनके शास्त्र-विहित प्रयोग से बन्ध्यात्व नष्ट हो जाता है। ये जल अन्य सब शक्तियों का विकास करते हुए बन्ध्यापन को भी दूर करनेवाले हैं।

भावार्थ—इस जल-रस सेवन से हम उत्तम निवासवाले हों, गतिशील हों और हमारी सब शक्तियों का विकास होकर हमारा बन्ध्यापन दूर हो।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

शान्ति-पाठ

द्यौः शान्ति॑र॒न्तरि॑क्ष॒ꣳ शान्तिः॑ पृ॒थि॒वी शान्ति॒राप॒: शान्ति॒रोष॑धय॒: शान्तिः॑। वन॒स्पत॑य॒: शान्ति॒र्विश्वे॑ दे॒वाः शान्ति॒र्ब्रह्म॒ शान्ति॒: सर्व॒ꣳ शान्ति॒: शान्ति॑रे॒व शान्ति॒: सा मा॒ शान्ति॑रेधि॥१७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र 'शान्ति-पाठ' का मन्त्र कहलाता है। सब यज्ञ-कार्यों की समाप्ति पर इस मन्त्र का पाठ किया जाता है। प्रारम्भ में लोकत्रयी से शान्ति की याचना इस प्रकार है—**द्यौः शान्तिः**=द्युलोक शान्ति देनेवाला हो, **अन्तरिक्षम् शान्तिः**=अन्तरिक्ष शान्ति दे और **पृथिवी शान्तिः**=पृथिवीलोक शान्ति प्राप्त कराए। तीनों ही लोक हमारे साथ शान्ति में हो, हमारी इनसे प्रतिकूलता न हो। द्युलोक का सूर्य शान्ति-कर होकर तपे, अन्तरिक्षलोक का पर्जन्य अतिवृष्टि व अनावृष्टि का कारण न बनता हुआ हमें शान्ति दे और यह दृढ़ पृथिवीलोक हमारा धारण करनेवाला हो। अध्यात्म में ये ही तीनों लोक क्रमशः मस्तिष्क, हृदय व शरीर हैं। हमारा मस्तिष्क ज्ञान के सूर्य से चमकता हुआ हमें शान्ति दे, हमारा हृदय करुणा के पर्जन्य से युक्त हुआ-हुआ हमारे स्वभाव को शान्त बनाये तथा यह हमारा पृथिवीरूप शरीर अत्यन्त दृढ़ हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि सच्ची शान्ति के लिए दीप्तमस्तिष्क, करुणाद्र चित्त तथा दृढ़ शरीर की आवश्कयता है। २. **आपः शान्तिः**=जल हमें शान्ति दें। इस पृथिवी पर सर्वप्रथम तत्त्व जल ही है। ये नीरोगता के द्वारा हमें शान्ति देनेवाले हैं। ये जल ही शरीर में 'आपो रेतो भूत्वा'=वीर्यशक्ति के रूप में रहते हैं। यह वीर्य सब रोगों को कम्पित कर, दूर भगाकर हमें शान्ति प्राप्त कराता है। सौम्य भोजनों से उत्पन्न यह सोम सचमुच ही हमें 'सौम्य' बनाता है। ३. इन जलों से ओषधि-वनस्पतियों का जन्म होता है, अतः कहते हैं कि **ओषधयः**=ओषधियाँ **शान्तिः**=शान्ति दें। **वनस्पतयः शान्तिः**=

वनस्पतियाँ शान्ति दें। ओषधि व वनस्पति में यह अन्तर है कि ओषधियाँ फलपाकान्त होती हैं जबकि वनस्पतियाँ अगले-अगले वर्षों में भी फल देती हैं। सब अन्न ओषधि हैं और शाक-फल 'वनस्पति' हैं। अन्न ओषधि की भाँति ही प्रयुक्त होगा तो क्यों शान्ति न देगा? अन्न को क्षुधा-रोग का औषध समझना, तब यह औषधवत् मात्रा में प्रयुक्त हुआ-हुआ कल्याण ही करेगा। वनस्पतियाँ भी (वन=शरीर, पति=रक्षक) शरीर की रक्षक हैं। शरीर की रक्षा के उद्देश्य से ही इनका सेवन होना चाहिए। ओषधियाँ, वनस्पतियाँ अध्यात्म में 'लोम' हैं, ये लोम शरीर के रक्षक हैं। नासिका छिद्र के बाल श्वास के साथ धूल आदि को अन्दर नहीं जाने देते, एवं ये लोम शरीर की शान्ति के कारण बनते हैं। ४. **विश्वेदेवाः शान्तिः**=प्रकृति के ये सभी देव मुझे शान्ति देनेवाले हों, परन्तु ये शान्ति देनेवाले तभी होंगे जब मुझे इनका ज्ञान होगा, अतः अगली प्रार्थना करते हैं—**ब्रह्म शान्तिः**=ज्ञान मुझे शान्ति दे। जिस पदार्थ के गुण-धर्म का ज्ञान नहीं होता वही हानिप्रद हो जाता है। प्रायः उसका ग़लत प्रयोग हो जाता है? इस ज्ञान को प्राप्त कर **सर्वम् शान्तिः**=सब पदार्थ हमें शान्ति देनेवाले हों। ५. **शान्तिः एव शान्तिः**=शान्ति भी शान्ति ही हो। कहीं मेरी शान्ति अशान्ति का कारण न बन जाए। वस्तुतः शान्ति के लिए शरीर का अत्यन्त अशान्त, अर्थात् क्रियाशील होना आवश्यक है। सामने आग लगी हो और मैं शान्त बैठा हुआ हाथ-पैर न हिलाऊँ तो ऐसी शान्ति महान् अनर्थ का हेतु बन अशान्ति को ही पैदा करेगी। मेरे सामने कोई मेरे पिताजी से दुर्व्यहार करता है और मैं शान्त बैठा रहूँ, यह शान्ति मुझे पापभाक् बनाकर अशान्त ही करेगी। 'शरीर अधिक-से-अधिक अशान्त और मन पूर्ण शान्त' ऐसी शान्ति तो शान्ति है, परन्तु जिसमें 'शरीर शान्त है और मन अशान्त' वह शान्ति का आभास है, शान्ति नहीं। **सा शान्तिः**=वह सच्ची शान्ति **मा**=मुझे **एधि**=प्राप्त हो ६. इस प्रकार शान्त वातावरण में निवासवाला व्यक्ति ही ध्यान लगा सकता है और 'दध्यङ्' नामवाला बनता है। इसका मन विह्वल व डाँवाँडोल नहीं, अतः यह 'आथर्वण' है।

भावार्थ—सब प्राकृतिक देव मेरे अनुकूल हों, वे मेरे साथ शान्ति में हों। उनके ठीक ज्ञान से मेरा उनके साथ सम्बन्ध मधुर हो। मैं उनके प्रति आसक्त न होकर सदा उनका ठीक उपयोग करूँ।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

मित्र-दृष्टि

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥१८॥

१. **दृते**=हे विदारण करनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **दृंह**=दृढ़ बनाइए। किसी भी वस्तु को दृढ़ बनाने का प्रकार यही है कि उसकी कमियों का विदारण कर दिया जाए। हे प्रभो! आप मुझे भी, मेरी कमियों का विदारण करके दृढ़ बनाइए। जब कमियों को दूर करके हमारा जीवन कुछ अच्छा बनता है तब हम चाहते हैं कि—२. **सर्वाणि भूतानि**=सब भूत **मा**=मुझे **मित्रस्य चक्षुषा**=स्नेह की दृष्टि से **समीक्षन्ताम्**=देखें। ३. धीमे-धीमे इस इच्छावाला व्यक्ति यह अनुभव करता है कि मेरी यह इच्छा तभी पूर्ण होगी जब **'अहम्'**=मैं **सर्वाणि भूतानि**=सब भूतों को **मित्रस्य**=मित्र की **चक्षुषा**=आँख से **समीक्षे**=देखूँगा। प्रेम पारस्परिक है, मैं प्रेम से देखूँगा तो लोग भी मुझे प्रेम से देखने लगेंगे और यह अनुभव करेंगे कि कल्याण तभी होगा जब हम **मित्रस्य**=मित्र की **चक्षुषा**=दृष्टि से **समीक्षामहे**=देखेंगे। 'सभी

प्रेम से देखने लगें' समाज का कल्याण इसी में है। मानव-समाज की सबसे बड़ी कमी परस्पर स्नेह का न होना ही है। स्नेह ही समाज को दृढ़ बनाता है। इसका अभाव समाज को तोड़-फोड़ देता है। प्रभु का ध्यान करनेवाला 'दध्यङ्' सभी में प्रभु का दर्शन करता है, अतः सभी से स्नेह करता है। यह इस 'स्नेह करने' के सिद्धान्त से कभी डगमगाता नहीं, यह 'आथर्वण' न विचलित होनेवाला होकर इसका पालन करता है।

भावार्थ—मैं सभी को प्रेम से देखूँ और सभी सबको प्रेम से देखें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

संदर्शन—संजीवन

दृते दृꣳह मा। ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासं ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम्॥१९॥

हे **दृते!**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभो! **मा दृंह**=मुझे दृढ़ बनाइए। मेरी कमियों को दूर करके मेरे जीवन को सुदृढ़ कीजिए। मैं कमियों से बचा रहूँ इसके लिए मैं **ज्योक् ते**=सदा आपके **संदृशि**=सन्दर्शन में **जीव्यासम्**=जीवन धारण करूँ। (संदर्शनम्= संदृक्) और **ज्योक्**=सदा दीर्घकाल तक **ते संदृशि**=आपके संदर्शन में ही **जीव्यासम्**=जीऊँ। एक ही बात को दो बार कहना दृढ़ता के लिए होता है। प्रभु के संदर्शन में जीना अत्यन्त आवश्यक है। २. 'प्रभु मेरे समीप हैं, वे मेरे प्रत्येक कार्य को देख रहे हैं', इस भावना के उदित रहने से मैं कोई ग़लत कार्य नहीं करूँगा। मेरा जीवन कमियों से न भरे। २. साथ ही सर्वत्र प्रभु-दर्शन से हम परस्पर प्रेम से चलने का पाठ भी पढ़ेंगे। हमें परस्पर एक बन्धुत्व का भी अनुभव होगा। पिछले मन्त्र की प्रार्थना को जीवन में अनूदित करने के लिए प्रभु की आँख से ओझल न होना, अपने को उसकी आँख से ओझल न होने देना अत्यन्त आवश्यक है।

सदा प्रभु के संदर्शन में जीनेवाला व्यक्ति 'दध्यङ्' प्रभु का ध्यान करनेवाला है। यह धर्म के मार्ग से विचलित न होने के कारण 'आथर्वण' भी है। यह यही कह सकता है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

भावार्थ—मैं सदा प्रभु के संदर्शन में जीवन धारण करूँ, जिससे मेरा जीवन कमियों से न भरकर मैं सभी के साथ स्नेह कर सकूँ।

ऋषिः—**लोपामुद्रा**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

रोग, लोभ व अज्ञान का लोप

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्तेऽअस्त्वर्चिषे।
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥२०॥

गतमन्त्र में दीर्घकाल तक प्रभु के सन्दर्शन में जीवन-यापन का उल्लेख था। ये प्रभु से कहते हैं। **हरसे**=सब रोगों का हरण करनेवाले **ते**=तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो। संस्कृत में रोग का हरण करनेवाले वैद्य का नाम 'रोगहारी' है। वही 'हृ' धातु 'हरस्' शब्द में है। प्रभु के स्मरण से हम स्वादादि में नहीं फँसते, परिणामतः अधिक नहीं खाते और रोगों से बचे रहते हैं, एवं प्रभु सचमुच रोगों का हरण करनेवाले हैं। २. **शोचिषे**=(शुच् दीप्तौ) हमारे जीवनों को शुचि व दीप्त बनानेवाले **नमः**=आपके लिए नमस्कार है। प्रभु-स्मरण हमारे शरीरों को नीरोग बनाता है तो प्रभु-स्मरण से हमारे मन निर्मल व पवित्र होते हैं। प्रभु

के सान्निध्य में हम पाप थोड़े ही करेंगे? वासना 'स्मर' है, तो प्रभु 'स्मरहर' हैं। जहाँ प्रभु-स्मरण होता है वहाँ वासना का विनाश हो जाता है। ३. **अर्चिषे**=हमें ज्ञान की ज्वाला से देदीप्यमान करनेवाले **ते नमः**=तेरे लिए नमस्कार हो। प्रभु हमारे मस्तिष्कों को ज्ञान से दीप्त कर देते हैं। सम्पूर्ण ज्ञान के स्रोत वे प्रभु ही हैं। ४. वह व्यक्ति जो प्रभुकृपा से शरीर से नीरोग, मन से पवित्र तथा मस्तिष्क से दीप्त बना है, वह अब चाहता है कि **ते**=तेरी **हेतयः**=ज्ञानदीप्तियाँ **अस्मत्**=हमसे प्रवाहित होकर **अन्यान्**=दूसरों को भी **तपन्तु**=दीप्ति प्राप्त कराएँ। हम आपसे प्राप्त इन ज्ञान की किरणों को औरों तक पहुँचाएँ। ५. ब्रह्मचर्याश्रम में हम प्रभु को 'हरस्' के रूप में स्मरण करें और सोमशक्ति की ऊर्ध्वगति करके सब **रोगों का हरण व लोप करनेवाले** बनें। गृहस्थ में हमारा स्मरणीय प्रभु 'शोचिष्' है। वह हमारे मनों को शुचि बनाता है। **'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः'** (मनु)। धन की दृष्टि से शुचि व्यक्ति ही तो शुचि है। एवं, प्रभु-स्मरण हमारे मनों से **लोभ का लोप** करनेवाला हो। वानप्रस्थ में हमारा प्रभु 'अर्चिष्' हो जाता है। यह ज्ञान की ज्वाला से देदीप्यमान है। यह हमारे मस्तिष्क से अज्ञानान्धकार का लोप करता है। वानप्रस्थ तो **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'**=सदा स्वाध्याय में लगा होता है। इसके बाद संन्यास में यह अपने आराम आदि का त्याग कर प्रजा के अज्ञानान्धकर को लुप्त करने में लगा है, एवं इसका नाम ही 'रोग, लोभ व अज्ञान' को लुप्त करने के कारण 'लोपा' हो गया है। इसका चित्त इस रोग, लोभ व अज्ञान को लुप्त करके बड़ा प्रसन्न है; अतः वह 'मुद्रा' है। यह 'लोपामुद्रा' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। ४. यह ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **पावकः**=हे प्रभो! आप पवित्र करनेवाले हो। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाले **भव**=होओ। 'लोपामुद्रा' अपने जीवन के निर्माण का ध्यान करता है और कल्याण के लिए याचना करता है।

भावार्थ—हमारे शरीर नीरोग हों, मन शुचि हों, मस्तिष्क उज्ज्वल हों। हम सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाएँ। प्रभु हमारा कल्याण करें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'विद्युत्, स्तनयित्नु व भगवान्'

नम॑स्तेऽअस्तु वि॒द्यु॒ते॒ नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑। नम॑स्ते भगवन्नस्तु य॒तः स्वः॒ समीह॑से॥२१॥

१. **विद्युते**=विशेषरूप से चमकनेवाले **ते**=तेरे लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। वे प्रभु सर्वतो देदीप्यमान हैं, वे तो ज्योतिर्मय-ही-ज्योतिर्मय हैं। **'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'** (यजुः) वे प्रभु सूर्य के समान चमकते हैं। हज़ारों सूर्यों के सामन उस प्रभु की आभा है। जीव की चमक सूर्य की चमक की भाँति अपनी चमक नहीं है। जीव का ज्ञान तो नैमित्तिक है। सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा भी प्रकाशवाला होता है, इसी प्रकार प्रकार प्रभु की ज्योति प्राप्त करके जीव भी ज्योर्तिमय होता है। जब कभी सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथिवी आ जाती है तब चन्द्रग्रहण हो जाता है, चन्द्रमा का उतना भाग चमकता नहीं। जीव को भी यह ब्रह्मज्योति इन पार्थिव भोगों के बीच में आ पड़ने से प्राप्त नहीं होती। पार्थिव भोग हटे, और जीव ज्ञानज्योति से जगमगा उठा। २. **स्तनयित्नवे ते नमः**=मेघ के समान गर्जना करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो। प्रभु ज्ञान की ज्योति से परिपूर्ण तो हैं ही। वे उस ज्ञान का शब्दों में उच्चारण भी कर रहे हैं। धीमे-धीमे नहीं, मेघ की गर्जना के समान, परन्तु उस गर्जना को भी हम नहीं सुन पाते, क्योंकि हमारे मानस पटल के द्वार ही बन्द हो रहे हैं। मौज-मस्ती में, संसार के आमोद-प्रमोद में प्रभु की आवाज़ सुनाई नहीं देती। हम मौजों

से उपर उठेंगे, तो प्रभुदर्शन करेंगे, उनकी आवाज़ को सुनेंगे। भोज (Feast) में उसकी आवाज़ दब जाती है, भूख (fast) में स्पष्ट सुनाई पड़ती है। सुख-सम्पत्ति में ''God is nowhere'' लगता है, तो विपत्ति में 'God is now here' हो जाता है। सुख में हम प्रभु को भूल जाते हैं—दु:ख में ही स्मरण होता है। ३. बीच के आवरण के हटते ही हम कह उठते हैं कि हे **भगवन्**=भगवाले प्रभो। **ते**=तेरे लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। 'भग' की इच्छा से हमें उस भगवान् के पास ही जाना होगा। भग का अभिप्राय 'ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य' है। मनुष्य अपनी प्रारम्भिक स्थिति में 'ऐश्वर्य व वीर्य' धन व शक्ति चाहता है, ज़रा ऊँचा उठने पर उसका ध्येय यश व श्री हो जाते हैं और अन्त में उसका झुकाव ज्ञान व वैराग्य की ओर जो जाता है। मनुष्य उन्नति की किसी भी स्थिति में हो वह इन ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के लिए उस 'भगवान्' के पास ही जाएगा। ४. हे प्रभो! यह 'भग' वह है **यतः**=जिसके द्वारा **स्वः**=हमारे सुख को **समीहसे**=आप सम्यक्तया करना चाहते हैं। प्रारम्भ में ऐश्वर्य व वीर्य से ही जीवन-यात्रा चलती है। इनमें से किसी एक के भी आभाव में जीवन-यात्रा चलना सम्भव नहीं। मनुष्य इन्हें प्राप्त करके यश व श्री की कामनावाला होता है और अन्त में ज्ञान व वैराग्य में शान्ति-लाभ करता है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन सुख से व्यतीत हो पाता है। वैराग्य की—अनासक्ति की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचकर जीव सचमुच **दध्यङ् आथर्वण**=प्रभु का ध्यान करनेवाला निश्चल मनोवृत्तिवाला बन जाता है।

भावार्थ=प्रभु विद्युत् है, स्तनयित्नु हैं, भगवान् हैं। भग को प्राप्त कराके वे प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

दैव व आसुर, प्रजा व प्रभु (Civil and Military)

यतो॑यतः स॒मीह॑से ततो॑ नो॒ऽअभ॑यं कुरु।
शं नः॑ कुरु प्र॒जाभ्यो॒ऽभ॑यं नः प॒शुभ्यः॑॥२२॥

यतः यतः=जिस-जिस वस्तु से हे प्रभो! आप हमारा (स्वः) **समीहसे**=सुख करना चाहते हैं **ततः**=उस-उस वस्तु के द्वारा **नः**=हमें **अभयं कुरु**=निर्भय कीजिए। जीवन के प्रारम्भ में अर्थात् गृहस्थ में प्रभु 'ऐश्वर्य व शक्ति' के द्वारा हमारा कल्याण करते हैं, वानप्रस्थ में इसका स्थान 'यश व श्री' ले-लेते हैं, और संन्यास में 'ज्ञान और वैराग्य' उसके सम्बल होते हैं। गृहस्थ में ही ये ज्ञान और वैराग्य आ जाएँ तो गृहस्थ बिगड़ जाए और यदि संन्यास में अचानक ऐश्वर्य और शक्ति का विचार आ जाए तो वह संन्यास ही न रहे। एवं, प्रत्येक स्थिति में जिस-जिस गुण व द्रव्य से हे भगवन्! आप हमारा कल्याण चाहते हैं हमें उस-उस वस्तु के द्वारा निर्भय कीजिए।

२. (क) समाज में लोग दो भागों में बँटे हैं। एक दैव हैं, दूसरे आसुर। दैव लोग विकास व गुणों के प्रादुर्भाव के लिए प्रयत्नशील होते हैं। वैज्ञानिकों ने औषधों के आविष्कार से रोगों को दूर किया तो कृषि की उन्नति से अकाल को समाप्त कर दिया और इस प्रकार मनुष्य के प्रादुर्भाव व विकास में सहायक होने से 'प्रजा' कहलाये। इन्होंने एटम बम्ब आदि से संहार का भी पोषण किया, परन्तु वह तो सब राजनीतिज्ञों के दबाव के कारण ही हुआ। हे प्रभो! आप इन **प्रजाभ्यः**=विकास के कारणभूत दैववृत्तिवाले लोगों से **नः**= हमारे लिए **शम् कुरु**=शान्ति कीजिए। (ख) इनके विपरीत वे लोग भी हैं जो पशुओं की तरह बिलकुल स्वार्थी हैं, जिन्हें अपने से मतलब है, जिनको लोकहित का ज़रा भी

ध्यान नहीं। ये पशुओं की भाँति ही खूँखार हैं। हे प्रभो! इन **पशुभ्यः**=पशुओं से **नः**=हमें **अभयम्**=निर्भय कीजिए। राष्ट्र में एक सिविल विभाग होता है, यह शान्त स्वभाव का होता है, यही प्रजा के अन्दर शान्ति स्थापित करने का कार्य करता है। दूसरा मिलिटैरी का विभाग है, यह लड़ने के लिए तैयार किया जाता है। इसे नगरों से दूर ही रखते हैं, क्योंकि इनके नगरों के समीप आने पर नगरवासियों को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इनसे भी हमें अभय प्राप्त हो। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि लोगों को इनसे भय प्राप्त न हो।

भावार्थ—हम उस-उस समय 'ऐश्वर्य-शक्ति, यश-श्री, ज्ञान-वैराग्य' से सुख को प्राप्त करें। दैवी प्रवृत्ति के लोग हमारी शान्ति का कारण बनें और आसुर-पशुवृत्ति के लोगों से हमें भय प्राप्त न हो।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च=भोजन सदा प्रसन्नतापूर्वक

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२३॥

१. मन्त्र का सरलार्थ इस प्रकार है—**आपः ओषधयः**=जल तथा ओषधियाँ, अर्थात् खान-पान की वस्तुएँ **नः**=हमारे लिए **सुमित्रिया**=उत्तम स्नेह करनेवाली (ञिमिदा स्नेहने) उत्तम मेदस् (Fat) को बढ़ानेवाले (मिद्=मेदस्) अथवा उत्तम औषध के गुणोंवाली (मिद्=Medicine) और इस प्रकार (मित्रः=प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु व रोगों से बचानेवाली **सन्तु**=हों, परन्तु **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=अप्रीति करता है, **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=नहीं चाहते **तस्मै**=उसके लिए ये जल और ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः**=न स्नेह करनेवाली हों, उन्हें ये रोगों से बचानेवाली न हों। २. प्रस्तुत मन्त्र में भोजन के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है कि 'भोजन सदा प्रसन्नता-पूर्वक खाना चाहिए'। मनुजी ने लिखा है कि भोजन सामने आये तो '**दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च**'=देखकर हर्षित और प्रसन्न हो। प्रसन्नतापूर्वक खाया हुआ भोजन हमारे शरीरों में रुधिरादि उत्तम धातुओं को पैदा करता है। द्वेष की भावना से भरा हुआ चित्त हो और पौष्टिक-से-पौष्टिक पदार्थ खाएँ, तो वे कभी हमारे शरीर का आप्यायन न करेंगे। वे भोजन हमारा पालन करनेवाले ही न होंगे। ऐसी स्थिति में कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं जो भूख को भी समाप्त कर देते हैं।

भावार्थ—भोजन सदा प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए। हमारा भोजन 'आपः ओषधयः' हैं, न कि मांस।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अदीनता

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥२४॥

१. **तत्**=वह **चक्षुः**=सब पदार्थों के तत्त्व का दर्शक वेदज्ञान, जो **देवहितम्**=देवों में निहित होता है और देवों के लिए हितकर होता है, जो **शुक्रम्**=(शुच् दीप्तौ) सर्वतः देदीप्यमान है—शुद्ध है—निर्भान्त है, वह वेदज्ञान **पुरस्तात्**=सृष्टि के प्रारम्भ में **उच्चरत्**=उच्चारण

किया गया। **पुरस्तात्**=वेदज्ञान के सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जाने की आवश्यकता स्पष्ट है। मनुष्य का ज्ञान नैमित्तिक है—'यदि उसे ज्ञान न दिया जाए तो वह उसे स्वयं विकसित कर लेगा' ऐसी सम्भावना नहीं है। गूँगी-बहरी दासियों से वन में पाले गये बच्चे केवल मैं-मैं करना ही सीखे, क्योंकि उनके समीप बकरियाँ बँधी थी। वेद से प्राचीन कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इन दोनों तथ्यों से यही परिणाम प्राप्त होता है कि 'वेदज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में दिया गया'। **देवहितम्**=(क) प्रभु ने इस वेदज्ञान को देवों के हृदय में स्थापित किया। **'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्'** जो श्रेष्ठ व निर्दोष थे, उन्हीं के हृदयों में वेदज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। (ख) यह वेदज्ञान देवों का ही हितकर होता है। जो इस वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं—उन्हीं देवों को इसका लाभ प्राप्त होता है। हम **शरदः शतम्**=सौ-के-सौ वर्ष-पर्यन्त **पश्येम**=इस वेदज्ञान को देखें। हम वेदों को पढ़ें, इनका नियमित स्वध्याय करें। **शरदः शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त **जीवेम**=इन वेदों को ही जीने का प्रयत्न करें, अर्थात् अपने जीवन को वेदानुसार बनाने के लिए यत्नशील हों। वेद को अपने जीवन में घटाने की कोशिश करना ही अपने जीवन को वेद पढ़ाना है। वेद को जीने का प्रयत्न करेंगे तभी लाभ होगा।

शरदः शतम्=सौ वर्षपर्यन्त **शृणुयाम**=हम इन वेदों को सुनें तथा **शरदः शतम्**=सौ वर्ष पर्यन्त इन वेदों का ही **प्रब्रवाम**=प्रवचन करें, अर्थात् वेदोपदेश ही सुनें और सुनाएँ। शुभ की कथा शुभ प्रभाव को उत्पन्न करेगी ही। आचार्य ने इन्हीं शब्दों को ध्यान में रखते हुए इसे परमधर्म माना कि वे वेद पढ़ें (पश्येम) पढ़ाएँ (जीवेम) सुनें (शृणुयाम) सुनाएँ (प्रब्रवाम) ३. इस प्रकार वेदज्ञान का हमारे जीवनों पर यह परिणाम हो कि हम **शरदः शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त **अदीनाः स्याम**=अदीन हों। हममें हीनता की भावना न हो। हम कृपण व अनात्मज्ञ न हों। अपनी महिमा को अनुभव करें। व्यावहारिक जगत् में न दबें न दबायें, न खुशामद करें और न ही खुशामद पसन्द हों। **शरदः शतात् भूयः च**=सौ से अधिक वर्ष भी हमारे जीवन इसी प्रकार वेद के पढ़ने-पढ़ाने व सुनने-सुनाने में व्यतीत हों और हम अदीन बने रहें। हमें सच्ची शान्ति इसी प्रकार प्राप्त होगी। वेदज्ञान ही मौलिक शान्ति देनेवाला है।

भावार्थ—प्रभु ने सृष्टि-आरम्भ में इस वेदज्ञान का उच्चारण किया है। हमें इसी के पढ़ने-पढ़ाने व सुनने-सुनाने में लग जाना चाहिए और सदा अदीनतापूर्वक वर्त्तना चाहिए।

इति षट्त्रिंशोऽध्यायः॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

वस्तुओं के ग्रहण में तीन बातें

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आ ददे नारिरसि॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'दध्यङ् आथर्वण' है, ध्यान करनेवाला, डाँवाँडोल न होनेवाला। यह संसार में विचरता है, संसार की वस्तुओं का प्रयोग करता है। वह कहता है कि **आददे**=मैं वस्तुओं का ग्रहण करता हूँ, १. परन्तु प्रत्येक वस्तु का ग्रहण करते हुए वह कहता है कि **त्वा**=तुझे ग्रहण तो करता हूँ, **सवितुः देवस्य** =उस प्रेरणा करनेवाले दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु की **प्रसवे**=प्रेरणा में स्थित होता हुआ, अर्थात् उस प्रभु की आज्ञानुसार। प्रभु का आदेश है **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**=त्यागपूर्वक उपभोग करो, अतः यह 'दध्यङ्' प्रत्येक वस्तु का त्यागपूर्वक उपयोग करता है। इस प्रकार किसी भी वस्तु के 'अयोग तथा अतियोग से बचता हुआ यह 'दध्यङ्' उस-उस वस्तु का यथायोग ही करता है। २. साथ ही यह कहता है कि अश्विनोः=प्राणापान के बाहुभ्याम्=(बाहृ प्रयत्ने) प्रयत्न से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। यह आवश्यक वस्तु का उपार्जन अपनी प्राणापान की शक्ति से करता है। यह कभी दूसरे के उपार्जित धन को प्राप्त करने की कामना नहीं करता। ३. **पूष्णो हस्ताभ्याम्**=पूषा के हाथों से मैं तेरा ग्रहण करता हूँ, अर्थात् मेरे पोषण के लिए जितने धन की व जिस वस्तु की आवश्यकता होती है उसी का मैं ग्रहण करता हूँ। स्वाद के लिए मैं वस्तुओं का ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार वस्तुओं के ग्रहण में यह तीन बातों का ध्यान करता है (क) उस सवितादेव के आदेश के अनुसार हो, (ख) अपनी प्राणशक्ति से अर्जित हो, (ग) पोषण के उद्देश्य से, न कि स्वाद के लिए उसका ग्रहण हो। इस प्रकार इन बातों का ध्यान करने से यह प्रत्येक पदार्थ के लिए यह कह पाता है कि **न अरिः असि**=तू मेरा शत्रु नहीं है। प्रत्येक पदार्थ हमारा हित ही करता है, यदि मन्त्रवर्णित इन तीन बातों का ध्यान किया जाए।

भावार्थ—हम प्रभु के आदेश के अनुसार वस्तुओं का ग्रहण करें, स्वयं पुरुषार्थ से अर्जित वस्तु को ही लें। पोषण के लिए जितनी पर्याप्त है उतनी ही लें। ऐसा करने पर सब वस्तुएँ हमारी मित्र होंगी।

ऋषिः—**श्यावाश्वः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**।

मनो निरोध

युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥२॥

पिछले मन्त्र में संसार के पदार्थों के ग्रहण में तीन बातों का ध्यान करने के लिए कहा गया था। इस मनोवृत्ति को बनाने के लिए अपेक्षित अभ्यास का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में

करते हैं १. **विप्रः**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले लोग **मनः**=अपने मनों को **युञ्जते**=प्रभु के ध्यान में केन्द्रित करने का प्रयत्न करते हैं **उत**=और **धियः**=अपनी-अपनी बुद्धियों को भी उसी के विचार में **युञ्जते**=युक्त करते हैं। किस प्रभु के? (क) **विप्रस्य**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले के, अर्थात् जो प्रभु हमारी सब कमियों को दूर करते हैं, (ख) **बृहतः**=जो सदा वर्धमान हैं (बृहि वृद्धौ) (ग) **विपश्चितः** (वि पश् चित्)=जो विशिष्ट द्रष्टा व पूर्ण ज्ञानवाले हैं। उस प्रभु में हम अपने मनों व बुद्धियों को केन्द्रित करेंगे तो हमारे शरीर भी सब न्यूनताओं से ऊपर उठकर पूर्ण स्वस्थ होंगे, हमारे हृदय विशाल होंगे तथा हमारे मस्तिष्क ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल बनेंगे। २. वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में ही **होत्रा**=(होत्रा इति वाङ् नाम —नि १.११) इस वेदवाणी को **विदधे**=विशेषरूप से **'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्'**=श्रेष्ठ व निर्दोष ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। वस्तुतः इस वेदवाणी के द्वारा प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही हमें कर्त्तव्य का ज्ञान दे दिया है, सब पदार्थों का ज्ञान उस वाणी में विद्यमान है। उसका ठीक-ठीक ग्रहण करने से हम ज्ञानी बनकर अपने कर्त्तव्य पथ पर निरन्तर आगे बढ़नेवाले हो सकते हैं। ३. **वयुनावित्**=(वयुनम्=प्रज्ञानाम—नि० ३.९) वे प्रभु हमारे सब प्रज्ञानों को जाननेवाले हैं। हमने सोचा और प्रभु ने जाना। ४. **एकः**=वे एक ही हैं। इस सारे ब्रह्माण्ड के निर्माण-धारण व प्रलयरूप कार्यों को करने में उस प्रभु को किसी अन्य सहायक की अपेक्षा नहीं होती। वे अद्वितीय प्रभु सब जीवों को उनके कर्मानुसार उस-उस स्थिति में रखनेवाले हैं। ४. इस **देवस्य सवितुः**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रेरक प्रभु की **इत्**=निश्चय से **मही परिष्टुतिः**=यह महान् महिमा है, संसार का एक-एक पदार्थ उस प्रभु की महत्ता को व्यक्त कर रहा है। ५. एवं, अपने मनों व बुद्धियों को प्रभु में लगाकर हम इस संसार में प्रत्येक पदार्थ का 'यथायोग' करनेवाले बनते हैं। उस समय संसार का प्रत्येक पदार्थ हमारा मित्र होता है। अपने इन्द्रियरूप अश्वों को सदा उत्तमता से गतिमय (श्यै) रखनेवाला 'श्यावाश्व' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। इसके इन्द्रियाश्व विषयों में विचरण करते हैं, परन्तु वेद में दिये गये प्रभु के निर्देशों के अनुसार। इसी कारण यह आत्मवशी इन्द्रियों से विषयों में विचरता हुआ भी उनमें उलझता नहीं और 'प्रसाद' को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम मन व बुद्धियों को प्रभु में लगाएँ, जिससे इस योग से—चित्तवृत्तिनिरोध से इस संसार में विचरें, परन्तु उलझें नहीं।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**द्यावापृथिव्यौ**। छन्दः—**ब्राह्मीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

द्यावापृथिवी=दीप्त मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर

देवी द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥३॥

'द्यावापृथिवी' का अर्थ अध्यात्म में मस्तिष्क और शरीर है। 'मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्'। ये दोनों 'देवी'=दिव्य गुणोंवाले तब होते हैं जब शरीर तो नीरोग हो और मस्तिष्क सूक्ष्म विषयों के ग्रहण में समर्थ हो। **वाम्**=इन दिव्य गुणोंवाले शरीर व मस्तिष्क के द्वारा **अद्य**=आज **मखस्य**=यज्ञ के **शिरः**=शिर को **राध्यासम्**=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं के यज्ञ करने के स्थान में मैं **त्वा** =तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ। **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। 'दध्यङ् आथर्वण' प्रभु का ध्यान करनेवाला, डाँवाँडोल न होनेवाला निश्चय करता है कि

मैं अपने नीरोग शरीर व ज्ञान से दीप्त मस्तिष्क के द्वारा अपने जीवन को यज्ञमय बनाऊँ। मैं प्रत्येक वस्तु को इसीलिए ग्रहण करूँ कि उसके द्वारा मैं यज्ञ को सिद्ध करनेवाला होऊँ, यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए मेरी प्रत्येक शक्ति हो। मख शब्द का अर्थ यज्ञ है। गोपथ (उ.२.५) में मख की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है 'मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात् छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः मा यज्ञम् छिद्रं करिष्यतीति।' अर्थात् मख यह यज्ञ का नाम है, छिद्र के प्रतिषेध की शक्ति के कारण। 'ख' का अर्थ है–छिद्र, दोष, उसका 'मा' से प्रतिषेध हो रहा है। यज्ञ दोष का निवारण करेगा। एवं, मैं अपनी प्रत्येक शक्ति को यज्ञ के प्रति अर्पित करने का प्रयत्न करूँगा तो मेरा जीवन निर्दोष बनेगा। इसी विचार से 'दध्यङ्' इन्हें यज्ञ में लगाये रखने का ध्यान करता है और यज्ञ के मार्ग से डाँवाँडोल नहीं होता, इसीलिए तो यह 'आर्थवण' है।

भावार्थ–मेरा शरीर व मस्तिष्क मुझे यज्ञ के शिखर पर पहुँचाएँ।

ऋषिः–**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता–**यज्ञः**। छन्दः–**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः–**पञ्चमः**।

दिव्य इन्द्रियाँ=उत्तम अपानशक्तियाँ

देव्यो॑ वम्र्यो भू॒तस्य॑ प्रथम॒जा म॒खस्य॑ वो॒ऽद्य शिरो॑ राध्यासं दे॒वयज॑ने पृथि॒व्याः। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे॥४॥

'वम्री' शब्द वम् धातु से बना है, जिसका अर्थ है उद्गिरण=बाहर फेंकना। शरीर में वह शक्ति जो मल को शरीर से बाहर फेंकती है, 'वम्री' कहलाती है। यही अपानशक्ति है। वह अपानशक्ति ठीक काम करती रहती है तो पसीने के द्वारा व मल-मूत्र के शोधन के द्वारा यह शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाये रखती है। इनके ठीक कार्य करने पर ही अन्य शक्तियों का विकास निर्भर है, अतः 'दध्यङ्' कहता है कि **देव्यः**=दिव्य गुणोंवाली **वम्र्यः**=उद्गिरणशक्तियो! जो तुम **भूतस्य**=प्राणिमात्र के **प्रथमजा**=सर्वाधिक विकास (जन्) का कारण हो, **वः**=तुम्हारे द्वारा मैं **अद्य**=आज **मखस्य शिरः**=यज्ञ के शिखर को **राध्यासम्**=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं के यज्ञ करने के स्थान पर **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ, **त्वा**=तुझे **मखस्य**=यज्ञ के **शीर्ष्णे**=शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। हम अपानशक्ति को ठीक रखें तभी तो पिछले मन्त्रों में वर्णित दीप्तमस्तिष्क व स्वस्थ शरीर को पा सकेंगे। ये अपान-शक्तियाँ दिव्य हैं, बड़ी सुन्दर हैं, ये हमारे जीवन को स्वस्थ बनाती हैं, हमारी सब शक्तियों के विकास का कारण बनती हैं। इनके द्वारा मैं अपने जीवन में यज्ञ को सिद्ध करनेवाला बनूँ, यज्ञ के शिखर पर पहुँच जाऊँ।

भावार्थ–मेरी अपानशक्तियाँ मुझे स्वस्थ बनाकर यज्ञ में समर्थ करें।

ऋषिः–**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता–**यज्ञः**। छन्दः–**स्वराड्ब्राह्मीगायत्री**। स्वरः–**षड्जः**।

सर्वप्रथम कर्त्तव्य

इ॒यत्यग्र॑ऽआसीन्म॒खस्य॑ ते॒ऽद्य शिरो॑ राध्यासं दे॒वयज॑ने पृथि॒व्याः। म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे॥५॥

इयति=इतनी ही **अग्रे**=सबसे प्रथम स्थान में **आसीत्**=मनुष्य की साधना थी। यह यज्ञ ही मनुष्य का मौलिक कर्त्तव्य था। यज्ञान्तर्गत 'देवपूजा, सङ्गतिकरण व दान' ही मुख्य धर्म थे, इसलिए 'दध्यङ्' कहता है कि **अद्य**=आज **ते मखस्य**=तुझ यज्ञ के **शिरः**=शिखर को

राध्यासम्=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=पृथिवी के **देवयजने**=देवताओं के यज्ञ करने के स्थान में मैं **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ही ग्रहण करता हूँ, **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य यह यज्ञ ही है। यज्ञ एक पर्वत है जिसका मूल 'देवजपूजा' है, इस पर्वत का मध्य 'सङ्गतिकरण' है और इसका शिखर 'दान' है। हमें इस मानवजीवन को प्राप्त करके देवपूजा से जीवन प्रारम्भ करना है। हम माता, पिता, आचार्य व अतिथियों को देव समझें और उनकी आज्ञा में चलते हुए उनका आदर करनेवाले बनें। हमारा व्यावहारिक जीवन 'सङ्गतिकरण'वाला हो। हम सबके साथ मिलकर चलना सीखें। हमारा परस्पर विरोध न हो। हम अपने न्ययार्जित धन में से कुछ-न-कुछ देनेवाले बनें। इसी को यज्ञशेष व अमृत का सेवन कहते हैं। इस दान की प्रवृत्ति को अपनाकर मैं यज्ञपर्वत के शिखर पर पहुँच जाता हूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन सदा इस बात का ध्यान करके चले कि 'देवपूजा, सङ्गतिकरण व दान' ही मेरे सबसे प्रथम व मुख्य कर्त्तव्य हैं। ये ही कर्त्तव्यों के अग्रभाग में स्थित हैं।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

इन्द्र के ओज

इन्द्रस्यौजः स्थ मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥६॥

इन्द्रस्य=जितेन्द्रिय पुरुष के **ओजः**=ओज (शक्ति) **स्थ**=हो। **वः**=तुम्हारे द्वारा **अद्य**=आज **मखस्य**=यज्ञ के **शिरः**=शिखर को **राध्यासम्**=सिद्ध करूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथिवी के **देवयजने**=देवों के यज्ञ करने के स्थान में **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ, **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए **त्वा**=तुझे ग्रहण करता हूँ। सचमुच, यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ही मन्त्र में तीन बार इस बात को दोहराया गया है कि 'यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए मैं ओज का ग्रहण करता हूँ। 'ओज' नाम है शक्ति का। यह शक्ति इन्द्र की है, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष को ही प्राप्त होती है। अजितेन्द्रियता शक्ति को क्षीण करनेवाली है। मैं जितेन्द्रिय बनकर शक्ति प्राप्त करूँ और उस शक्ति का यज्ञों की सिद्धि के लिए विनियोग करूँ। जीवात्मा की चौबीस शक्तियाँ हैं। ये चौबीस-की-चौबीस मुझे यज्ञ के शिखर पर पहुँचानेवाली हों। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इन्द्र की चौबीस शक्तियाँ हैं और चौबीस बार ही 'मखाय त्वा मखास्य त्वा शीर्ष्णे' यह वाक्य आवृत्त हुआ है, 'यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए' यह बात चौबीस बार दुहराई गई है, एवं इन्द्र ने अपनी एक-एक शक्ति को यज्ञ की सिद्धि के लिए ही विनियुक्त करना है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष की शक्तियाँ यज्ञ की सिद्धि के लिए विनियुक्त होती हैं।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृदष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

ज्ञान, सूनृतवाणी व यज्ञ

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥७॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कण्व' मेधावी है। इसकी प्रार्थना है कि १. **ब्रह्मणःपतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु हमें **प्रएतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो। इस ज्ञान के स्वामी की प्राप्ति से हमारा ज्ञानभण्डार समृद्ध हो। २. **देवी** =दिव्यगुणोंवाली **सूनृता**=(सु+ऊन+ऋत) उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली ठीक वाणी **प्रएतु**=प्रकर्षेण प्राप्त हो, अर्थात् हम प्रिय सत्यवाणी को बोलनेवाले हों। ३. **देवाः**=सब देव **नः**=हमें **वीरम्**=वीर बनानेवाले **नर्यम्**=नरहित के कार्यों में प्रेरित करनेवाले **पङ्क्तिराधसम्**=कर्मेन्द्रियपञ्चक, ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, प्राणपञ्चक व अन्तःकरणपञ्चक (हृदय, मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार) की उत्तमता को सिद्ध करनेवाले **यज्ञम् अच्छ**=यज्ञ की ओर **नयन्तु**=ले-चलें। संक्षेप में, हमारे मस्तिष्क ज्ञान से परिपूर्ण हों, हमारी जिह्वा सूनृत वाणी का उच्चारण करनेवाली हो और हमारे हाथ यज्ञों में व्यापृत रहें। मैं **त्वा**=ज्ञान को, सूनृत वाणी को व उत्तम कर्मों को **मखाय**=सब दोषों का निवारण करनेवाले यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ। **त्वा**=इन ज्ञान आदि को इसलिए अपनाता हूँ कि **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँच सकूँ। यज्ञ के लिए, यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए। यज्ञ के लिए और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ही।

भावार्थ—मेरा ज्ञान, मेरी सूनृतवाणी, मेरे उत्तम कर्म—ये सभी मुझे यज्ञमय बनाएँ।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**स्वराडतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**॥

यज्ञ का शिखर

मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखस्य शिरोऽसि। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥८॥

'दध्यङ्' आत्मप्रेरणा देते हुए कहते हैं कि **मखस्य शिरः असि**=तू यज्ञ का शिखर है, अर्थात् तूने यज्ञ के पर्वत पर आरोहण किया है, तराई में बैठा नहीं रह गया। मेखला तक पहुँचकर तू शिखर तक पहुँचा है। तुझमें यज्ञ ने पूर्णरूप से मूर्त्तरूप धारण किया है। यह दध्यङ् किसी भी वस्तु का ग्रहण करते हुए कहता है कि मैं **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ, **त्वा**=तुझे **मखस्य**=यज्ञ के **शीर्ष्णे**=शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ। 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों के दृष्टिकोण से उल्लिखित बात को कहने के लिए उल्लिखित वाक्य को यहाँ तीन बार कहा गया है और इस वाक्य को कहने के बाद यज्ञ के तीन अंशों 'देवपूजा, सङ्गतिकरण व दान' के दृष्टिकोण से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए, **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—(क) हमें शरीर के दृष्टिकोण से यज्ञ के शिखर पर पहुँचना है, अर्थात् अपनी शारीरिक शक्ति को निर्बलों की रक्षा के लिए विनियुक्त करना है। (ख) मन के दृष्टिकोण से भी यज्ञ के शिखर पर पहुँचना है, अर्थात् मन में कभी भी किसी का द्रोह-चिन्तन न करके सबके लिए मङ्गल की कामना करनी है। (ग) हमें बुद्धि के दृष्टिकोण से भी यज्ञ के शिखर पर जाना है, अर्थात् हमारी बुद्धि सदा सबके भले की योजनाओं के बनाने में विनियुक्त हो।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

पिता, माता व पुत्र

अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥९॥

गृहस्थ में पिता, माता व सन्तान तीन का समावेश होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के शब्दों में 'पिता उत्तरपक्षः, माता दक्षिणपक्ष, पुत्रः सन्धानम्'=एक ओर पिता है, दूसरी ओर माता है और पुत्र उन्हें जोड़नेवाला है। इन तीनों को ही अपने जीवन को सुन्दर बनाना है तभी गृहस्थ स्वर्ग बनेगा। 'कैसा जीवन बनाना है?' इसी प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में है १. **त्वा**=तेरे द्वारा **अश्वस्य**=(अश्नुते कर्मसु) कर्मों में व्याप्त होनेवाले **वृष्णः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले पुरुष की **शक्ना** ('शक्यना' में य का लोप होकर शक्ना) शक्ति से **धूपयामि**=अपने जीवन को सुगन्धित करता हूँ, अर्थात् मेरा जीवन कर्ममय, सबका भला करनेवाला व शक्तिसम्पन्न हो। हाथों में कर्म हों, मन में सब के लिए स्नेह की भावना हो तथा शरीर शक्तिसम्पन्न व स्वस्थ हो। **त्वा**=तुझे मैं **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ **त्वा**=तझे इसलिए ग्रहण करता हूँ कि मैं **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने में समर्थ होऊँ। इस **पृथिव्याः**=पृथिवी के **देवयजने**=देवों के यज्ञ करने के स्थान में मैं प्रत्येक वस्तु का स्वीकार यज्ञ के लिए करता हूँ, मेरा जीवन यज्ञिय बने। मैं यज्ञरूप श्रेष्ठतम कर्मों में लगा रहूँ (अश्व=अश व्याप्तौ), सबपर सुखों की वर्षा करूँ (वृष् बरसना) तथा शक्तिशाली बनूँ (शक्ना) उत्तम कर्मों से, सबका भला चाहने व करने से तथा स्वास्थ्य व शक्ति से मेरा जीवन सुगन्धित हो उठे। २. इसी प्रकार गृहस्थ में विविध वस्तुओं का उपादान करती हुई माता कहती है कि मैं **त्वा**=तुझे ग्रहण करके **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **वृष्णः**=सुखों के वर्षक व्यक्ति की **शक्ना**=शक्ति से **धूपयामि**=अपने जीवन को सुगन्धित करती हूँ। **पृथिव्याः**=इस पृथ्वी के **देवयजने**=देवों के यज्ञ करने के स्थान में **त्वा**=तुझे **मखाय**=यज्ञ के लिए और **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करती हूँ। ३. तीसरी बार इसी मन्त्रभाग का उच्चारण करता हुआ पुत्र इसी बात को दुहराता है और निश्चय करता है कि कर्मों में सदा व्याप्त रहता हुआ, सबका भला चाहता हुआ वह शक्तिशाली बनेगा। प्रत्येक पदार्थ को यज्ञियवृत्ति से ग्रहण करेगा और यज्ञ के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करेगा। ४. इस प्रकार सङ्कल्प करके पिता, माता व पुत्र तीनों ही तीन बार इस सङ्कल्प को फिर से आवृत्त करते हैं कि **मखाय त्वा**=तुझे यज्ञ के लिए ग्रहण करता हूँ। **त्वा**=तुझे **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—जिस घर में पिता, पुत्र व माता सभी 'उत्तम कर्मोंवाले तथा भद्र मनोवृत्तिवाले, स्वस्थ, शक्तिसम्पन्न तथा यज्ञप्रवृत्त' होते हैं, वही घर स्वर्ग बन पाता है।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

सरलता, साधुता व सुस्थिति

ऋजवे त्वा साधवे त्वा सुक्षित्यै त्वा। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।
मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे॥१०॥

प्रस्तुत मन्त्र के देवता 'विद्वांस:'=ज्ञानी हैं। ये प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **त्वा**=तुझे हम ग्रहण करते हैं, अर्थात् प्रातः-सायं आपका स्मरण करते हैं। किसलिए? **ऋजवे**=ऋजुता के लिए, सरलता के लिए। हमारा जीवन सरल बना रहे, हमारे मनों में कुटिलता का प्रवेश न हो जाए। २. हे प्रभो! **त्वा**=आपको हम ग्रहण करते हैं **साधवे**=साधुता के लिए। 'साध्नोति परकार्यमिति साधुः'=दूसरों के कार्यों को सिद्ध करनेवाला साधु होता है, अर्थात् परोपकार की वृत्तिवाला। 'हम भी परोपकार की वृत्तिवाले बनें' इसी लक्ष्य से हम हे प्रभो! आपको ग्रहण करते हैं, आपका ध्यान करते हैं। ३. **त्वा**=आपको **सुक्षित्यै**=(क्षि=निवासगत्योः) उत्तम निवास व गति के लिए ग्रहण करते हैं। आपके स्मरण से हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं को ठीक प्रकार से पूर्ण करते हुए सदा उत्तम गतिवाले होंगे। ४. इस प्रकार उत्तम जीवन बनाकर हम **त्वा**=आपको **मखाय**=यज्ञ के लिए ग्रहण करते हैं। **त्वा**=आपको ग्रहण करते हैं **मखस्य शीर्ष्णे**=यज्ञ के शिखर पर पहुँचने के लिए। इस अन्तिम वाक्य को यहाँ तीन बार फिर आवृत्त किया है, इसलिए कि 'आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैवकि' तीनों दृष्टिकोणों से हमारा यज्ञ चले। हमें तीनों दृष्टिकोणों से शान्ति प्राप्त हो। यह पहले कहा ही जा चुका है कि यहाँ तक चौबीस बार इस मन्त्र को दुहराया है कि हमारी चौबीस-की-चौबीस शक्तियाँ हमें यज्ञप्रवृत्त करनेवाली हों। इसी में समझदारी है। विद्वान् लोग ऐसा ही करते हैं। उनका जीवनसूत्र होता है 'ऋजुता, साधुता व उत्तमता'। इस जीवनसूत्र को बनाकर ये सदा यज्ञरूप पर्वत के आरोहण में तत्पर रहते हैं।

भावार्थ—हम कुटिलता को अपने से दूर रक्खें, दुर्जनता से दूर रहें और संसार में हमारा निवास व क्रियाएँ उत्तम हों।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

संयम, यज्ञ व तप

यमाय त्वा मखाय त्वा सूर्यस्य त्वा तपसे। देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु पृथिव्याः सꣳस्पृशस्पाहि। अर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि॥११॥

प्रस्तुत मन्त्र में 'दध्यङ्' से प्रभु कहते हैं कि १. **त्वा**=तुझे मैंने इस संसार में **यमाय**=संयम के लिए रक्खा है। तेरा जीवन आत्मसंयमवाला हो। संसार के विषय तेरी इन्द्रियों व मन को सदा अपनी ओर आकृष्ट करेंगे, तूने उनमें आसक्त नहीं हो जाना। २. **त्वा**=तुझे मैंने **मखाय**=यज्ञ के लिए इस संसार में भेजा है। तूने अपना जीवन यज्ञमय बनाने का प्रयत्न करना। यज्ञ 'मख' है (मा+ख) यह तेरे सब दोषों को दूर करेगा। यज्ञ करने पर दोष तुझमें आएँगे ही नहीं। ३. **त्वा**=तुझे **सूर्यस्य तपसे**=सूर्य के तप के लिए मैंने निश्चित किया है। तूने सूर्य के समान ही तपस्वी होना है। सूर्य ने एक बार घोड़े रथ में जोते, तो खोले ही नहीं। यह सूर्य निरन्तर क्रियाशील है, यह आराम नहीं करता। तूने भी सतत क्रियाशील बनना है, आराम नहीं करने लगना, क्रियाशीलता ही तप है, यह तुझे दीप्त करेगी, सूर्य की तरह चमकानेवाली होगी ४. **सविता देवः**=सबका प्रेरक, दिव्यता का पुञ्ज प्रभु **त्वा**=तुझे **मध्वा**=माधुर्य से **अनक्तु**=अलंकृत करे। तेरा जीवन 'संयत, यज्ञमय व क्रियाशील' होने के साथ माधुर्य से परिपूर्ण हो। तू किसी के प्रति कटु शब्दों का प्रयोग करनेवाला न हो। ५. **पृथिव्याः**=पृथिवी के **संस्पृशः**= संस्पर्श से **पाहि**=अपने को तू बचा। तू इन पार्थिव भोगों में आसक्त न हो जा। ये भोग तुझे भोगनेवाले प्रमाणित होंगे। तू इनमें आसक्त हुआ कि इनका शिकार हुआ। ५. यदि तू इस प्रकार पार्थिव भोगों में न फँसा तो सचमुच तू **अर्चिः**

असि=(अर्च पूजायाम्) सच्चा पुजारी है। प्रभु की उपासना का सबसे प्रबल प्रमाण पार्थिव पदार्थों में प्रसक्त न होना ही है। **शोचिः असि**=(शुच्) तू अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला है। पार्थिव भोगों में आसक्ति ही सब अपवित्रता का मूल है। **तपः असि** =पार्थिव भोगों में न फँसा तो तू सचमुच तपस्वी है। भोगासक्ति से ऊपर उठना महान् तपस्या है। 'तपस्वी होना' भोगासक्ति के अभाव का स्वरूप है, इसका परिणाम पवित्रता है और इससे स्वतः हो जानेवाली क्रिया प्रभुपूजा है।

भावार्थ—हम 'संयमी, यज्ञमय, क्रियाशील, माधुर्य से परिपूर्ण, पार्थिव भोगों के प्रति अनासक्त तथा प्रभुपूजक, पवित्र व तपस्वी बनें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**पृथवीः**। छन्दः—**स्वराडुत्कृतिः**। स्वरः—**षड्जः**।

पत्नी के जीवन की पाँच बातें।

अनाधृष्टा पुरस्तादग्नेराधिपत्यऽआयुर्मे दाः पुत्रवती दक्षिणतऽइन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे दाः। सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दाऽआश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः। विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्यऽओजो मे दा विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि॥१२॥

पति पत्नी से कहता है १. **पुरस्तात्**=इस आगे बढ़ने की (पुरः=आगे) पूर्व दिशा में **अनाधृष्टा**=किसी भी प्रकार से धर्षित, वासनाओं से पराजित न होती हुई तू **अग्नेः**=अग्नि के **आधिपत्ये**=आधिपत्य में, अर्थात् अग्नि-तुल्य पतिवाली होती हुई **मे**=मेरे लिए **आयुः**=उत्तम दीर्घजीवन **दाः**=देनेवाली हो। पत्नी को अनाधृष्ट बनना, वासनाओं से कभी पराजित नहीं होना तो पति ने अग्नि बनना, सदा आगे बढ़ने की भावनावाला होना। पूर्व दिशा का दोनों के लिए यही पाठ है। आगे-और-आगे जैसे सूर्य इस दिशा में बढ़ रहा है, इसी प्रकार पति-पत्नी ने आगे-और-आगे चलना है। वासनाओं से अपराजित, आगे बढ़ने की भावना से परिपूर्ण तभी उत्तम दीर्घजीवन की प्राप्ति होगी। ३. **दक्षिणतः**=अब दाक्षिण्य=उदारता व कुशलता की दक्षिण दिशा में **पुत्रवती**=उत्तम सन्तानोंवाली तू **इन्द्रस्य आधिपत्ये**=इन्द्र के आधिपत्य में, अर्थात् जितेन्द्रिय व धन कमानेवाले पतिवाली तू **मे**=मेरे लिए **प्रजाम्**=शक्तियों के विकासवाली उत्तम सन्तान दे। पति-पत्नी दोनों ने दक्षिण दिशा में दाक्षिण्य=उदारता व कर्मकुशलता का पाठ पढ़ना है। पत्नी ने अपना मुख्य कार्य सन्तानों का निर्माण समझना है, उसे उत्तम पुत्रोंवाली—पुत्रवती बनना है। पति ने **इन्द्र**=जितेन्द्रिय व धन कमानेवाला होना है। ऐसा होने पर ही इनकी सन्तानें **प्रजा**=प्रकृष्ट विकासवाली होंगी। ३. **पश्चात्**=अब पश्चिम दिशा में **सुषदा**=घर में उत्तमता से निवास करनेवाली **देवस्य सवितुः**=सवितादेव के आधिपत्य में, अर्थात् कमानेवाले (सविता षु=प्रसव=पैदा करना=धन कमाना) तथा उदार (देवो दानात्) पतिवाली तू **मे**=मुझे **चक्षुः**=प्रकाश को **दाः**=देनेवाली हो, अर्थात् संघर्ष व समस्या आने पर उत्तम सलाह देनेवाली हो, मार्ग को सुझानेवाली हो। पत्नी ने मुख्यरूप से घर में ही अपना स्थान समझना है, उसने घर को उत्तम बनाना है। कमाना काम पति का है, वह निकम्मा न हो, सदा श्रम से धनार्जन करे तथा पत्नी को उदारता से घर के व्यय के लिए धन देनेवाला हो। घर में पूर्ण स्वास्थ्य के साथ निवास करती हुई पत्नी सदा नेक सलाह देनेवाली होती है। समस्याओं में पति के लिए सहायक होती है। पत्नी पति की आँख बनती है। ४. **उत्तरतः**=इस ऊपर उठने की उत्तर दिशा में **आश्रुतिः**= समन्तात्, सब ओर से ज्ञान की बातों को श्रवण करनेवाली तू **धातुः आधिपत्ये**=धाता के

आधिपत्य में, अर्थात् धारण करनेवाले पतिवाली होती हुई **मे**=मेरे लिए **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **दाः**=देनेवाली हो। वस्तुतः पति ने तो कमाना ही है, उसका बुद्धिमत्तापूर्वक व्यय पत्नी ने ही करना है। विवाह संस्कार में इसी दृष्टिकोण से वधू का एक व्रत यह भी होता है कि मेरा सारा व्यवहार घर के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला होता है 'समृद्धिकरणम्'। पत्नी की यह विशेषता होनी चाहिए कि वह 'आश्रुति' हो, ख़ूब सुननेवाली। 'बोलना कम, सुनना अधिक' यही आदर्श गृहिणी का आदर्श वाक्य हो। पति 'धाता' धारण करनेवाला हो, पोषण के लिए पर्याप्त धन न कमानेवाला पति 'पति' होने योग्य नहीं है। पत्नी ने उस कमाये हुए धन का उचित व्यय करते हुए घर पर कभी ऋण का बोझ नहीं आने देना। ५. **उपरिष्टात्**=इस ऊर्ध्वा दिशा की ओर देखते हुए **विधृतिः**=विशिष्ट धैर्यवाली, कभी भी मानस सन्तुलन को न खोनेवाली तू **बृहस्पतेः**=बृहस्पति के **आधिपत्ये**=आधिपत्य में, अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करनेवाले पतिवाली तू **मे**=मेरे लिए **ओजः**=ओज को, वृद्धि की कारणभूत शक्ति को **दाः**=देनेवाली हो। पत्नी में धैर्य व दृढ़ता हो, पति में उत्कृष्ट ज्ञान हो तो घर में वह शक्ति बनी रहती है जो सब उन्नतियों का कारण है। तभी घर उन्नति के शिखर पर पहुँचता है, यही ऊर्ध्वा दिशा में स्थित होना है। ६. इस प्रकार के जीवनवाली बनकर तू **मा**=मुझे **विश्वाभ्यः**=सब **नाष्ट्राभ्यः**=नाशक शक्तियों से **पाहि**=बचा। जिस समय पत्नी **'अनाधृष्ट'** न होकर वासनाओं का शिकार होने से मर्यादा का उल्लंघन कर जाती है, सन्तानों का ध्यान न करने से उत्तम पुत्रोंवाली 'पुत्रवती' नहीं होती, घर में उत्तमता से रहनेवाली 'सुषदा' न बनकर कुलटा=इधर-उधर जानेवाली हो जाती है, 'आश्रुति' न होकर बहुत बोलती है, बोल-बोलकर पति के लिए उबाऊ-सी हो जाती है, 'विधृति'=दृढ़ धैर्यवाली न होकर झट क्रोध में आ जाती है तो पति का जीवन कड़वा हो जाता है और वह भी अपना आमोद-प्रमोद ग़लत स्थानों पर ढूँढता है, व्यभिचारणियों की खोज में रहता है और उनमें फँसकर अपने जीवन को विनष्ट कर लेता है। 'अनाधृष्टा, पुत्रवती, सुषदा, आश्रुति व विधृति' पत्नी पति को इस विनाश से बचा लेती है। ७. हे पत्नि! तू **मनोः**=ज्ञान-सम्पन्न-समझदार पुरुष की **अश्वा**=सदा कार्यों में व्यापृत रहनेवाली पत्नी **असि**=है। 'पति ने समझदार होना, पत्नी ने घर के कार्यों में व्याप्त रहना' यह मूल मन्त्र है घर को स्वर्ग बनाने का।

भावार्थ—पति-पत्नी कर्त्तव्यों को समझेंगे तो घर क्यों न स्वर्ग बनेगा?

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पति की कामना

स्वाहा॑ म॒रुद्भिः॒ परि॑ श्रीयस्व दि॒वः स॒ꣳस्पृश॑स्पाहि। मधु॒ मधु॒ मधु॑॥१३॥

पिछले मन्त्र में पति के 'अग्नि' तुल्य होने का उल्लेख है। अग्नि की पत्नी 'स्वाहा' है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी को 'स्वाहा' कहा गया है। पति कहता है कि तू १. **स्वाहा**=(स्व+हा) अपना उत्तम त्याग करनेवाली है। पत्नी के जीवन का प्रारम्भ ही त्याग से होता है। वह अपने सारे घर-बार को छोड़कर एक नये घर का निर्माण करने के लिए पग उठाती है। सामान्यतः सबको खिला-पिलाकर खाने का ध्यान करती है। अपने लिए बचे या न बचे, वह बच्चों का पूरा ध्यान करती है। माता बच्चे के पोषण के लिए अपने सारे आराम को समाप्त कर देती है। वस्तुतः माता के त्याग पर ही घर का निर्माण होता है। २. **मरुद्भिः**=प्राणों से **परिश्रीयस्व**=तू सेवित हो, अर्थात् तू प्राणशक्ति से युक्त हो। माता निर्बल हो तो सन्तान भी निर्बल होगी। माता के स्वास्थ्य पर ही बच्चों का स्वास्थ्य निर्भर

करता है। ३. **दिवः**=(दिव्=स्वप्न) दिवास्वप्न के **संस्पृशः**=सम्पर्क से **पाहि**=तू अपने को बचानेवाली हो, चूँकि **'दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः'** इस ब्राह्मणवाक्य के अनुसार दिन में सोनेवाली माता का बच्चा भी सोंदू ही होगा। 'दिव्' शब्द द्यूत, जूए की प्रवृत्ति का भी संकेत करता है। माता के अन्दर नाममात्र भी जूए से धन-प्राप्ति की कामना न हो, वह सदा पुरुषार्थजन्य धन को ही चाहे। माता में द्यूत प्रवृत्ति होने पर बच्चा भी कुछ जुआरी व सट्टेबाज ही बनेगा। ४. सबसे बढ़कर आवश्यक बात यह है कि **मधु मधु मधु**=तूने मधुर बनना, शहद के समान मधुर वचनोंवाली होना, तेरा व्यवहार माधुर्य से परिपूर्ण हो।

भावार्थ—आदर्श पत्नी में त्याग, प्राणशक्ति, पुरुषार्थ व माधुर्य का निवास होता है।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

बच्चों का पिता

गर्भो॑ दे॒वानां॑ पि॒ता म॑ती॒नां पतिः॑ प्र॒जाना॑म्।
सं दे॒वो दे॒वेन॑ सवि॒त्रा ग॑त॒ सꣳ सूर्ये॑ण रोचते॥१४॥

पिता के जीवन पर ही बहुत कुछ बच्चों का जीवन निर्भर करता है, अतः आदर्श पिता के जीवन का चित्रण करते हैं १. **गर्भो देवानाम्**=बच्चों के पिता को 'देवों का गर्भ' होना चाहिए, अर्थात् दिव्य गुणों को अपने में धारण करनेवाला बनना चाहिए। पिता की ये सब अच्छाइयाँ ही पुत्र में अवतीर्ण होंगी। जैसा पिता होगा, वैसा ही पुत्र बनेगा। कहा तो यह जाता है कि जाया (पत्नी) को 'जाया' इसलिए कहते हैं कि 'यदस्यां जायते पुनः'=इसमें पति फिर जन्म लेता हैं, एवं पिता ही पुत्ररूप में उत्पन्न होता है, अतः दिव्य गुणोंवाले पिता का पुत्र भी दिव्य गुणोंवाला होगा। २. **पिता मतीनाम्**=यह सब मतियों, ज्ञानों का रक्षक (पा रक्षणे) बनता है। ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह ऊँचा ज्ञान उसे अभिमान की भावना से बचानेवाला होगा, क्योंकि ज्ञान की कमी सदा हमारे अभिमान का कारण बनती है। ३. **प्रजानाम् पतिः**=यह अपने सन्ताओं का रक्षक होता है, उनका अति सुन्दरता से पालन व निर्माण करता है। सन्तान का पालन ही वस्तुतः पिता का मौलिक कर्त्तव्य है। इसी में सफलता से उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। ४. इसी प्रकार **देवः**=बड़े उत्तम व्यवहारवाला यह (दिव् व्यवहार) पिता **सवित्रा**=जन्मदाता (षू=प्रसव=जन्म देना) **देवेन**=उस दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु से सङ्गत, प्रातः-सायं मेल करनेवाला **सूर्येण**=ब्रह्मज्ञान के प्रकाश से **सम् गत**=सङ्गत होता है और **सम् रोचते**=सम्यक्तया रोचमान होता है। वस्तुतः अपनी दिव्यता को स्थिर रखने के लिए प्रातः-सायं उस प्रभु के चरणों में स्थित होना आवश्यक है। उससे दूर हुए, और हमने अपनी दिव्यता खोई। प्रभु के सामीप्य में हमारी ज्ञानदीप्ति सूर्य के समान चमकती है।

भावार्थ—आदर्श पिता वह है जो १. दिव्य गुणों को धारण करता है २. ज्ञान को महत्त्व देता है ३. सन्तान-निर्माण को अपना प्रारम्भिक कर्त्तव्य समझता है ४. प्रभु से मेल को टूटने नहीं देता और ५. इसी कारण सूर्य के समान चमकता है।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

पति-पत्नी के कर्त्तव्य

सम॒ग्निर॒ग्निना॑ गत॒ सं दैवे॑न सवि॒त्रा सꣳसूर्ये॑णारोचिष्ट।
स्वाहा॒ सम॒ग्निस्तप॑सा गत॒ सं दैव्ये॑न सवि॒त्रा सꣳसूर्ये॑णारूरुचत॥१५॥

मन्त्र संख्या १२ में पति को 'अग्नि' तथा १३ में पत्नी को 'स्वाहा' शब्द से स्मरण किया गया है। मूल अग्नि तो प्रभु ही हैं जो संसार में सभी उन्नतियों के साधक हैं (**अग्नि:**=अग्रेणी:)। घर में पति भी अग्नि है, उसने घर को आगे ले-चलना है। १. (क) यह **अग्नि:**=घर का मुखिया **अग्निना**=उस ब्रह्माण्ड के सञ्चालक प्रभु से **संगत**=मेलवाला हो। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते प्रभु को भूले नहीं। (ख) पृथिवीस्थ देवों का मुखिया भौतिक 'अग्नि' है—अन्य सब देवों का यह मुखस्थानीय है। सब देवता इसी के द्वारा हवि खाते हैं। गृहपति को चाहिए कि वह इस अग्नि से संगत हो। इसमें प्रात:-सायं हव्य पदार्थ डालने का अवश्य ध्यान करे। इस देवयज्ञ को कभी भूले नहीं। जिस घर में यह देवयज्ञ नियम से चलता है, वहाँ रोग तो आते ही नहीं, अकेले खा लेने की वृत्ति भी नहीं बनती। मनुष्य यज्ञशेष को खाने के स्वभाव का विकास कर पाता है। (२) इस गृहपति को चाहिए कि वह **दैवेन सवित्रा**=देवों के प्रकाशक उस सवितादेव से **संगत**=संगत हो। प्रभु के चरणों में बैठकर हम उत्तम प्रेरणा प्राप्त करते हैं और अपने में देवत्व को विकसित करते हैं। (३) यह गृहपति **सूर्येण**=ब्रह्मज्ञान के सूर्य से **सम् अरोचिष्ट**=दीप्त हो, अर्थात् गृहपति ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

संक्षेप में, उसके हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे हों, उसका हृदय प्रभु के स्मरण से दूर न हो और उसका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से दीप्त हो। इसी भावना को दुहराते हुए कहते हैं कि—(१) **स्वाहा अग्नि:**=त्याग की भावना से ओत-प्रोत पत्नीवाला, घर की उन्नति की भावना से भरा हुआ यह गृहपति **तपसा संगत**=तप से युक्त हो। तप का सामान्य भाव आलस्य में न फँसकर सदा क्रिया में लगे रहने से है। गृहपति व गृहपत्नी की क्रियाशीलता पर ही सम्पूर्ण उन्नति निर्भर है। वे तपस्वी न होकर आरामपसन्द जीवनवाले हो गये तो घर का ह्रास अवश्यंभावी है। (२) यह पत्नीसहित पति **दैव्येन सवित्रा**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए हितकर उस प्रेरक प्रभु से **संगत**=युक्त हो। पति-पत्नी दोनों ही प्रभु के उपासक हों—प्रभु से अपना सम्बन्ध टूटने न दें। इसी से उनमें सम्पूर्ण दिव्यता का विकास होना है। सन्तानों को उत्तम बनाना भी इस प्रभु के सम्पर्क में बैठने पर निर्भर है। (३) यह प्रभु के उपासक पति-पत्नी ही **सूर्येण**=ज्ञान के प्रकाश से **सम् अरूरुचत**=सम्यक् देदीप्यमान होते हैं।

भावार्थ—गृहपति व गृहपत्नी का यह कर्तव्य है कि (१) वे आलस्य को छोड़कर तपस्वी जीवन बनाएँ और यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे रहें (२) प्रभु के साथ अपना सम्पर्क अवश्य बनाएँ। (३) ज्ञान के सूर्य से दीप्त होने का प्रयत्न करें।

ऋषि:—**दध्यङ्ङाथर्वण:**। देवता—**ईश्वर:**। छन्द:—**भुरिग्बृहती**। स्वर:—**मध्यम:**।

'स्वाहा' और 'अग्नि' का प्रभु-चिन्तन

धर्त्ता दिवो वि भाति तपसस्पृथिव्यां धर्त्ता देवो देवानाममर्त्यस्तपोजा:।
वाचमस्मे नि यच्छ देवायुवम्॥१६॥

१४ तथा १५ मन्त्र में **'अग्नि व स्वाहा'**=पति+पत्नी का प्रभु के सम्पर्क में आने के प्रयत्न का वर्णन है। वे प्रभु का स्मरण निम्न रूप में करते हैं—(१) **दिव: धर्त्ता**=वे प्रभु प्रकाशक का धारण करनेवाले हैं—सारा प्रकाश उन्हीं से प्राप्त होता है। प्रकाश के स्रोत वे प्रभु हैं। पवित्र हृदयों में उस प्रकाश का दर्शन होता है। (२) **विभाति तपस:**=वे प्रभु तप के कारण विशेषरूप से दीप्त हो रहे हैं। प्रभु के इस तीव्र तप से ही सृष्टि के प्रारम्भ में

'ऋत व सत्य' की उत्पत्ति होती है। अपने तप के कारण ही प्रभु अपने परम स्थान से पतित नहीं होते। (३) **पृथिव्यां धर्त्ता**=हे प्रभो! आप ही इस पृथिवी पर सबके धारण करनेवाले हो। वस्तुतः प्रभु जिसका धारण करना ठीक समझते हैं उसे कोई मार नहीं सकता और जिसे प्रभु समाप्त करना चाहें उसे कोई बचा नहीं सकता। सबके धारण के लिए प्रभु की शतशः, सहस्रशः क्रियाएँ चल रही हैं। (४) **देवानां देवः** सूर्यादि प्रकाशकों के प्रकाशक आप ही हैं (देवो द्योतनात्) **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**=प्रभु की दीप्ति से ही सब ज्योतिर्मय पिण्ड दीप्त हो रहे हैं। (५) **अमर्त्यः**=वे प्रभु अमर हैं। वैसे तो आत्मतत्त्व भी अमर है, परन्तु जीव कर्मनुसार विविध योनियों में जन्म लेता है और शरीरों के छोड़ने से मर्त्य कहलाता है। प्रभु का शरीरधारण व शरीरत्याग से कोई सम्बनध नहीं है। (६) **तपोजाः**=वे प्रभु तप से प्रादुर्भूत होते हैं, अर्थात् कोई भी उपासक तप से अपने हृदय को पवित्र करता है तो वहाँ हृदयस्थ प्रभु के दर्शन कर पाता है। (७) प्रभु-दर्शन करनेवाला तपस्वी प्रभु से प्रार्थना करता है कि **अस्मे**=हमारे लिए **देवायुवम्**=(यु=मिश्रण) सब दिव्य गुणों का सम्पर्क करानेवाली **वाचम्**=वाणी को **नियच्छ**=निश्चितरूप से हमें दीजिए। यह वेदवाणी पढ़ी व समझी जाकर तथा अनुष्ठित होकर सचमुच हमारे जीवनों को दिव्य बनाती है।

भावार्थ—प्रभु प्रकाश के पुञ्ज हैं। उनके सम्पर्क में हम उस प्रकाश को पानेवाले हों।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

जगदीश-दर्शन

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसानऽआ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः॥१७॥

प्रभु का चिन्तन करता हुआ स्वाहा के साथ अग्नि (अपनी पत्नी के साथ पति) कहता है कि (१) मैं **गोपाम्**=सब वेदवाणियों के रक्षक उस प्रभु को **अपश्यम्**=देखता हूँ। वे प्रभु 'गोपा' हैं—रक्षक हैं। वे गौओं के पालक हैं तो मैं उनकी गौ हूँ (२) **अनिपद्यमानम्**=वे प्रभु कभी नीचे लेट नहीं जाते। सदा सावधान हैं। वे अप्रमत्त होकर हमारी रक्षा कर रहे हैं। (३) **आ च**=चारों ओर तथा समीप वर्त्तमान **परा च**=और दूर-दूर भी वर्त्तमान **पथिभिश्चरन्तम्**=मार्गों से विचरण करते हुए उस प्रभु को मैं देखता हूँ। वे प्रभु सर्वत्र हैं। हम सबके हृदयों में भी विद्यमान हैं, वहाँ स्थित हुए-हुए ही वे **गोपा**=सब वेदवाणियों के रक्षक है। हमें वेद का ज्ञान देते हैं, परन्तु इस वेदवाणी को सुन वे ही पाते हैं जिनका हृदय निर्मल होता है। ज्ञान की वाणियों से वे प्रभु हमारे जीवन को प्रकाशमय करके हमारी इन्द्रियों को निर्मल बनाते हैं—इन्हें आसुरी आक्रमणों से बचाते हैं, इसलिए भी वे प्रभु **गो-पा**=इन्द्रियों के रक्षक हैं। (४) **सः**=वे प्रभु **सध्रीचीः**=(सह अञ्चन्ति) मिलकर चलनेवाले लोकों के तथा **विषूचीः**=(वि-सु-अञ्च) विविध मार्गों में उत्तमता से चलनेवाले लोकों को **वसानः**=अच्छादित कर रहे हैं, अर्थात् अपने गर्भ में धारण कर रहे हैं। जैसे सूर्य के चारों ओर कुछ पिण्ड घूम रहे हैं, सूर्य उन्हें अपने आकर्षण से खेंचे हुए आकाश में आगे-आगे चला रहा है। ये लोक 'सध्रीची' कहलाते हैं, परन्तु कुछ पिण्ड ऐसे भी हैं जो भिन्न-भिन्न दिशाओं में अलग-अलग गति कर रहे हैं, ये 'विषूची' हैं। प्रभु इन सबको धारण किये हुए हैं।

यहाँ प्रसंगवश यह भी स्पष्ट हो गया कि 'लोक दो भागों में बटे हुए हैं—कुछ समुदाय

में चलनेवाले व कुछ अलग-अलग चलनेवाले। (५) वे प्रभु इन सब **भुवनेषु अन्तः**=लोक-लोकान्तरों के अन्दर **आवरीवर्त्ति**=चारों ओर अपनी सत्ता से वर्त्तमान है। देखनेवाले के लिए प्रत्येक पिण्ड में प्रभु की सत्ता के चिह्न विद्यमान हैं। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'दीर्घतमा' है। इसने अपने तम-अज्ञानान्धकार का विद्रावण किया है (दृ विदारणे) अन्धकार के दूर होने पर ही यह उस प्रभु को देख पाया है (अपश्यम्)।

भावार्थ—वे प्रभु ही रक्षक हैं, सब लोकों को अपने में धारण किये हुए हैं, सर्वत्र वर्त्तमान हैं।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**अत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रभु का अनुगमन

विश्वासां भुवां पते विश्वस्य मनसस्पते विश्वस्य वचसस्पते सर्वस्य वचसस्पते। देवश्रुत्त्वं देव घर्म देवो देवान् पाह्यत्र प्रावीरनु वां देववीतये। मधु माध्वीभ्यां मधु माधूचीभ्याम्॥१८॥

पति-पत्नी प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं कि (१) **विश्वासां भुवां पते**=हे प्रभो! आप सब भूलोकों के पति हो। वे सब लोक जिनमें प्राणी हैं वे, 'भू' कहलाते हैं—**'भवन्ति भूतानि यस्याम्'**=इन सब लोकों की रक्षा प्रभु द्वारा ही की जा रही है। (२) इनमें रहनेवाले प्राणियों के मनों की रक्षा प्रभु द्वारा ही होती है **विश्वस्य**=सबके **मनसः**=मनों के **पते**=रक्षक प्रभो! आप ही हमारे मनों को वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं। (३) **विश्वस्य वचसःपते**=सम्पूर्ण वचनों के पति प्रभो! सम्पूर्ण वेदवाणी के स्वामी आप ही हैं। हृदयस्थरूप से **सर्वस्य वचसःपते**=सम्पूर्ण वचनों के आप ही पति हैं। हृदय में आपकी वाणी उच्चरित हो रही है, परन्तु उस वाणी को सब नहीं सुन पाते! कारण यही है कि (४) **देवश्रुत्**=आपकी वाणी को देवपुरुष ही सुनते हैं, क्योंकि **त्वम्**=आप **देव**=देव हो। मनुष्यों की वाणी को जैसे मनुष्य सुनता है, इसी प्रकार उस महान् देव की वाणी को देव ही सुन पाते हैं। सामान्य लोग तो **'उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्'**=सुनते हुए भी उसे सुनते नहीं। (५) **घर्म**=हे प्रभो! आप ही शक्ति हो। प्रभु का उपासक भी इस शक्ति से शक्तिसम्पन्न हो जाता है। (६) हे प्रभो! **देवः देवान् पाहि**=आप देव हैं और देवों की रक्षा करते हैं। जो भी देव बनने का प्रयत्न करता है वह उस महादेव की रक्षा का पात्र होता है। (७) हे प्रभो! **अत्र**=इस मानव-जीवन में **पाहि**=आप हमारी विशेषरूप से रक्षा कीजिए। प्रायः इस जीवन में आकर हमें विविध विषयों की खाज-सी हो जाती है। हमारा आहार-विहार सब दूषित-सा हो जाता है। प्रभु की कृपा ही हमारी रक्षा करेगी!

यह सुनकर प्रभु कहते हैं (८) **अनु**=मेरे पीछे आओ, **वाम्**=तुम दोनों को मैं **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए ले-चलता हूँ। प्रभु के पीछे चलेंगे तो उत्तरोत्तर हममें दिव्य गुणों की वृद्धि होगी। हमारे जीवन सुन्दर, मंगलमय होकर संसार को सुखमय बनानेवाले होंगे (९) **माध्वीभ्याम्**=(मधुरगुणयुक्ताभ्याम्) माधुर्य के गुण से युक्त तुम दोनों के लिए **मधु**=मैं सब ज्ञानों में श्रेष्ठ 'मधुविद्या' को प्राप्त कराता हूँ (**'मधु'**=मधुरविज्ञान—द०) प्रकृति का ज्ञान ही जब आश्चर्य को जन्म देकर उन भौतिक पिण्डों व पदार्थों के निर्माता की ओर मनुष्य के ध्यान को ले-जाते हैं तब वह ज्ञान 'मधु' हो जाता है (१०) **माधूचीभ्याम् (मधु+अञ्च्)**=माधुर्य के साथ गति करनेवाले तुम दोनों के लिए **मधु**=मैं माधुर्य को प्राप्त कराता हूँ। **'मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्'** के अनुसार तुम्हारा

आना-जाना भी मधुर हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु के अनुगमन के तीन लाभ हैं १. दिव्य गुणों की प्राप्ति, २. मधुविद्या का ग्रहण, ३. माधुर्य का सञ्चार।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

अध्वर का धारण

हृदे त्वा मन॑से त्वा दि॒वे त्वा सूर्या॑य त्वा। ऊ॒र्ध्वोऽअ॑ध्व॒रं दि॒वि दे॒वेषु॑ धेहि॥१९॥

'**दध्यङ्**'='ध्यान के मार्ग पर चलनेवाला' प्रभु से कहता है कि (१) **हृदे त्वा**=मैं अपने हृदय के लिए आपका स्मरण करता हूँ। प्रभु-स्मरण से हृदय प्रसादमय व सब दुःखों से दूर रहता है। (२) **मनसे त्वा**=मैं अपने मन के शोधन के लिए आपका ग्रहण करता हूँ। प्रभु-चिन्तन से मन एकाग्र होता है और विकल्पों से ऊपर उठकर शिवसंकल्पवाला हो जाता है। (३) **दिवे त्वा**=प्रकाश के लिए मैं आपका स्मरण करता हूँ। प्रभुस्मरण से जीवन में कभी अन्धकार नहीं आता, मार्ग स्पष्ट दिखता है। वस्तुतः हृदयस्थ प्रभु ही उस समय हमारा सञ्चालन करते हैं। वहाँ ग़लती का प्रश्न ही नहीं रहता (४) **सूर्याय त्वा**=प्रभो! मैं सूर्य की भाँति निरन्तर नियमित गति के लिए आपका स्मरण करता हूँ। प्रभु के बनाये संसार में कोई वस्तु स्थिर नहीं, सभी क्रियाशील हैं, संसार का अर्थ ही 'संसरणशील' है, 'जगत्' का अर्थ है—'गतिशील। जीव का भी नाम आत्मा है—'सतत गतिशील' (अत सातत्यगमने) (५) हे प्रभो! आप **ऊर्ध्वः**=सर्वोच्च स्थान में स्थित हैं। परमेष्ठी हैं। इस परम स्थान में स्थित हुए-हए आप **दिवि** ज्ञान का प्रकाश होने पर **देवेषु**=दिव्य गुणोंवाले हम लोगों में **अध्वरम्**=यज्ञ को **धेहि**=धारण कीजिए। हम किसी प्रकार की हिंसा न करें। वस्तुतः नैतिक मार्ग में सर्वोच्च स्थान अहिंसा का ही है। मैं सभी के साथ प्रेम से चलूँ, किसी की हिंसा न करूँ। जो व्यक्ति द्वेष से ऊपर उठ पाता है, वही प्रभु को पाने का अधिकारी होता है।

भावार्थ—हमारा हृदय प्रभु का स्मरण करे, मन प्रभु का चिन्तन करे, हमारा मस्तिष्क प्रकाशमय हो, जीवन क्रियाशील हो, हम ज्ञानी बनकर यज्ञ को अपने जीवन का अङ्ग बनाएँ, संसार में किसी से द्वेष न करें।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

पि॒ता नो॑ऽसि पि॒ता नो॑ बोधि॒ नम॑स्तेऽअस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः। त्वष्टृ॑मन्तस्त्वा सपेम पु॒त्रान्प॒शून् मयि॑ धेहि प्र॒जाम॒स्मासु॑ धे॒ह्यरि॑ष्टा॒हꣳस॒ह पत्या॑ भूयासम्॥२०॥

गृहपत्नी विशेषरूप से प्रभु-प्रार्थना करती है कि (१) हे प्रभो! **पिता नः असि**=आप ही हमारे पिता—रक्षक हैं। (२) **पिता नः बोधि**=हमारे पिता आप हमें ज्ञान दीजिए। पिता का पहला काम पुत्र को योग्य बनाना है। (३) **नमः ते**=हम आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। पुत्र का कर्त्तव्य है कि वह धृष्ट न हो। (४) **मा मा हिंसीः**=आप हमें हिंसित मत कीजिए। ज्ञान के अभाव में ही हमारी हिंसा होती है। खान-पान में अज्ञानवश गलतियों से स्वास्थ्य बिगड़ता है तो अज्ञानवश परस्पर द्वेष से लड़ाई-झगड़े बढ़कर हिंसा होती है। (५) **त्वष्टृमन्तः**=वेदवाणीवाले (वाग्वै त्वष्टा। ऐ० २।४), ज्ञान की वाणियों को प्राप्त होनेवाले हम **त्वा**=आपकी **सपेम**=पूजा करें (To honour, to worship), आपकी आज्ञा का पालन करें (to obey) और आपको प्राप्त करें (to obtain) (६) **मयि**=आपके वेद के आदेश

के अनुसार चलनेवाली मुझमें **पुत्रान् पशून्**=पुत्रों को व पशुओं को **धेहि**=स्थापित कीजिए। आपकी कृपा से हमें उत्तम सन्तान प्राप्त हों और उनके पालन के लिए हमें उत्तम पशु भी प्राप्त हों। गौवों के दूध से उनके मस्तिष्क का सुन्दर पोषण हो और घोड़ों से व्यायाम के द्वारा उनके शरीर सबल हों। (७) **अस्मासु**=हमारे जीवनों में भी **प्रजाम्**=प्रकृष्ट विकास को **धेहि**=धारण कीजिए। हमारी शक्तियों का उत्तम विकास हो और (८) अन्त में **अहम् पत्या सह**=अपने पति के साथ **अरिष्टा**=अहिंसित **भूयासम्**=होऊँ। मेरा शरीर रोगों से हिंसित न हो और मन द्वेष से आविष्ट न हो। हम पति-पत्नी परस्पर हाथ पकड़कर सुविधा से इस भवसागर को पार कर जाएँ।

भावार्थ—प्रभु को पिता जानते हुए हम उससे ज्ञान प्राप्त करें। ज्ञानवाले होकर प्रभु के उपासक बनें। इहिलौकिक साफल्य के साथ हम इस भवसागर को तैरने का भी ध्यान करें।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अहः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा।
रात्रिः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा॥२१॥

अध्याय की समाप्ति पर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि (१) **अहः**=दिन **केतुना**=प्रज्ञा से-प्रकाश से **जुषताम्**=सेवित हो। हमारा दिन प्रकाशमय बीते। सारा दिन नाना क्रियाओं में व्यापृत होते हुए भी हम कभी उलझन में न पड़ें। **सुज्योतिः**=हम उत्तम ज्योतिवाले हों। दिन हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाला हो। अवकाश के समय को स्वाध्याय में बिताते हुए हम अपनी ज्ञान की ज्योति को बढ़ानेवाले बनें। **ज्योतिषा**=इस ज्योति के हेतु से **स्वाहा**=हम स्वार्थ त्यागवाले बनते हैं। स्वार्थ की भावनाएँ हमारे जीवन को कुछ भोगप्रवण बनाकर अन्ततः अन्धकारमय कर देती हैं, अतः प्रकाश के हेतु हम स्वार्थ को छोड़ते हैं। (२) **रात्रिः**=दिनभर के काम के बाद विश्राम देकर रमयित्री—आनन्द देनेवाली यह रात भी **केतुना**=प्रज्ञा व प्रकाश से **जुषताम्**=सेवित हो। स्वप्न में सब इन्द्रिय-वृत्तियों के केन्द्रित हो जाने से हम प्रभु-दर्शन करनेवाले बनें। **सुज्योतिः**=रात्रि के समय भी हम उत्तम ज्योतिवाले हों। ज्योतिवाले होते हुए हम स्वप्न में भी अभद्र को अपने में प्रविष्ट न होने दें, स्वप्न में भी पाप न कर बैठें। **ज्योतिषा**=इस ज्योति के हेतु से ही हम **स्वाहा**=स्वार्थ को छोड़ते हैं। स्वार्थ से ऊपर उठने पर हमारे दिन-रात चौबीसों घण्टे प्रकाशमय होंगे। (३) इस प्रकाश में निवास करनेवाला व्यक्ति कभी भी न्यायमार्ग से विचलित नहीं होता है, **न थर्वति**=डाँवाँडोल नहीं होता। बड़े-से-बड़े प्रलोभन भी इसे डिगानेवाले नहीं होते। न डिगने के कारण यह 'आथर्वण' कहलाता है।

भावार्थ—क्या दिन और क्या रात, हम सदा प्रकाश में विचरनेवाले बनें। उत्तम ज्योतिवाले होते हुए सदा न्यायमार्ग से चलें।

इति सप्तत्रिंशोऽध्यायः॥

अथाष्टात्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**उष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
आ ददेऽदित्यै रास्नासि॥१॥

प्रस्तुत मन्त्र से ही सैंतीसवें अध्याय का प्रारम्भ हुआ था। अन्त के **'अदित्यै रासनासि'** के स्थान पर वहाँ **'नारिरसि'** ये शब्द थे। 'संसार की प्रत्येक वस्तु हमारी शत्रु नहीं है' के स्थान में यहाँ शब्द ये हैं कि **अदित्यै** =अखण्डन व पूर्ण स्वास्थ्य के लिए तू **रास्ना**=कमरबन्ध है, अर्थात् तू हमारे पूर्ण स्वास्थ्य की साधिका है, परन्तु कब? जब १. **त्वा**=तुझे **सवितुः देवस्य**=उस सविता—सबके प्रेरक, देव—दिव्य गुणों के पुञ्ज व सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश देनेवाले प्रभुके **प्रसवे**=प्रेरणा व आज्ञा में **आददे**=ग्रहण करता हूँ। प्रभु का आदेश संक्षेप में यह है कि **'त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**=त्यागपूर्वक उपभोग करो, अतः हम प्रत्येक वस्तु का सेवन करते हुए उसमें उलझें नहीं। हम वस्तु का ग्रहण करें—वस्तु हमारा ग्रहण न कर ले। स्वाद में पड़े और वस्तु के शिकंजे में फँसे। २. जब तुझे **अश्विनोः**=प्राणापान के **बाहुभ्याम्**=प्रयत्न से ग्रहण करता हूँ, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से कमाई वस्तु का ही हम ग्रहण करते हैं, बिना श्रम के हम कुछ भी नहीं लेते। ३. तुझे **पूष्णः**=पूषा के **हस्ताभ्याम्**=हाथों से ग्रहण करता हूँ। जब पोषण के दृष्टिकोण से हम प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करते हैं तब वह हमारे स्वास्थ्य को सिद्ध करनेवाली बनती है। वेद के शब्दों में वह **'अदिति'** की 'रास्ना' हो जाती है। 'अदितिः अदीना देवमाता' निरुक्त के शब्दों के अनुसार (क) प्रभु की आज्ञा में त्यागपूर्वक वस्तुओं के ग्रहण से (ख) प्राणापान के प्रयत्न से—पुरुषार्थपूर्वक अर्जन करने से और (ग) पोषण के दृष्टिकोण से वस्तुओं के लेने पर हम अदीन बनेंगे और अपने जीवन में दिव्य गुणों का निर्माण कर सकेंगे।

भावार्थ—हमारे जीवन के तीन सूत्र हों—हम १. प्रभु की आज्ञा में २. प्रयत्न से ३. पोषण के ही लिए वस्तुओं का ग्रहण करें।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

इडऽएह्यदितऽएहि सरस्वत्येहि। असावेह्यसावेह्यसावेहि॥२॥

संसार-यात्रा का सुखमय बीतना बहुत कुछ पत्नी पर निर्भर करता है। प्रस्तुत मन्त्र में पति कहता है कि १. **इडे एहि**=हे इडे! तू मुझे प्राप्त हो। 'इडा वै मानवी यज्ञानूकाशिन्यासीत्' तै० १। १। ४।४। इडा का अभिप्राय है **'मानवी'**=मनु की पुत्री=समझदार की सन्तान, अर्थात् पूरी समझदार तथा **'यज्ञानूकाशिनी'**=अपने जीवन से यज्ञ को प्रकाशित करनेवाली। **अनूकाश**=(reflection of light)। मुझे वह पत्नी प्राप्त हो जो (क) समझदार हो और (ख) यज्ञिय वृत्तिवाली हो। **असौ**=वह 'मानवी' और 'यज्ञानुकाशिनी' तू **एहि** =मुझे प्राप्त हो। २. **अदिते एहि**=हे अदिते! तू मुझे प्राप्त हो। अदिति का अभिप्राय है **अदीना देवमाता**=न क्षीण होनेवाली तथा देवों का निर्माण करनेवाली। मुझे पत्नी वह प्राप्त हो जो उचित आत्म-सम्मान की भावनावाली हो तथा दिव्य गुणोंवाली सन्तानों का निर्माण

करनेवाली हो। 'अदिति' शब्द की व्युत्पत्ति शतपथ ७.४.२.७ में 'इयं हि सर्वं ददते' की गई है, अत: पत्नी वही ठीक है जो सब-कुछ देने की वृत्ति रखती हो। **असौ**=वह (क) अदीन व देवों की निर्मात्री तथा (ख) सब-कुछ दे सकनेवाली तू **एहि**=मुझे प्राप्त हो। ३. **सरस्वति**=हे विज्ञानवति एवं सुशिक्षिते! **एहि**=तू मुझे प्राप्त हो। पत्नी उत्तम ज्ञानवाली तथा सुशिक्षित और परिष्कृत जीवनवाली हो। **असौ एहि**=उत्तम शास्त्रीय ज्ञानवाली (Learned) पत्नी मुझे प्राप्त हो। **असौ एहि**=सभ्य व सुशिक्षित (cultured) पत्नी मुझे प्राप्त हो। **असौ एहि**=सदाचारिणी पत्नी मुझे प्राप्त हो। ऐसी पत्नी को प्राप्त करके यह दृढ़ता से अपने पथ पर चलता हुआ 'आथर्वण' संसार-यात्रा में डाँवाँडोल नहीं होगा।

भावार्थ—पत्नी के अन्दर ये गुण होने चाहिएँ : (क) समझदारी, (ख) यज्ञियवृत्ति, (ग) अदीनता व दिव्यता, (घ) उदारता और (ङ) शिक्षा।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**पूषा**। छन्दः—**भुरिक्साम्नीबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

अदित्यै रास्नासीन्द्राण्याऽउष्णीषः। पूषासि घर्माय दीष्व॥३॥

गतमन्त्र के विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि १. हे पत्नि! तू **अदित्यै**=स्वास्थ्य के लिए **रास्ना**=कमरबन्ध (हपतकसम) **असि**=है। पत्नी 'धर्म-पत्नी' है। वह पति का यज्ञों से संयोग करनेवाली है, स्वयं यज्ञियवृत्तिवाली होती हुई पति के जीवन को भी यज्ञिय बनाती है। इस प्रकार विलास के मार्ग से हटाकर यह स्वास्थ्य को सिद्ध करती है। २. **इन्द्राण्यै**=इन्द्र की प्रिय पत्नी की तू **उष्णीषः**=पगड़ी है। **'इन्द्राणी व इन्द्रस्य प्रिया पत्नी, तस्या उष्णीषः विश्वरूपतम**—श० १४।२।१।८। इन्द्र की प्रिय पत्नी इन्द्राणी है। उसकी उष्णीष का अभिप्राय है सब वस्तुओं को सुन्दररूप देनेवाली'=पति ने 'इन्द्र—इन्द्रियों का अधिष्ठाता, अर्थात् जितेन्द्रिय बनना है, उसको प्रीणित करनेवाली पत्नी 'इन्द्राणी' कहलाती है। यह घर में सब वस्तुओं को एक सुन्दर रूप देनेवाली होती है, अर्थात् इसके आने पर सारा घर सुव्यवस्थित हो जाता है। सब वस्तुएँ ठीक आकार में आ जाती हैं। ३. **पूषा असि**=तू सबको पोषण प्राप्त करानेवाली है। वस्तुत: घर में भोजनादि की ठीक व्यवस्था का भार पत्नी पर ही होता है। यह उस व्यवस्था को ठीक रखती हुई ठीक ढंग से सबका पोषण करनेवाली बनती है। ४. **घर्माय**=शक्ति के लिए **दीष्व**=(to soar, to fly) तू ऊँची उड़ानवाली बन। उच्च लक्ष्य का ध्यान ही हमें हीन आकर्षणों से बचाता है और हमारी शक्ति को नष्ट नहीं होने देता है।

भावार्थ—पत्नी यज्ञिय जीवनवाली हो, जिससे विलास से स्वास्थ्य को समाप्त न कर दे। घर में सब वस्तुओं को सुव्यवस्थित प्रकार से रखकर घरको सुन्दर बनाये। भोजन की ठीक व्यवस्था से सबके स्वास्थ्य को सिद्ध करे और उच्च लक्ष्यवाली बनकर शक्ति को नष्ट न होने दे।

ऋषिः—**आथर्वणः**। देवता—**सरस्वती**। छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व।
स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत्॥४॥

१. **अश्विभ्याम्**=प्राणापानों के लिए **पिन्वस्व**=तू अपने को प्रीणित कर, उत्साहित कर, अर्थात् प्राणापान की साधना करने के लिए (**पिन्व्**=**जिन्व्**=to urge on) तू अपने को उत्साहित करनेवाली हो। २. **सरस्वत्यै**=ज्ञान व शिक्षा के लिए **पिन्वस्व**=तू उत्साह-सम्पन्न हो। ज्ञान में तेरी रुचि हो—सुशिक्षित होने की तेरी प्रबल कामना हो। ३. **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय

बनने के लिए **पिन्वस्व**=तुझमें सदा उत्साह हो। वस्तुतः 'प्राणसाधना, ज्ञान व शिक्षा तथा जितेन्द्रियता' ही में अध्यात्म-उन्नति की मौलिक बात है। प्राणसाधना से शरीर पूर्णतया नीरोग रहता है। ज्ञान व शिक्षा हमारे मस्तिष्क को स्वस्थ बनाते हैं तथा जितेन्द्रियता मानस-पवित्रता का मूल बनती है। ४. (क) इस प्रकार हम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनते हैं। इस प्राणशक्ति के सम्पादन करनेवाले को प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**=हे प्राण-शक्तिसम्पन्न (प्राण एवेन्द्रः-श० १२।९।१।१४) तू **स्वाहा**=स्वार्थ के त्यागवाला बन। (ख) जब हम सरस्वती की साधना करके ज्ञान व शिक्षा का सम्पादन करते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**=हे ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले जीव! तू **स्वाहा**=स्वार्थत्यागवाला बन। (ग) जितेन्द्रियता को सिद्ध करके 'इन्द्र' बननेवाले इस साधक से प्रभु कहते हैं कि **इन्द्रवत्**= (हृदयमेवेन्द्रः-श० १२।९।१।१५) हे उत्तम मन व हृदयवाले जीव! तू **स्वाहा**=स्वार्थत्याग करनेवाला बन। वस्तुतः स्वार्थत्याग के बिना प्राणापान व जितेन्द्रियता का साधन नहीं हो सकता।

भावार्थ—हम प्राणसाधना, ज्ञान, व जितेन्द्रियता के लिए सदा उत्साह धारण करें

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वाक्**। छन्दः—**निचृदतिजगती**। स्वरः—**निषादः**।

यस्ते॒ स्तन॑ः शश॒यो यो म॑यो॒भूर्यो र॑त्न॒धा व॑सु॒विद्यः सु॒दत्र॑ः।
येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वेऽकः। उ॒र्व॒न्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि॥५॥

१. पिछले मन्त्र में प्राण, ज्ञान व जितेन्द्रियता की साधना का उल्लेख हुआ है। उस साधना में सर्वप्रमुख सहायक वेदवाणी है। वेदवाणी को 'गौ' भी कहते हैं। इस वेदवाणीरूप गौ से मन्त्र का ऋषि 'दीर्घतमा' कहता है कि **यः**=जो **ते**=तेरा **स्तनः शशयः**=(शशयः शिश्यानः-नि०) हमारे जीवनों को प्लुतगतिवाला बनानेवाला है **तम्**=उसको **इह**=यहाँ **धातवे**=हमारे पीने के लिए **अकः**=कर, अर्थात् तेरा ज्ञान हमें क्रियाशील बनाये। २. हमें तू उस ज्ञान का पान करा जो **मयोभूः**=कल्याण उत्पन्न करनेवाला है। वस्तुतः क्रियाशीलता का ही परिणाम मंगल है। 'मंगल' शब्द 'मगि गतौ' धातु से बना है। गति में ही कल्याण है। अकर्मण्यता अकल्याण का कारण है। ३. उस स्तन को पिला **यः**=जो **रत्नधा**=हममें रमणीय वस्तुओं का धारण करनेवाला है। इस ज्ञान की वाणी को पीकर हमारे जीवन से सब बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं और हमारा जीवन रमणीय बन जाता है। ४. हमें उस स्तन का पान करा जो **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त कराता है। इस ज्ञान की वाणी से हम वसुओं को प्राप्त करने की क्षमतावाले होते हैं। ५. यह वेदवाणी का स्तन तो हमारे लिए **सुदत्रः**=सब उत्तम वस्तुओं को (सु) देकर (द) हमारी रक्षा करनेवाला है (त्र)। ६. हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवि! **येन**=जिस अपने स्तन से तू **विश्वा**=सब **वार्याणि**=वरणीय, उत्तम वसुओं का **पुष्यसि**=पोषण करती है उस स्तन को तू हमें पिलानेवाली हो। ७. तेरे इस स्तन का पान करके मैं **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल हृदयान्तरिक्ष को **अन्वेमि**=प्राप्त होता हूँ। इस ज्ञान से मेरा सारा व्यवहार विशाल हृदय के अनुकूल होता है, मेरे व्यवहार में संकुचित-हृदयता नहीं टपकती।

भावार्थ—वेदवाणीरूप गौ के स्तन का पान करके मैं 'क्रियाशील, मंगलमय, ज्ञनसम्पन्न, व वसुमान्' बनता हूँ। सब वरणीय वसुओं को प्राप्त करता हूँ और विशाल हृदय बनता हूँ।

सूचना—वेद की शिक्षा मनुष्य को कहती है १. 'मनुर्भव' तू मनु बन, समझदार बन २. 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः' भूमि को अपनी माता समझ। भूमि के एकदेश को अपनाकर तू देशभक्ति के नाम पर भी संकुचित-हृदय मत बन। वस्तुतः यही मनुष्य **दीर्घतमा**=अज्ञान को विदीर्ण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परि गृह्णाम्यन्तरिक्षेणोप यच्छामि। इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य घर्मं पात वसवो यजत वाट्। स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये॥६॥

उसी वेदवाणी से कहते हैं कि १. **गायत्रं छन्दः असि**=तू गायत्र छन्द है, **त्रैष्टुभं छन्दः असि**=तू त्रैष्टुभ छन्द है। यद्यपि वेदवाणी केवल इन दों छन्दों की बनी हुई नहीं है तो भी यहाँ दो ही छन्दों का उल्लेख इसलिए है कि "**एते वाव छन्दसां वीर्यवत्तमे यद् गायत्री त्रिष्टुप् च**" (तां० २०. १६) छन्दों में गायत्री और त्रिष्टुप् अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, ये अधिक शक्तिशाली हैं यह वेदवाणी 'गायन्तं त्रायते' अपने गान करनेवाले का त्राण करती है। जो भी वेदवाणी को पढ़ते हैं, वे इसके द्वारा सुरक्षित होते हैं तथा यह वेदवाणी 'त्रि+ष्टुप' तीनों 'काम-क्रोध व लोभ' को रोकनेवाली होकर त्रिविध कष्टों को दूर करती है। २. मैं **त्वा**=तुझे **द्यावापृथिवीभ्यां**=मस्तिष्क व शरीर (मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) के स्वास्थ्य के लिए **परिगृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। अथवा "**प्राणापानौ वै द्यावापृथिवी**"—(श० १४.२.२.३६) मैं अपने प्राण व अपान को शक्तिसम्पन्न बनाने के लिए तेरा ग्रहण करता हूँ। ३. **अन्तरिक्षेण**=**'मनोऽन्तरिक्षलोकः'** (श० १४.४.३.११) मन के उद्देश्य से **उपयच्छामि**=मैं तुझे अपनाता हूँ (उपयच्छा=स्वीकरण)। वेद का अध्ययन हमें सदा मन को मध्यमार्ग पर चलने का उपदेश देता है। 'अन्तरिक्ष' शब्द का प्रयोग ही 'अन्तरा क्षि' मध्य में निवास का संकेत करता है। 'मेरा मन सब अतियों (Extremes) से बचकर मध्य में ही चले' इस बुद्धि से मैं वेदवाणी को स्वीकार करता हूँ। ४. **इन्द्राश्विना**=हे जीव! तू इन प्राणापान के साथ **सारघस्य मधुनः**=मधु-तुल्य सोमरस की **घर्म**=शक्ति को **पात**=सुरक्षित करनेवाला बन। 'इन्द्र' शब्द से सूचित जितेन्द्रियता व प्राणसाधना शरीर में सोमरक्षा के लिए आवश्यक है। यह शरीर में उत्पन्न होनेवाला सोम, भक्ष्य ओषधियों का सारभूत है, इसी बात को स्पस्ट करने के उद्देश्य से यहाँ सोम के लिए 'मधु' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे शहद (सारघ) मधुमक्षिकाओं से पुष्परस के द्वारा ही तो बनाया जाता है, उसी प्रकार शरीर का सोम भी ओषधिरस का ही सार होना चाहिए। शरीर में इसका सुरक्षित होना ही शरीर की सारी उष्णता व शक्ति का आधार है। ५. इस शक्ति के शरीर में सुरक्षित होने पर हमारा शरीर में निवास उत्तम होता है और हम **वसु**=उत्तम निवासवाले बन जाते हैं। इस सोमपान से शरीर ही नीरोग नहीं होता, मन भी निर्दोष बनता है। इन वसुओं से कहते हैं कि **वसवः**=सोमरक्षा द्वारा वसुत्व सिद्ध करनेवालो! **यजत**=तुम यज्ञशील बनो। यज्ञशीलता विलासमय जीवन की विरोधी भानवा को व्यक्त करती है। सोमरक्षा के लिए इस यज्ञिय जीवन की अत्यन्त आवश्यकता है। ६. **वाट्**=(वट्=बाँटना) तू अपने धन को बाँटनेवाला बन। संविभाग ही मनुष्य को पवित्र बनाता है ७. **स्वाहा**=तू स्वार्थत्याग करनेवाला बन ताकि तू **सूर्यस्य रश्मये**=सूर्य की रश्मियों को प्राप्त कर सके, अर्थात् तेरी ज्ञान की रश्मियाँ दीप्त हों—तू ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बने तथा **वृष्टिवनये**=अन्त में धर्ममेघ समाधि में आनन्द की वर्षा का अनुभव कर।

भावार्थ—वेदाध्ययन से मनुष्य का जीवन वासनाओं से बचता है, उसके अन्दर बाँटकर खाने की वृत्ति उत्पन्न होती है, ज्ञान बढ़ता है और आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वातः**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

क्रियाशील पति

समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा सरिराय त्वा वाताय स्वाहा।
अनाधृष्याय त्वा वाताय स्वाहाप्रतिधृष्याय त्वा वाताय स्वाहा।
अवस्यवे त्वा वाताय स्वाहाशिमिदाय त्वा वाताय स्वाहा॥७॥

आचार्य दयानन्द लिखते हैं कि प्रस्तुत मन्त्रों का विषय है 'विवाह किये स्त्री-पुरुष क्या करें?' प्रस्तुत मन्त्र में पत्नी कहती है कि मैं १. **समुद्राय**=सदा प्रसन्न रहनेवाले **त्वा**=आपके प्रति **वाताय**=वायु के समान अविच्छिन्न गतिवाले के प्रति **स्वाहा**=अपना अर्पण करती हूँ, अपने पिता के घर को छोड़कर आपके समीप होती हूँ। २. **सरिराय (सरिर=सलिल=जल)** जल के समान शान्त **वाताय त्वा**=वायु के समान क्रियाशील आपके लिए **स्वाहा**=अपना अर्पण करती हूँ। ३. **अनाधृष्याय**=वासनाओं से धर्षित न होनेवाले **वाताय त्वा**=गतिशील आपके लिए **स्वाहा**=अपने को सौंपती हूँ। ४. **अ-प्रति-धृष्याय**=प्रत्येक का धर्षण न करनेवाले, अर्थात् औरों को व्यर्थ ही अन्यायरूप से न दबानेवाले **वाताय**=आलस्यशून्य आपके लिए **स्वाहा**=मैं त्याग करती हूँ। ५. **अवस्यवे**= संसार की सब विषय-वासनाओं से रक्षा चाहनेवाले **वाताय त्वा**=गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले आपके लिए **स्वाहा**=(सु आह) मैं शुभ शब्दों का उच्चारण करनेवाली होती हूँ। ६. **अ-शिमि-दाय**=(शिमिति कर्मनाम शामयतेर्वा=शक्नोतेर्वा—नि० ५।१२) कर्मों को न छोड़नेवाले के लिए **वाताय**=क्रियाशील के लिए **स्वाहा**=मैं सदा शुभ शब्दों को बोलनेवाली बनती हूँ। **'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्'** माधुर्यवाली, शान्तिप्रद वाणी बोलनी ही चाहिए। ७. एवं प्रस्तुत मन्त्र में पति की विशेषताएँ इस रूप में दर्शाई गई हैं—(क) वह सदा प्रसन्न रहनेवाला हो—क्रोध न करे, (ख) जल की भाँति शान्त स्वभाववाला हो, (ग) दबे नहीं, (घ) दबाये नहीं, (ङ) वासनाओं से अपनी रक्षा करना चाहे, (च) कभी कर्मों को न छोड़े, क्योंकि कर्म ही शान्ति देते हैं, वासनाओं से बचाते हैं तथा शक्ति की वृद्धि करते हैं। उन कर्मों पर बल देने के लिए ही छह बार 'वाताय' कहा गया है, अर्थात् मनुष्य सदा पाँचों इन्द्रियों व छठे मन को अकर्मण्य न होने दे। एवं, पति का सर्वमहान् गुण 'क्रियाशीलता' ही है।

भावार्थ—पति 'प्रसन्न-शान्त, न दबनेवाला, न दबानेवाला, वासनाओं से ऊपर उठ कर्मों को कभी न छोड़नेवाला, वायु की भाँति सदा क्रियाशील' होना चाहिए।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**अष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**॥

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते स्वाहेन्द्राय त्वादित्यवते स्वाहेन्द्राय त्वाभिमातिघ्ने स्वाहा। सवित्रे त्वऽऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहा बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहा॥८॥

१. **इन्द्राय** जितेन्द्रिय **वसुमते रुद्रवते त्वा**=वसुमान् और रुद्रवान् आपके लिए **स्वाहा**=मैं अपना त्याग करती हूँ। वसुमान् वह है जिसने अपने शरीर में उस-उस स्थान पर देवों के उत्तम निवास की व्यवस्था की है। सूर्य चक्षु का रूप धारण करके आँख में रह रहा है, अग्नि वाणी का रूप धारण करके मुख में रह रहा है, इसी प्रकार सब देवों का शरीर में निवास है। उन सब देवों को उत्तमता से निवास देनेवाला यह वसुमान् है, अर्थात् यह

पूर्ण स्वस्थ है। 'रुद्र' शब्द का अर्थ है **'रोरूयमाणो द्रवति'**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ कार्यों में लगा रहता है। एवं 'रुद्रवान्' वह है जो खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते सदा प्रभु का स्मरण करता है और इसी कारण वासनाओं के लिए प्रलयंकर रुद्र बना रहता है। इस प्रकार यह रुद्रवान् पूर्ण निर्मल मनवाला है। इसका मन वासनाओं से मलिन नहीं हुआ। २. **इन्द्राय त्वा**=तुझ जितेन्द्रिय **आदित्यवते**=आदित्यवान् के लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ। सब विद्याओं का आदान करके ज्ञान के सूर्य से चमकनेवाला यह आदित्यवान् है। इसका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से चमक रहा है। ३. **इन्द्राय त्वा**=तुझ इन्द्रियों के अधिष्ठाता **अभिमातिघ्ने त्वा**=ऊँचा उठकर भी जो अभिमान का नाश करनेवाला है, उस तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ। दैवी सम्पत्ति की पराकष्ठा 'नातिमानिता' पर है। यह पूर्ण स्वस्थ है, निर्मल मनवाला है, दीप्त मस्तिष्कवाला है। एवं, शरीर, मन व मस्तिष्क की सम्पत्ति से युक्त होकर भी यह अभिमानी नहीं हो गया। रोगों पर, वासनाओं पर, अज्ञानान्धकार पर विजय पाकर भी यह अपने मस्तिष्क को पूर्ण स्वस्थ रख पाया है, अभिमानी नहीं हो गया। ४. यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रत्येक वाक्य में 'इन्द्राय' को रक्खा गया है। यह संकेत करने के लिए कि सबसे महत्त्वपूर्ण 'जितेन्द्रियता' है। ५. **सवित्रे त्वा**=तुझ सविता के लिए-धन का उत्पादन करनेवाले के लिए, परन्तु **ऋभुमते (ऋतेन भान्ति)**=सत्य से चमकनेवाले के लिए, अर्थात् धन को सम्यग्मार्ग से कमानेवाले के लिए। (**ऋभवः**=Skilful, artist, smith) ऋभु का अर्थ शिल्पी भी है, अतः ऋभु वे हैं जो कुशलता से कोई-न-कोई हाथ का कार्य करते हैं। **विभुमते**=व्यापकतावाले तेरे लिए, धन कमाने के साथ हृदय की उदारता (व्यापकता) आवश्यक है **वाजवते**=शक्तिवाले तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना त्याग करती हूँ। एवं, पति कमानेवाला हो। पुरुषार्थ व शिल्प में कुशलता से धनार्जन किया जाए, हृदय विशाल हो, शरीर शक्तिशाली हो। ६. **बृहस्पतये त्वा**=तुझ ब्रह्मणस्पति के लिए-वेदज्ञान के पति के लिए-ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाले, **विश्वदेव्यावते**=सब दिव्य गुणोंवाले जितेन्द्रिय के लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ।

भावार्थ—पति जितेन्द्रिय, पूर्ण स्वस्थ, प्रभुभक्त, ज्ञान का आदान करनेवाला, निरभिमानी, धन का सत्य व पुरुषार्थ से अर्जन करनेवाला, उदार हृदय, शक्तिशाली, ब्रह्मनिष्ठ व दिव्य गुणोंवाला हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा। स्वाहा घर्माय स्वाहा घर्मः पित्रे॥९॥

१. **यमाय**=सब इन्द्रियों का नियमन करनेवाले **अङ्गिरस्वते**=एक-एक अङ्ग में रसवाले **पितृमते त्वा**=उत्तम पितृत्व की शक्तिवाले तेरे लिए **स्वाहा**=मैं अपना समर्पण करती हूँ। जितेन्द्रियता ही मनुष्य को अङ्गिरस बनाती है—उसके अङ्ग रसमय बने रहते हैं। जो अङ्गिरस नहीं वह उत्तम सन्तानों को जन्म कैसे देगा? अङ्गिरस ही पितर बन पाते हैं। इसीलिए मन्त्र में यह क्रम है—'यम-अंगिरस्-पितर' २. **घर्माय**=तुझ शक्ति की उष्णतावाले के लिए मैं **स्वाहा**=समर्पण करती हूँ। वस्तुतः जो भी 'यम' बनता है, वह घर्म=शक्ति का पुञ्ज होता ही है। ३. **घर्मः**=यह शक्ति का पुञ्ज व्यक्ति ही **पित्रे** =पिता के लिए होता है, अर्थात् इसी में पिता बनने की योग्यता होती है—यही पितृत्व के लिए होता है।

४. प्रस्तुत मन्त्र में 'यम-अंगिरा-पिता' वह क्रम बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इन सातवें-आठवें

व नौवें मन्त्र के देवता भी क्रमशः 'वात-इन्द्र-वायु' हैं। बीच में इन्द्र है-इन्द्रियों का अधिष्ठाता। दोनों ओर होनेवाले वात व वायु शब्द पर्यायवाची हैं और गतिशीलता के द्वारा बुराई के हिंसन की सूचना देते हैं। जिसने भी पिता बनना है उसके लिए यह नितान्त आवयश्क है कि वह क्रियामय जीवनवाला होकर सब बुराइयों को अपने से दूर रक्खे और जितेन्द्रिय हो। जितेन्द्रिय के सन्तान ही उत्तम जीवनवाले हो सकेंगे।

भावार्थ—हमारा जीवन नियमित हो जिससे हमारे एक-एक अङ्ग में शक्ति के कारण रस हो। हम शक्तिशाली बनें तभी हम योग्य पिता बन पाएँगे।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

यज्ञरूप भोजन

विश्वाऽआशा दक्षिणसद्विश्वान्देवानयाडिह।
स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना॥१०॥

१. पिछले मन्त्रों में पति-पत्नी का उल्लेख हुआ है। उन्हें इन मन्त्रों में 'अश्विनौ' शब्द से स्मरण किया है। 'अश्विनौ' का अर्थ आचार्य ने 'सुशिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ' और 'भूगर्भविद्याविदौ स्त्रीपुरुषौ' दिया है। ऐतरेय० १।१८। में 'अश्विनौ' अध्वर्यू' इन शब्दों में स्पष्ट किया है कि हिंसाशून्य (अध्वर) यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यापृत स्त्री-पुरुष 'अश्विनौ' हैं।

२. ये पति-पत्नी कुटिलता से दूर तथा सरल मनोवृत्ति से कार्यों में व्यापृत होने से 'दक्षिण' हैं। **विश्वाः आशाः**=सब दिशाएँ **दक्षिणसद्**=(दक्षिणे सीदन्ति) इन सरल स्त्री-पुरुषों में निषण्ण होती हैं, अर्थात् इनकी सब इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। ये ग़लत इच्छाएँ नहीं करते इनकी इच्छाएँ शुभ होती हैं, अतः इनकी वे इच्छाएँ अवश्य पूर्ण होती हैं। ३. **अयाट् इह**=इस मानव-जीवन में यही पुरुष **विश्वान् देवान्**=सब देवों को, अर्थात् सब दिव्य गुणों को अपने साथ (यज्ञ संगतिकरण)=सङ्गत करता है। ४. इन पति-पत्नी को प्रभु आदेश देते हैं कि **'स्वाहाकृतस्य'**=पेट की जाठराग्नि में (वैश्वानर=अग्नि में) भोजन को यज्ञ का रूप देकर खाते हुए **घर्मस्य**=शक्तिप्रद अन्न के (**घर्म**=अन्न-नि० १।९) **मधोः**=सारभूत सोम का **पिबतम्**=पान करो। अन्न को यज्ञरूप में खाया जाए तो यह 'स्वाहाकृत' हो जाता है। इसे स्वाद के लिए नहीं, अपितु इस देव-मन्दिर की रक्षा के लिए ही खाया जाता है। 'शक्तिप्रद अन्न का ही सेवन करना चाहिए' यह भावना 'घर्म शब्द से व्यक्त हो रही है।

भावार्थ—हम भोजन को भी यज्ञ का रूप दे दें। परिणामतः हम 'दक्षिण' बनेंगे, हमारी सभी आशाएँ पूरी होंगी, दिव्य गुणों से हमारा मेल होगा।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**विराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

ज्ञान व यज्ञ

दिवि धाऽइमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः। स्वाहाग्नये यज्ञियाय शं यजुर्भ्यः॥११॥

१. हे प्रभो! **दिवि**=ज्ञान के प्रकाशवाले इस पुरुष में **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **धाः**=धारण कीजिए। ज्ञानी पुरुष यज्ञशील बने। यदि दुर्भाग्यवश ज्ञानी पुरुष यज्ञ की भावनावाला, संगतिकरण व मेल की भावनावाला नहीं होता तो वह संहारक अस्त्रों के निर्माण में अपने ज्ञान का विनियोग करता है। परिणामतः वह मानव के लिए अशान्ति की वृद्धि का कारण होता है। ऐसे ही पुरुषों को 'ब्रह्मराक्षस' कहा गया है। सामान्य भाषा में ज्ञानी को 'साक्षर' (**स अक्षर**=literate) कहते हैं। यदि यह यज्ञिय भावनावाला नहीं रहता तो विपरीतवृत्ति होना आवश्यक है। २. साथ ही **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **दिवि**=ज्ञान के प्रकाशवाले में ही

धाः=धारण कर। जिस समय ये यज्ञ अज्ञानियों के हाथों में चले जाते हैं, तब इनमें रीतियों rituals का प्राधान्य हो जाता है और यज्ञ की भावना समाप्त ही नहीं हो जाती अपितु अत्यन्त विकृतरूप धारण करती है। उस समय यज्ञों में पशुबलि व सुरा-सेवन भी चल पड़ता है। संक्षेप में यज्ञ 'अयज्ञ' हो जाते हैं। ३. प्रभो! ऐसी कृपा कीजिए कि हमारे जीवन में **यज्ञियाय अग्नये**=यज्ञ की अग्नि के लिए **स्वाहा**=कुछ-न-कुछ स्वार्थ का त्याग होता ही रहे। हमारा जीवन एकदम विलासमय न होकर यज्ञिय बन जाए। हम 'केवलादी' न रहें, अपञ्चयज्ञ व मलिम्लुच चोर न हो जाएँ। ४. **यजुर्भ्यः**=यजुओं के द्वारा 'देवपूजा-संगतिकरण व दान' रूप यज्ञ के द्वारा **शम्**=हमारे जीवनों में शान्ति हो। वास्तविक शान्ति का मूलमन्त्र यज्ञ ही है।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान व यज्ञ दोनों का सुन्दर समन्वय हो। हम यज्ञिय अग्नि के लिए अपना त्याग करें। 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' रूप यज्ञ हमारे जीवन को शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**आर्चीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

सोमपान

अश्विना घर्मं पातꣳहार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिः।
तन्त्रायिणे नमो द्यावापृथिवीभ्याम्॥१२॥

१. हे **अश्विना**=कर्मों में शीघ्रता से व्यापनेवाले पति-पत्नियो। **अहर्दिवाभिः ऊतिभिः**=दिन-रात के रक्षणों से इस **हार्द्वानम्**=(**हृदं वनति**=Which wins the heart) हृदय को जीतनेवाले—हृदयगति को कभी बन्द (Heart failure) न होने देनेवाले **घर्मम्**=सोमरस को—शरीर में उष्णता को रखनेवाली शक्ति को **पातम्**=सुरक्षित करो। यहाँ तीन बातें ध्यान देन योग्य हैं—(क) शरीर में वीर्यरक्षा के लिए। इस अर्थ में दिन-रात सावधानी की आवश्यकता है। वह सावधानी यह है कि सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहें। (ख) इस सोमपान से शरीर में गर्मी=शक्ति बनी रहती है (ग) सोमपान करनेवाले का हृदय ठीक काम करता है, कभी फ़ेल नहीं होता। यह सोमपायी औरों के हृदयों को जीत पाता है अर्थात् औरों को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला बनता है।

२. **तन्त्रायिणे**=(एष वै तन्त्रायी य एष तपत्येष हीमाँल्लोकान्तन्त्रमिवानुसंचरति —श० १४।२।२।२२) संसार-तन्त्र में विचरनेवाले सूर्य के लिए तथा **द्यावापृथिवीभ्याम्**=द्यावापृथिवी के लिए **नमः**=नमस्कार हो। मैं इनके प्रति सन्नत होऊँ। मेरा पृथिवीरूप शरीर पूर्ण स्वस्थ हो, मस्तिष्करूप द्युलोक अन्धकार के आवरण से रहित हो तथा उस मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य का उदय हो।

एवं, यह स्पष्ट है कि उस घर्मपान का ही यह परिणाम है कि (क) शरीर स्वस्थ बनता है (ख) मस्तिष्क ज्ञानग्रहण के लिए उपयुक्ततम बनता है (ग) हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है।

सूचना—घर्म का अर्थ 'यज्ञ' भी है। यज्ञ की रक्षा से भी द्युलोक, पृथिवीलोक व सूर्य आदि सब देव अनुकूल होते हैं।

भावार्थ—हम सदा सावधानी से कर्मों में लगे रहकर सोम का पान करें। यह हमें हृदयों का विजेता, स्वस्थ और बुद्धि व विद्या से सम्पन्न बनाएगा।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृदुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

ब्रह्माण्ड की अनुकूलता

अपातामश्विना घर्ममनु द्यावापृथिवीऽअमꣳसाताम्। इहैव रातयः सन्तु॥१३॥

१. **अश्विना**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पति-पत्नी **घर्मम्**=शरीर में शक्ति को बनाये रखनेवाले सोम का **अपाताम्**=पान करें व सुरक्षित करें। **द्यावापृथिवी**=द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक तक सारे पदार्थ—सब देवता—**अनुअमंसाताम्**=उनके अनुकूल विचारवाले हों, अर्थात् सोम की शरीर में रक्षा करने पर संसार के सभी पदार्थ हमारे अनुकूल होते हैं। सोमपान करनेवाले के लिए सारा ब्रह्माण्ड अनुकूल-ही-अनुकूल होता है। शरीर में शक्ति न हो तभी इनकी प्रतिकूलता लगने लगती है। २. इस सोमपान के लिए आवश्यक है कि **इह एव**=इस गृहस्थ जीवन में ही **रातयः**=दान **सन्तु**=सदा होते रहें। दानशील पति- पत्नी का जीवन विलासमय नहीं बनता। परिणामतः वे वीर्य की रक्षा सरलता से कर पाते हैं। दान बुराइयों का खण्डन (दाप् लवने) करनेवाला है और हमारे जीवन को शुद्ध बनानेवाला है (दैप् शोधने)। जीवन की शुद्धता वीर्यरक्षा में सहायक होती है और तब सब पदार्थ हमारे लिए अनुकूल होते हैं। जीवन आशावाद से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—हम शरीर में सोम की रक्षा करें। यह सारे ब्रह्माण्ड को हमारे अनुकूल बनाएगा।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**द्यावापृथिवी**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्मामेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय॥१४॥

१. **इषे**=प्रेरणा के लिए **पिन्वस्व**=(To urge on) अपने को उत्साहित कर, अर्थात् तुझे प्रबल इच्छा हो कि मैं प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ। २. **ऊर्जे पिन्वस्व**=बल और प्राणशक्ति के लिए उत्साह को धारण कर। तुझमें यह भावना हो कि मैं प्रभु की प्रेरणा को सुनूँ और उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाने के लिए शक्तिशाली होऊँ। मुझमें प्रेरणा के अनुसार कार्य करने का सामर्थ्य हो। ३. **ब्रह्मणे पिन्वस्व**=ज्ञान के लिए उत्साहित हो, और ४. **क्षत्राय**=बल के लिए **पिन्वस्व**=उत्साहित हो। तेरी प्रार्थना का स्वरूप ही यह हो कि **'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'**=मेरे ब्रह्म व क्षत्र दोनों ही फूलें-फलें, परन्तु इस संसार में केवल ज्ञान और बल जीवन-यात्रा के संचालन के लिए पर्याप्त नहीं है, उसके लिए भौतिक वस्तुओं की भी उतनी ही आवश्यकता है, अतः कहते हैं कि ५. **द्यावापृथिवीभ्याम्**=द्युलोक से पृथिवीलोक तक इन भौतिक वस्तुओं के लिए भी **पिन्वस्व**=उत्साह धारण कर। यही भावना मन्त्र की समाप्ति पर 'विशं धारय' इन शब्दों से व्यक्त हो रही है। वस्तुतः संसार-यात्रा में धन का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, परन्तु इस धन को अन्याय मार्ग से नहीं कमाना है, अतः कहते हैं कि ६. **धर्म असि**=हे जीव! तू मूर्त्तिमान् धर्म है, धर्म ही नहीं **सुधर्म असि**=तू उत्तम धर्म है, अतः तूने सुपथ से ही धन कमाना है। **अमेनि असि**=तू अहिंसक है औरों की हिंसा करके कभी भी धनार्जन नहीं करता।

इस प्रेरणा को सुनकर 'दीर्घतमा' मन्त्र का ऋषि जिसने अज्ञान का विद्रावण किया है, प्रभु से प्रार्थना करता है—७. **अस्मे**=हमारे लिए **नृम्णानि**=धनों को **धारय**=धारण कीजिए ८. **ब्रह्म धारय**=ज्ञान को धारण कीजिए ९. **क्षत्रं धारय**=बल को धारण कीजिए १०. और

विशं धारय='कृषिगोरक्षा व वाणिज्य' रूप वैश्यकर्म को भी धारण कीजिए, जिससे ज्ञान प्राप्त करके और शक्तिशाली बनकर हम न्याय-मार्गों से ही धनार्जन करें।

भावार्थ—हम प्रभु प्रेरणा को सुनकर, उस प्रेरणा को क्रिया में परिणत करने की शक्तिवाले बनें, ज्ञान-बल व धन तीनों का अपने में सुन्दर समन्वय करके अपने जीवन को सुखी व सफल बनाएँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**पूषादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा ग्रावभ्यः स्वाहा प्रतिरवेभ्यः। स्वाहा पितृभ्यऽऊर्ध्वबर्हिर्भ्यो घर्मपावभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬस्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः॥१५॥

ब्रह्मचर्य—१. **पूष्णे**=पूषा के लिए, अर्थात् पोषण की देवता के लिए **स्वाहा**=हम अपना त्याग करते हैं। वस्तुतः स्वाद आदि का त्याग होने पर ही ठीक ढंग से पोषण होता है। (ख) **शरसे स्वाहा**=(शृ हिंसायाम्) काम-क्रोधादि वासनाओं के विनाश के लिए **स्वाहा**=मैं त्याग करता हूँ। कामादि पर विजय के लिए विश्राम आदि की सब भावनाओं को त्यागकर तपस्वी जीवन बिताना आवश्यक है। (ग) **ग्रावभ्यः**=(गृ=गृणाति उपदिशति)=ज्ञान का उपदेश देनेवाले गुरुओं के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। गुरु के प्रति अर्पण से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। गुरु के प्रति अत्यन्त विनीत बनने से। (घ) **प्रतिरवेभ्यः**=गुरु के उच्चारण किये हुए मन्त्रों को अनूदित करनेवाले विद्यार्थीयों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। वस्तुतः वे ही विद्यार्थी ठीक हैं जो गुरु के मुख से निकले प्रत्येक शब्द को ध्यान से सुनकर उसका उच्चारण करते हैं।

एवं ब्रह्मचर्याश्रम की मूलभूत बातें दो हैं—प्रथम बात तो यह कि शरीर में शक्ति का पोषण करना है और इसी उद्देश्य से वासनाओं को समाप्त करना है (पूष्णे-शरसे)। दूसरी बात यह कि उत्तम गुरुओं को प्राप्त करके उनके मुख से उच्चरित प्रत्येक शब्द को महत्त्व देना है, उसको प्रत्युच्चरित reproduce करना है और इस प्रकार निरन्तर ज्ञानवृद्धि के लिए प्रयत्नशील होना है।

गृहस्थ—२. **पितृभ्यः**=उन पितरों के लिए **स्वाहा**=उत्तम वाणी का उच्चारण करते है (स्वाहा इति वाङ्नाम—नि० १।११) जो **ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यः**=उत्कृष्ट प्रजाओंवाले हैं। (प्रजा वै बर्हिः—को० ५।७) जिन्होंने उत्तम सन्तानों का निर्माण किया है और इसी उद्देश्य से **घर्मपावभ्यः**=शरीर में शक्ति का पान करनेवाले बने हैं। वस्तुतः संयमी जीवन से शरीर को शक्तिशाली बनानेवाले माता-पिता ही उत्कृष्ट सन्तानों को जन्म दे पाते हैं। इस प्रकार गृहस्थ का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वे संयमी जीवनवाले बनकर उत्तम सन्तान का निर्माण करें।

वनस्थ—३. गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ में प्रवेश करके व्यक्ति फिर से अपने मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से उज्ज्वल करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय में लगता है **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** यह वानप्रस्थ सब ग्राम्य आहारों (मिठाई आदि) को छोड़कर वन्य कन्द-मूल, फलों पर जीवन बिताता हुआ शरीर को पूर्ण स्वस्थ बनाता है। मस्तिष्क व शरीर दोनों को स्वस्थ बनाने के लिए **द्यावापृथिवीभ्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवी के प्रति **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। इनकी उन्नति को ही मैं अपना ध्येय बना लेता हूँ। इनको स्वस्थ करने के बाद संन्यासी होकर मैं प्रचारकार्य को ठीक प्रकार से कर पाऊँगा।

संन्यास—४. अब 'द्यावापृथिवीभ्यां' का ठीक विकास करके व्यक्ति 'देव' बनता है।

इसके शरीर व मस्तिष्क दोनों ही चमकते हैं। इन **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब देवों के लिए हम **स्वाहा**:=प्रशंसात्मक शब्द बोलते हैं। इन संन्यासियों का उचित आदर हमारे जीवन को सदा सन्मार्ग में चलने की प्रेरणा देनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में हम शरीर को पुष्ट बनाने के लिए वासनाओं का संहार करें, आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करें। द्वितीय आश्रम में शक्ति की रक्षा के द्वारा, ब्रह्मचर्य-पालन के द्वारा उत्तम सन्तान को जन्म दें। तृतीयाश्रम में शरीर व मस्तिष्क को पूर्ण स्वस्थ बनाएँ और चौथे आश्रम में ज्ञान की दीप्ति को औरों तक पहुँचानेवाले बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**रुद्रादयः**। छन्दः—**भुरिगतिधृतिः**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रभु-स्तोताओं का सङ्ग व प्रभु-प्राप्ति

स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतये स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः। अहः केतुना जुषताᳪं सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा। रात्रिः केतुना जुषताᳪं सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा। मधु हुतमिन्द्रतमेऽअग्नावश्याम ते देव घर्म नमस्तेऽअस्तु मा मा हिᳪंसीः॥१६॥

१. **रुद्राय**=(रुद्र इति स्तोतृनाम—नि० ३।१६) स्तोता के लिए हम **स्वाहा**=अपना अर्पण करते हैं, **रुद्रहूतये**=(रुद्रस्य हूतिर्यस्य) प्रभु को पुकारनेवाले के लिए **स्वाहा**=हम अपने को सौंपते हैं। प्रभु के उपासकों के संग बैठने से हमारा जीवन भी भौतिक वासनाओं से ऊपर उठकर प्रभु-प्रवण बनता है। **ज्योतिषा सम्** (गत्य) **ज्योतिः**=उन ज्योतिर्मय जीवनवालों के साथ मिलकर हमारा जीवन भी ज्योतिर्मय बनता है। **'अग्निनाग्निः समिध्यते'** जैसे अग्नि से दूसरी अग्नि समिद्ध की जाती है उसी प्रकार उन ज्योतिर्मय जीवनवालों के सम्पर्क में हमारा जीवन भी ज्योतिर्मय बनता है।

इस प्रकार प्रभु कृपा करें कि **अहः केतुना जुषताम्**=हमारा सारा दिन प्रकाश से सेवित हो। **सुज्योतिः**=हम उत्तम ज्योतिवाले हों। **ज्योतिषा**=इस ज्योति के हेतु ही **स्वाहा**=हम स्वार्थ त्याग करें—सब आराम व मौज को समाप्त कर दें। इसी प्रकार **रात्रिः**=रात भी **केतुना जुषताम्**=प्रकाश से सेवित हो। **सुज्योतिः**=हम उत्तम ज्योतिवाले हों, **ज्योतिषा**=इस ज्योति के दृष्टिकोण से **स्वाहा**=हम स्वार्थ-त्याग करते हैं।

२. ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम इस शरीर में उत्पन्न सोमशक्ति की रक्षा करनेवाले बनें। इसी सोम को 'मधु' कहते हैं। यह सब ओषधियों का सारभूत होता है। यह **मधु**=सोम **हुतम्**=आहुत होता है—समर्पित होता है। किसमें? (क) **इन्द्रतमे**=अधिक-से-अधिक जितेन्द्रिय पुरुष में और (ख) **अग्नौ**=आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष में। जो व्यक्ति इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है, वही सोम की रक्षा कर पाता है। इन्द्रिय-विषयों में फँसते ही सोम की रक्षा सम्भव नहीं रहती। साथ ही जो जीवन-यात्रा में निरन्तर आगे बढ़ने की भावना रखता है, वही व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में फँसने से बच सकता है, अतः हम 'इन्द्रतम व अग्नि' बनकर हे **देव**! सब दिव्यता के पुञ्ज प्रभो! **ते**=आपके **घर्म**=तेज को **अश्याम**=प्राप्त करें।

३. हे प्रभो! **ते नमः अस्तु**=आपके प्रति हम नतमस्तक हों। आपकी विनय ही हमें इस योग्य बनाएगी कि हम इन्द्रियों के दास बनने से बचे रहेंगे, और हममें निरन्तर आगे बढ़ने की भावना बनी रहेगी। इस प्रकार हे प्रभो! **मा मा हिंसीः**=आप मेरी हिंसा मत होने दीजिए। प्रभु-विनय ही हमें जितेन्द्रिय बनने की क्षमता प्रदान करती है और विनाश से बचाती है।

भावार्थ—प्रभु-स्तोताओं के सङ्ग में रहकर मैं अपने ज्ञान को बढ़ाऊँ और अन्ततः प्रभु का सङ्गी बनकर सब प्रकार के विनाश से ऊपर उठ जाऊँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृदतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**।

ज्ञान-प्रसार

अभीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सप्रथाः। उत श्रवसा पृथिवीꣳसꣳसीदस्व महाँ२॥ऽ असि रोचस्व देववीतमः। वि धूममग्नेऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥१७॥

१. **इमं दिवम्**=इस प्रकाशमय जीवनवाले को **अभि**=लक्ष्य करके **महिमा**=महत्त्व **बभूव**=होता है, अर्थात् इसे महत्त्व प्राप्त होता है, जो महत्त्व **विप्रः**=इसका विशेष रूप से पूरण करनेवाला होता है और **स-प्रथाः**=विस्तार से युक्त होता है। पिछले मन्त्रों में प्रभु-स्तोताओं के सङ्ग का उल्लेख था। प्रस्तुत मन्त्र में उस सङ्ग में चलनेवाले व्यक्ति का 'इमम्' इस सर्वनाम से संकेत है। जो भी व्यक्ति ऐसा बनता है उसे महत्त्व प्राप्त होता है, वह महत्त्व जो उसका पूरण करनेवाले होता है, साथ ही उसकी शक्तियों के विकास का कारण बनता है। २. **उत**=और यह व्यक्ति **श्रवसा**=ज्ञान के द्वारा **पृथिवीम्**=इस पृथिवी पर **संसीदस्व**=उत्तमता से बैठता है, अर्थात् इस पार्थिव निवास में इसका कोई भी कार्य ज्ञान के विपरीत नहीं होता ३. **महान् असि**=यह महान् होता है, अर्थात् इसके हृदय में सभी के लिए स्थान होता है। ४. **रोचस्व**=यह अपने आन्तरिक गुणों के कारण, स्वास्थ्य के कारण तथा उदार हृदयता के कारण चमकता है—शोभावाला होता है। ५. **देववीतमः**=(वी=प्राप्ति) दिव्य गुणों की प्राप्ति में यह सबसे आगे बढ़ा हुआ होता है। ६. प्रभु इससे कहते हैं कि—**अग्ने**=अपने को अग्रस्थान पर प्राप्त करानेवाले और औरों को आगे ले-चलनेवाले **मियेध्य**=पवित्र यज्ञिय जीवनवाले **प्रशस्त**=प्रशंसा के योग्य! तू **दर्शतम्**=ज्ञान को, वस्तुतत्त्व के प्रकाशक ज्ञान को **विसृज**=विशेष रूप से फैला, उस ज्ञान को जो **धूमम्**=(धूञ् कम्पने) वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला है और **अरुषम्**=जो आरोचमान है, सर्वतः दीप्यमान है अथवा तू ज्ञान को फैलाने में किसी भी प्रकार के रुष=क्रोध को न आने दे—ज्ञान को माधुर्य से फैला।

भावार्थ—हम अपने जीवन को उत्तम बनाकर लोकहित के दृष्टिकोण से बड़ी मधुरतापूर्वक ज्ञान के फैलानेवाले बनें।

त्रिलोकी का आप्यायन

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**भुरिगाकृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

या ते घर्म दिव्या शुग्या गायत्र्याꣳ हविर्धाने। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा। या ते घर्मान्तरिक्षे शुग्या त्रिष्टुभ्याग्नीध्रे। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा। या ते घर्म पृथिव्याꣳ शुग्या जगत्याꣳसदस्या। सा तऽआ प्यायतान्निष्ट्यायतां तस्यै ते स्वाहा॥१८॥

पिछले मन्त्र में महिमा की प्राप्ति का संकेत था। इस महिमा की प्राप्ति के लिए शरीर की त्रिलोकी का ठीक होना बड़ा आवश्यक है। उसके ठीक होने के लिए शरीर में घर्म=सोमरक्षा अत्यन्त अपेक्षित है। 'इसकी रक्षा होने पर क्या होता है,' इस बात का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—१. हे **घर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **दिव्या**=मस्तिष्करूप द्युलोक में होनेवाली **शुक्**=दीप्ति है (शुक् दीप्तौ) तथा उसके परिणामस्वरूप क्रियाशीलता है (शुक् गतौ), **या**=जो **गायत्र्याम्**=गायत्रियाँ (गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणों की रक्षा में परिणत होती है तथा **हविर्धाने**=हवि के आधान में परिणत होती है, **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्यायताम्**=बढे **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से राशिरूप में संचित हो **तस्यै ते**=तेरी उस

दीप्ति के लिए **स्वाहा**=हम उत्तम शब्दों का उच्चारण करते हैं—उसकी प्रशंसा करते हैं। संक्षेप में, जब शरीर में घर्म=वीर्य सुरक्षित होता है तब (क) यह मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है—हमारे ज्ञान को दीप्त करता है। (ख) इस ज्ञानदीप्ति के दो परिणाम होते हैं—पहला, यह ज्ञानी पुरुष अपने खान-पान आदि में बड़ा संयत बनता है और इस प्रकार अपने प्राणों की रक्षा कर पाता हैं। यह नौवें व दसवें दशक में पहुँचकर भी प्राणशक्ति-सम्पन्न बना रहता है। (ग) दूसरा परिणाम यह होता है कि केवलादी न बनकर 'हविर्धान' करनेवाला होता है—इसका जीवन यज्ञमय होता है।

३. हे **घर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **शुक्**=दीप्ति-क्रिया है, **या**=जो **त्रिष्टुभ्य**=(त्रि-स्तुभ्) 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों नरकद्वारों को रोकती है तथा जो दीप्ति **आग्नीध्रे**=उस अग्रेणी परमेष्ठी प्रभु को हृदय में धारण करने में परिणत होती है **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्ययताम्**=बढ़े **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से संचित हो **तस्यै ते**=उस तेरी दीप्ति के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। संक्षेप में, शरीर में सोम की सुरक्षा होने पर (क) मन पवित्रता की दीप्तिवाला होता है। (ख) उसमें काम-क्रोध-लोभ का प्रवेश नहीं हो पाता, उनके लिए हृदयद्वार बन्द हो जाता है। (ग) उस पवित्र हृदय में अग्नि नामवाले प्रभु का प्रतिष्ठापन होता है और इस प्रकार हमारा हृदय सचमुच प्रभु का मन्दिर बन जाता है, अतः यह 'शुक्' सचमुच सुन्दर-ही-सुन्दर है।

३. हे **घर्म**=सोम! **या**=जो **ते**=तेरी **पृथिव्याम्**=इस पृथिवीरूप शरीर में शुक् दीप्ति है **या**=जो **जगत्याम्**=इस क्रियामय लोक में **सदस्या**=उत्तम निवासवाली होती है, अर्थात् इसके कारण हम इस क्रियामय संसार में क्रियामय जीवनवाले होते हुए उत्तम ढंग से स्थित होते हैं **सा**=वह **ते**=तेरी दीप्ति **आप्यायताम्**=बढ़े और **निष्ट्यायताम्**=निश्चय से संचित हो। **तस्यै ते**=उस तेरी दीप्ति के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द उच्चरित होते हैं।

भावार्थ—शरीर में सोमपान के द्वारा १. हमारा मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल हो। हम यथोचित मार्ग पर चलते हुए अपने प्राणों की रक्षा करें तथा यज्ञमय जीवनवाले हों। २. हमारे मन निर्मल हों, उसमें काम-क्रोध और लोभ की समाप्ति होकर परमेश्वर का प्रतिष्ठापन हो। ३. हमारे शरीर स्वस्थ व क्रियामय हों जिससे इस संसार में हमारा निवास उत्तम हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

ब्रह्म+क्षत्र—राजा का कर्त्तव्य

क्षत्रस्य त्वा परस्पाय ब्रह्मणस्तन्वं पाहि।
विशस्त्वा धर्मणा वयमनु क्रामाम सुविताय नव्यसे॥१९॥

गतमन्त्र में सोमरक्षा के द्वारा उत्तम जीवन के निर्माण का उल्लेख हुआ है। लोगों के जीवन को उत्तम बनाने में राजशक्ति का भी बड़ा हाथ होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में राजा के कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं—१. हे राजन्! **परस्पाय**=उत्कृष्ट रक्षण के लिए **त्वा**=तू अपनी **क्षत्रस्य**=क्षत से बचानेवाली शक्ति की तथा **ब्रह्मणः**=ज्ञान के **तन्वम्**=शरीर की **पाहि**=रक्षा कर, अर्थात् तुझमें जहाँ शक्ति का निवास हो, वहाँ शक्ति के साथ तू ज्ञान का सम्पादन करनेवाला हो। **'ब्रह्म क्षत्रमृध्नोति'**=ज्ञान शक्ति को समृद्ध कर देता है। २. राजा कितना भी अच्छा हो, शासन की उत्तमता के लिए प्रजा की अनुकूलता भी आवश्यक है, अतः मन्त्र के उत्तरार्ध में कहते हैं कि **वयं विशः**=हम प्रजाएँ भी **धर्मणा**=धर्म से, या धारण के दृष्टिकोण से **त्वा अनुक्रामाम**=तेरा अनुगमन करें, अर्थात् राजा के बनाये नियमों का पालन करें। जहाँ राजा ज्ञानी व शक्तिशाली होता हुआ प्रजा के धारण-कार्य की उत्तमता

के लिए सभा-समिति द्वारा नियमों का निर्माण करवाता है, वहाँ प्रजा में भी नियमों के पालन की भावना होनी चाहिए। यही प्रजा का राजा के पीछे चलना है। इस प्रकार राजा और प्रजा की अनुकूलता होने पर ही ३. (क) **सुविताय**=सुवित सम्भव है। इसी स्थिति में राष्ट्र से दुरित दूर होंगे और प्रजाएँ उत्तम आचरणवाली (सुवितवाली) होंगी। उस समय राजा लोग यह गर्व कर सकेंगे कि मेरे राष्ट्र में चोर, कञ्जूस, शराबी यज्ञ न करनेवाले, मूर्ख, व अनियमित जीवनवाले लोगों का वास नहीं है। (ख) **नव्यसे** (नू स्तुतौ) उस समय सब प्रजाओं का जीवन स्तुत्य होगा। अथवा सब प्रजाजन (नव गतौ) क्रियाशील होंगे। वस्तुतः क्रियाशील जीवन ही स्तुत्य जीवन है।

भावार्थ—राजा ज्ञानी व शक्तिशाली हो। प्रजा धर्म से राजा का अनुगमन करे। परिणामतः राष्ट्र में दुरित नहीं होते और प्रजाओं का जीवन स्तुत्य होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

यज्ञमय जीवन

चतुःस्त्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः।
अप द्वेषोऽअप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम॥२०॥

१. **ऋतस्य**=(**ऋत**=यज्ञ—नि० ८।६) यज्ञ का **नाभिः**=केन्द्र, अर्थात् यज्ञरूप केन्द्र **चतुःस्त्रक्तिः**='धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला है। 'स्त्रक्ति' शब्द का अर्थ दिशाएँ भी होता है। यज्ञ यदि केन्द्र है तो उसकी विविध दिशाएँ धर्म आदि हैं, अर्थात् यज्ञ से ये सब सिद्ध होते हैं। २. **स-प्रथाः** =यह यज्ञ विस्तारवाला है, हमारी सब शक्तियों का विकास यज्ञ से ही होता है। **'अनेन प्रसविष्यध्वम्'** इन शब्दों में यज्ञ ही फूलने-फलने का मार्ग है। ३. **सः**=वह यज्ञ **नः**=हमारे लिए **विश्वायुः**=पूरे जीवन को देनेवाला है। (विश्व+आयु) अर्थात् यज्ञ हमें शतायु बनाता है और सौ-के-सौ वर्षों में **सप्रथाः**=हमारी शक्तियों को विस्तृत रखता है। ३. **सः**=वह यज्ञ **नः**=हमें **सर्वायुः**=पूर्ण जीवन देता है, अर्थात् शरीर के स्वास्थ्य के साथ मन की निर्मलता तथा मस्तिष्क की दीप्ति प्राप्त कराके हमारे जीवन को पूर्ण बनाता है। **सप्रथाः**=हमारी शक्तियों को अन्त तक विस्तृत किये रखता है। ४. प्रभो! इस यज्ञ के द्वारा हम **अन्यव्रतस्य**=शास्त्रविरुद्ध कर्मोंवाले ('अकर्मा दस्युः अभि ने अमन्तुः अन्यव्रतो अमानुषः') दस्युओं से अपनाये जानेवाले **द्वेषः**=द्वेष को **अप सश्चिम**=अपने से दूर करें। **ह्वरः**=कुटिलता को **अप सश्चिम**=अपने से दूर करें, अर्थात् इस यज्ञशीलता से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि हमारे जीवन में वह द्वेष और वह कुटिलता न आएगी जो शास्त्रविरुद्ध कर्म करनेवाले लोगों में आ जाया करती है।

भावार्थ—यज्ञ के निम्न लाभ हैं—१. इससे धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। २. यह हमारी शक्त्तियों का विस्तार करते हुए शतायु बनाता है। ३. इससे हम शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों के स्वास्थ्य को प्राप्त करके पूर्ण जीवनवाले होते हैं ४. हमसे द्वेष व कुटिलता दूर रहती है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वर्धन व आप्यायन

घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्द्धस्व चा च प्यायस्व।
वर्द्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि॥२१॥

१. हे **घर्म**=तेज! **एतत्**=यह जो **ते**=तेरा **पुरीषम्**=(पृ पालनपूरणयोः) पालनात्मक व

पूरणात्मक कर्म है **तेन**=उससे **वर्द्धस्व**=हमें बढ़ा **च**=और **प्यायस्व**=सब अङ्गों का आप्यायन करनेवाले हो। शरीर में सोम (घर्म) सुरक्षित होता है तब वह शरीर में होनेवाली प्रत्येक कमी को दूर करता है। इसी प्रकार यह हमारे वर्धन का कारण बनता है और हमारा एक-एक अङ्ग आप्यायित रहता है।

२. हे **घर्म**=सोम! तेरे इस पालन-पूरणात्मक कर्म से **वयम्**=हम **वर्द्धिषीमहि**=सब दृष्टिकोणों से वृद्धि को प्राप्त करें, **च**=और **प्यासिषीमहि**=औरों के भी आप्यायन का कारण बनें। जिस व्यक्ति के जीवन में कमी होती है वह कभी भी औरों की वृद्धि नहीं चाहता। 'वह औरों की वृद्धि का कारण बनेगा' इस बात का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। 'स्वस्थ शरीर, मन व मस्तिष्क' वाला व्यक्ति औरों के भी हित की कामनावाला होता है और उनकी उन्नति में यथाशक्ति सहायक होता है। इस उत्तम मनोवृत्ति को अपने में लाने के लिए हम 'घर्म' की रक्षा करें। सुरक्षित घर्मवाला ही उदारवृत्ति को अपना पाता है।

भावार्थ—हम शरीर में सोम की रक्षा करें। इससे अपना वर्धन व आप्यायन करके हम औरों का वर्धन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**परोष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

लोक-संग्रह

अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः। सꣳसूर्येण दिद्युतदुदधिर्निधिः॥२२॥

गतमन्त्र में घर्म-रक्षा द्वारा अपना वर्धन करके औरों के हित में प्रवृत्त होने का उल्लेख है। यह औरों के हित में प्रवृत होनेवाला व्यक्ति १. **अचिक्रदत्**=शब्द करता है, औरों को ज्ञान का उपदेश देता है। **महान्**=इस ज्ञान उपदेश के द्वारा २. **वृषाः**=यह औरों पर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है। ३. **हरिः**=उनके दुःखों का हरण करता है। ४. अपने इस महान् हितकार्य में यह विशाल हृदयवाला होता है। इसके हितकार्य में 'जाति, देश व धर्म' का बन्धन नहीं होता। यह सभी का हित करता है, सम्पूर्ण वसुधा को अपना कुटुम्ब समझता है। ५. यह **मित्रः न**=सूर्य के समान **दर्शतः**=दर्शनीय होता है। बड़ा तेजस्वी होता है ६. **सूर्येण सं दिद्युतत्**=ज्ञान के सूर्य से निरन्तर चमकता है। ७. **उदधिः**=यह ज्ञान का समुद्र बन जाता है अथवा समुद्र के समान गम्भीर होता है तथा ८. दिव्य गुणों का **निधिः**=कोश बन जाता है।

भावार्थ—घर्म की रक्षा से स्वयं बढ़कर औरों को बढ़ानेवाला 'दीर्घतमा' ज्ञान का उपदेश करता है और इस प्रकार सबके दुःखों को दूर करने के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

जल व ओषधियाँ

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२३॥

गतमन्त्र की भावना के अनुसार जब हम द्वेष व कुटिलता से दूर होकर (२०) अपना वर्धन और औरों की वृद्धि करते हुए (२१) लोकसंग्रहमय जीवन बिताएँगे (२२) तब **नः**=हमारे लिए **आपः**=जल **ओषधयः**=और ओषधियाँ अवश्य **सुमित्रियाः**=उत्तम स्नेह करनेवाली (**मिद्**=स्नेह) तथा रोगों से बचानेवाली (प्रमीतेः त्रायते) होंगी। मनुष्य का मन प्रसन्न होता है और वह द्वेष-क्रोधादि से रहित मनवाला होता हुआ भोजन करता है तो जल व ओषधियाँ उसके अन्दर शक्ति को जन्म देनेवाली होती हैं। (२) इसीलिए मन्त्र के उत्तरार्ध में कहते है कि **यः**=जो **अऽस्मान् द्वेष्टि** =हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम

सब **द्विष्मः**=अप्रिय—अवाञ्छनीय समझते हैं **तस्मै**=उसके लिए ये जल व ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः**=न स्नेह करनेवाली तथा रोगों से न बचानेवाली हों। जब मन में द्वेष होता है तब ओषधियों में भी कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं और इस प्रकार ओषधियाँ हितकर नहीं रहतीं। जो व्यक्ति सदा औरों के प्रति द्वेष करता है और अशुभ भावनाओं से भरा रहता है, जो अपने स्वार्थ के लिए सारे समाज का अहित करता है, अन्त में वह समाज के लिए भी अवाञ्छनीय हो जाता है, ऐसे व्यक्ति के लिए जल व ओषधियाँ अहितकर ही होती हैं।

भावार्थ—हम द्वेष की भावना से शून्य होकर सदा सबके हित की भावना से ओत-प्रोत मनवाले बनकर भोजन करें। निर्द्वेष मनसे होनेवाला खान-पान हितकर परिणामवाला होता है, तो द्वेषी मन भोजन को भी अहितकर कर देता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

उत् + उत्तर + उत्तम

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥२४॥

गतमन्त्र की निर्द्वेषता के साधन के लिए प्रकृति से ऊपर उठकर प्रभु की ओर चलना ही मुख्य उपाय है, उसका उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं—

१. **वयम्**=हम **उत्**=इस उत्कृष्ट **तमसः**=अन्धकारमयी प्रकृति से **परि अगन्म**=ज़रा परे चलें। 'प्रकृति उत्कृष्ट है' इसमें सन्देह नहीं। इस सृष्टि में प्रभु ने प्रत्येक पदार्थ का निर्माण जीव के हित के लिए बड़ी सुन्दरता से किया है। प्रत्येक पदार्थ उत्तम है, सुन्दर और आकर्षक है। हम अपनी अल्पज्ञता के कारण उस पदार्थ की ओर आकृष्ट होकर उसका अतियोग कर बैठते हैं और हमारे लिए वह पदार्थ असुन्दर परिणामोंवाला हो जाता है। चिन्तन करने पर हम इनमें न फँसने का निश्चय करते हैं कि इस प्रकृति से हम अब ऊपर उठते हैं। इस भौतिक शरीर के लिए इन प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग करते हुए हम इसमें उलझते नहीं। इससे ऊपर उठकर २. **उत्तरम्**=चेतनता के कारण इस जड़ तमोमय प्रकृति से अधिक उत्कृष्ट **स्वः**=(स्वर् to radiate) उस देदीप्यमान आत्मज्योति को **पश्यन्तः**=देखते हुए हम इस संसार में चलते हैं। हम प्रतिदिन आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह प्रकृति हमारे लिए है, हम प्रकृति के लिए नहीं हैं। इस प्रकृति में छेदन-भेदन होने से यह 'तमस्' है, यह अन्धकारमयी है। आत्मा में यह छेदन-भेदन नहीं, वह अच्छेद्य-अभेद्य ज्योति है।

३. इस भावना के जागने पर हम **देवत्रा देवम्**=देवों में देव, अर्थात् इन सब ज्योतिओं को भी ज्योतिर्मय करनेवाले **सूर्यम्**=(सुवति कर्मणि) सबको अपने-अपने कर्मों में प्रेरित करनेवाले **उत्तमं ज्योतिः**=उस सर्वाधिक निरतिशय ज्योति परमात्मा को **अगन्म**=प्राप्त हों। जीव चेतन है, इसी कारण जड़ प्रकृति से अधिक उत्कृष्ट है। परमात्मा 'पूर्ण चैतन्य' है, वे जीव से भी ऊपर हैं। जीव पुरुष है तो प्रभु पुरुषोत्तम हैं। एवं, प्रकृति 'उत्' है, जीव 'उत्तर' है और प्रभु 'उत्तम' हैं।

भावार्थ—हम प्रकृति के सौन्दर्य को समझते हुए, उसका यथायोग—उचित उपयोग करते हुए, प्रकृति से ऊपर उठें। उससे ऊपर उठकर आत्मस्वरूप का चिन्तन करें। आत्म-चिन्तन करते हुए हम उस सर्वोत्तम ज्योति देवों के भी देव परमात्मा का दर्शन करें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**साम्नीपङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु के तेज का धारण

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि॥२५॥

गतमन्त्र का द्रष्टा प्रभु का दर्शन करता है और विनय करता है कि—१. **एधः असि**=(एध वृद्धै) आप बढ़े हुए हैं। **'वर्धमानं स्वे दमे'**=आप तो अपने स्वरूप में सदा से वृद्ध हैं। प्रत्येक गुण की चरम सीमा ही तो आप हैं। आप निरतिशय ज्ञान हैं, सर्वाधिक शक्ति हैं और परमैश्वर्यवाले हैं। २. **एधिषीमहि**=आपकी कृपा से हम भी बढ़ें। हम शारीरिक स्वास्थ्य को प्राप्त करें तो मानस नैर्मल्य व ज्ञान की दीप्ति को बढ़ानेवाले हों। आप ३. **समित्** (सम्+इन्ध)=उत्तम दीप्तिवाले **असि**=हैं। आप तो **तेजः असि** तेज के पुञ्ज हैं—तेज-ही-तेज हैं, इस **तेजः**=तेज को **मयि**=मुझमें **धेहि**=धारण कीजिए।

प्रभु सदा वर्धमान हैं—ज्ञान की दीप्ति से दीप्त हैं, तेज के पुञ्ज हैं। प्रभुकृपा से हम भी सदा वृद्धि को प्राप्त करें, हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले और हम तेज के पुञ्ज बनें।

भावार्थ—प्रभुभक्त वर्धमान, ज्ञानी व तेजस्वी बनता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

याव॑ती॒ द्यावा॑पृथि॒वी याव॑च्च स॒प्त सिन्ध॑वो वित॒स्थि॒रे।
ताव॑न्तमिन्द्र ते॒ ग्रह॑मू॒र्जा गृ॑ह्णाम्यक्षि॑तं॒ मयि॑ गृह्णाम्यक्षि॑तम्॥ २६॥

दीर्घतमा कहता है कि **यावती द्यावापृथिवी**=जबतक ये द्युलोक और पृथिवीलोक हैं **च**=और **यावत्**=जबतक **सप्त सिन्धवः**=सातों समुद्र **वितस्थिरे**=विशेषरूप से अपनी मर्यादा में स्थित हैं **तावन्तम्**=उतने समय तक **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! **ते ग्रहम्**=आपके ग्रहण को **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के हेतु **गृह्णामि**=ग्रहण करता हूँ। **अक्षितम्** =आपका ग्रहण मेरी अक्षीणता का कारण बनता है। आपके ग्रहण के लिए मुझे कहीं दूर थोड़े ही जाना है **मयि**=अपने ही अन्दर **गृह्णामि**=मैं आपको ग्रहण करने के लिए यत्नशील होता हूँ, जिससे **अक्षितम्**=मेरा क्षत—विनाश न हो।

१. जब तक द्युलोक और पृथिवीलोक विद्यमान हैं —जब तक समुद्र अपनी मर्यादा में स्थित है, तब तक मेरी उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ग्रहण करने की साधना चलती रहे।

२. इस प्रभु-ग्रहण की साधना ने ही मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त करानी है। इसी साधना ने मुझे क्षय से बचाना है। प्रभु से दूर हुआ और मैं निर्बल होकर पिसा।

३. प्रभु का ग्रहण मुझे कहीं बाह्य संसार में नहीं करना, उसका ग्रहण तो मेरे ही अन्दर हो जाएगा। बाह्य वस्तुओं में प्रभु की महिमा का दर्शन अवश्य होता है, परन्तु ऐसा करने पर धीमे-धीमे उन वस्तुओं की ही पूजा आरम्भ हो जाती है। सूर्य में प्रभु महिमा का दर्शन करनेवला सूर्य का ही उपासक बन जाता है। मूर्त्तिपूजा का मूल इसी वृत्ति में है। इसलिए अन्दर ही प्रभु को देखना ठीक है।

भावार्थ—मैं सतत साधना के द्वारा प्रभु को अपने अन्दर ग्रहण करूँ, जिससे मुझे बल व प्राणशक्ति प्राप्त हो और मैं क्षीणता से बच सकूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मयि॒ त्यदि॑न्द्रि॒यं बृ॒हन्मयि॒ दक्षो॒ मयि॒ क्रतुः॑।
घ॒र्मस्त्रि॒शुग्वि रा॑जति वि॒राजा॒ ज्योति॑षा स॒ह ब्रह्म॑णा॒ तेज॑सा स॒ह॥ २७॥

गतमन्त्र में वर्णित प्रभु का ग्रहण मैं इसलिए करता हूँ कि १. **मयि**=मुझमें **त्यत्** =उस प्रसिद्ध **इन्द्रियम्**=इन्द्र की शक्ति उत्पन्न होती है। उपासना से इन्द्र की शक्ति का विकास होता है। वह विकास **बृहत्**=मेरी वृद्धि का कारण बनता है (बृहि वृद्धौ) २. **मयि दक्षः**= इस उपासना से मुझमें कार्यकुशलता बढ़ती है। उपासक कभी अनाड़ीपन से कार्य नहीं

करता। ३. **मयि क्रतुः**=मुझमें सदा कर्म संकल्प बना रहता है। ब्रह्मनिष्ठ का जीवन क्रियाशील होता है। ४. इस उपासना के परिणामस्वरूप वासनाओं का दूरीकरण होकर **घर्मः**=सोमशक्ति **त्रिशुक्**=मस्तिष्क, मन व शरीर तीनों में दीप्ति व क्रिया को उत्पन्न करती है। वह सोमशक्ति **विराजति**=दीप्त होती है। उपासक का मस्तिष्क 'उज्ज्वल', मन 'निर्मल' तथा शरीर पूर्ण 'स्वस्थ' होता है। ५. यह उपासक **विराजा**=विशेष रूप से देददीप्यमान **ज्योतिषा**=ज्योति के **सह**=साथ होता है। ब्रह्म सूर्य के समान ज्योति है, उसका उपासक भी विशेष दीप्तिवाला होता है। ६. यह उपासक जहाँ **ब्रह्मणा**=ज्ञान के साथ होता है वहाँ **तेजसा सह**=तेज के भी साथ होता है। उसके ब्रह्म और क्षत्र दोनों ही फूलते-फलते हैं, शरीर शक्ति से दीप्ति होता है। मस्तिष्क ज्ञान से उज्ज्वल होता है। इसप्रकार यह तम व अन्धकार को विदीर्ण करके 'दीर्घतमा' बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु-उपासक की आत्मशक्ति 'दक्षता, कर्मसंकल्प, ज्ञान व तेज' से युक्त होती है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**यज्ञः**। छन्दः—**स्वराड्धृतिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

समर्पण, गोदुग्ध-सेवन

पयसो रेतऽआभृतं तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराᳬं समाम्। त्विषः संवृक्क्रत्वे दक्षस्य ते सुषुम्णस्य ते सुषुम्णाग्निहुतः। इन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्य मधुमतऽ उपहूतऽउपहूतस्य भक्षयामि॥२८॥

यह मन्त्र इस अध्याय का अन्तिम मन्त्र है। इसमें मनुष्य अपने को समर्पण के लिए सन्नद्ध करता है। शुद्ध सात्त्विक भोजन से जीवन को प्रारम्भ करता है, जिससे सात्त्विक मनवाला बनकर **'अग्निहुत'**='प्रभु-अर्पित' हो सके। यह कहता है कि १. **पयसः**=सर्वाङ्ग आप्यायन करनेवाले दूध से **रेतः**=शक्ति का **आभृतम्** =हममें सर्वथा पोषण हुआ है। गौ का ताज़ा दूध वस्तुतः अमृत है, उसी का सेवन करके देव अमर बनते हैं। हम **तस्य**=उस दूध के **दोहम्**=दोहन को **उत्तरां समाम्**=एक के बाद दूसरे आनेवाले वर्षों में **अशीमहि** =प्राप्त करें और उसी का भोजनरूप में सेवन करें। २. इस ताज़े दूध के सेवन से मैं **त्विषः**= कान्ति व दीप्ति का **संवृक्**=अपनी ओर आवर्जन=झुकाव करनेवाला बनूँ। ३. **क्रत्वे**=उत्तम कर्मसंकल्पों के लिए मैं इस गोदूध का सेवन करूँ। गोदूध के सेवन से सात्त्विक मनोवृति के कारण उत्तम कर्मसंकल्प ही हममें उत्पन्न होंगे। ४. **सुषुम्ण**=उत्तम सुखों के देनेवाले प्रभो! (सुम्न=सुखम्) हे **उपहूत**=सदा पुकारे जानेवाले प्रभो! मैं **अग्निहुतः**=(अग्नौ हुतं यस्य) अग्निहोत्र करनेवाला तथा अग्निरूप आपमें अपना अर्पण करनेवाला **ते**=आपके **दक्षस्य**=शक्ति के बढ़ानेवाले **सुषुम्णस्य**=नीरोगता के कारण उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले **ते**=तेरे इस **इन्द्रपीतस्य**=जितेन्द्रिय बनने की कामनावाले से पीये जानेवाले **प्रजापतिभक्षितस्य**= प्रजा के रक्षण की वृत्तिवाले से ग्रहण किये गये **मधुमतः**=अत्यन्त माधुर्यमय **उपहूतस्य**=सदा प्रार्थित दुग्ध का **भक्षयामि**=सेवन करूँ।

भावार्थ—उल्लिखित अर्थ से स्पष्ट है कि गोदूध शक्तिवर्धक है, नीरोगता देनेवाला है, जितेन्द्रिय बनने में सहायक है, रक्षण की वृत्ति को बढ़ानेवाला है, जीवन की प्रत्येक क्रिया में माधुर्य को उपजाता है। इस दूध का सेवन करनेवाले हम उत्तम मनोवृतिवाले बनकर प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें। हम 'अग्निहुत' हों।

इत्यष्टात्रिंशोऽध्यायः॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

—:०:—

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**प्राणादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

धन्यवाद व विदाई

स्वाहा॑ प्रा॒णेभ्य॒ः साधि॑पतिकेभ्यः। पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॒ग्नये॒ स्वाहा॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ वा॒यवे॒ स्वाहा॑। दि॒वे स्वाहा॒ सूर्या॑य॒ स्वाहा॑॥१॥

१. गतमन्त्र में अपने को प्रभु के प्रति अर्पण करके व्यक्ति इस संसार से चलने की पूरी तैयारी कर चुका है। इस विदाई के समय वह जिस शरीर व लोक में रहा, जिन-जिनके सम्पर्क में आया, उनसे वह विदा लेता है। उनका धन्यवाद करता है **सु+आह**=उनके लिए उत्तम शब्द बोलता है तथा 'स्व+आह' अपना परिचय देता हुआ विदा लेता है। जिस-जिस वस्तु के साथ उसने **'स्व' पना**=ममता जोड़ा था, उन्हें आज यहाँ छोड़ता है (हा=छोड़ना)।

प्राण=२. सबसे प्रथम **प्राणेभ्यः**=प्राणों के लिए **स्वाहा**=धन्यवाद करता है। शरीर में सोलह कलाओं में सबसे प्रथम इन्हीं का निर्माण हुआ था **'स प्राणमसृजत्**—तै०। इन प्राणों से वह कहता है कि भाई! जब सब सो जाते थे तब भी तुम जागकर पहरा दिया करते थे, तुमने कभी थकने का नाम ही नहीं लिया। **'साधिपतिकेभ्यः'**=तुम्हारा जो अधिपति मन है उस मनसहित तुम्हारे लिए मैं धन्यवाद करता हूँ। **(मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः**—श० १४।३।२।३)। इस मन के बिना तो कोई कदम कभी रक्खा ही नहीं गया। हे प्राणो! अब मैं तुमसे विदा लेता हूँ। ३. **पृथिव्यै स्वाहा**=इस पृथिवी के मुख्य देवता के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। हे पृथिवि! तूने मुझे खाने के लिए अन्न दिया, पहनने के लिए कपड़ा दिया। मातृतुल्य पालन करनेवाली तुझे मैं धन्यवाद न दूँ तो और किसे दूँ। तेरी इस मुख्य देवता अग्नि ने मेरे जीवन में कितना बड़ा भाग लिया! उस कृपा को मैं कभी भूल सकता हूँ? मुझे अब छुट्टी दो, आज मैं आपसे विदाई लेता हूँ। ४. **अन्तरिक्षाय स्वाहा, वायवे स्वाहा**=भाई अन्तरिक्ष ('भ्रातान्तरिक्षम्' अथर्व०)! तेरा भी मैं धन्यवाद करता हूँ और तेरे इस मुख्य देवता वायु के लिए भी मैं शुभ शब्द कहता हूँ। तेरे अन्दर ही मेरी सब क्रियाएँ होती रहीं। 'आना-जाना, भागना-दौड़ना' सब तुझमें ही होता रहा। तेरी वायु यदि एक मिनिट रुकती थी तो मेरा दम ही घुट जाता था,अतः तुम दोनों का भी धन्यवाद करता हुआ मैं आज तुमसे विदाई लेता हूँ। ५. **दिवे स्वाहा, सूर्याय स्वाहा**=इस पितृस्थानीय द्युलोक के लिए ('द्यौष्पिता'—अथर्व०) तथा उसके मुख्य देवता सूर्य के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ 'इस द्युलोक ने वृष्टि की व्यवस्था करके किस प्रकार पृथिवी में अन्न उत्पादन की व्यवस्था की' क्या मैं इसे कभी भूल सकता हूँ? सूर्य तो सब प्रजाओं का प्राण ही है, इसने सब प्राणदायी तत्त्वों को अपनी किरणों से उन अन्नों व ओषधियों में स्थापित किया। इस सूर्य के सर्म्पक में ही मैं उत्साहमय जीवन को बिता पाया। आज हे द्युलोक व सूर्य! मैं आपसे विदाई लेता हूँ। फिर भी किसी शरीर में आऊँगा तो मिलना होगा ही, परन्तु आज तो मुझे अब छुट्टी दो।

भावार्थ—हम अपने अन्तिम समय (on death bed) मनसहित प्राणों, अग्निसहित पृथिवी, वायुसहित अन्तरिक्ष तथा सूर्यसहित द्युलोक का धन्यवाद करते हुए इनसे विदा लें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**दिगादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

देवताओं से विदाई

दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा। नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा॥२॥

१. **दिग्भ्यः स्वाहा**=इन दिशाओं के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ। इस 'प्राची' ने मुझे (प्र+अञ्च) आगे बढ़ने का पाठ पढ़ाया था तो 'दक्षिण' ने दाक्षिण्य का उपदेश दिया, 'प्रतीची' ने प्रत्याहार का पाठ पढ़ाया और 'उदीची' से मैंने ऊपर उठना सीखा। इन सब दिशाओं का धन्यवाद करता हुआ आज मैं इनसे विदा लेता हूँ। २. **चन्द्राय स्वाहा**=चन्द्रमा के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इस चन्द्रमा ने तो मेरे जीवन को आह्लाद से ओत-प्रोत-सा किया हुआ था। इस चन्द्रमा से भी आज मैं विदाई लेता हूँ। ३. **नक्षत्रेभ्यः स्वाहा**=चन्द्रमा की प्रजाभूत इन नक्षत्रों के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। चन्द्रमा 'नक्षत्रेश' हैं, अतः चन्द्र से विदा लेकर अब इन नक्षत्रों से भी विदा लेनी है। इनसे भी आज मैं विदा होता हूँ। (४) **अद्भ्यः स्वाहा**=जलों के लिए भी धन्यवाद है। ये जन्म से लेकर लय तक मेरे लिए महत्त्वपूर्ण बने रहे। 'आप' अर्थात् मेरे जीवन में सदा व्याप्त-से रहे। 'वारि नामवाले होकर इन्होंने मेरे रोगों का निवारण किया। इनसे भी मैं विदा लेता हूँ। ५. **वरुणाय स्वाहा**=जलों के अधिष्ठातृदेव 'अप्पति'=वरुण के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इसी वरुण के प्रशासन में विविध दिशाओं में नदियों का प्रवाह इस संसार में चलता था और मुझे जल की विविध रूपों में प्राप्ति होती थी। यह वरुण ही मुझे विविध कर्मों के बन्धन में बाँधता था। इससे भी आज मैं विदा चाहता हूँ। ६. **नाभ्यै स्वाहा**=इस शरीर की केन्द्रभूत नाभि के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। 'नह् बन्धने' शरीर का सारा नाड़ी-संस्थान इस नाभिरूप केन्द्र में ही बद्ध था, इस नाभि का भी मैं कृतज्ञ हूँ और इससे भी आज विदा चाहता हूँ। ७. **पूताय स्वाहा**=शरीर में शोधनकार्य में लगी हुई इन 'पायु व उपस्थ' इन्द्रियों के लिए, शरीर के अन्य रोमकूपों के लिए मैं धन्यवाद करता हूँ और इनसे विदाई लेता हूँ। बड़े-बड़े अफसरों से जहाँ विदाई ली जाती है वहाँ चपरासी से भी तो विदा लेनी चाहिए। इसी प्रकार मैं जहाँ चक्षु आदि से व पृथिवी आदि देवों से विदा लेता हूँ, उसी प्रकार इन मलशोधक इन्द्रियों से भी विदा लेता हूँ। इन्होंने शोधनकार्य को मेरे स्वास्थ्य के लिए कितनी सुन्दरता से निभाया!

भावार्थ—आज जीवन के इस अन्तिम दिन मैं सब देवों से व शरीर की नाभि व शोधक अंगों से विदाई लेता हूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**वागादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सप्तर्षियों—इन्द्रियों से विदा

वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा।
चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा॥३॥

१. **वाचे स्वाहा**=मैं इस वाणी के लिए शुभ शब्द कहता हूँ। इसी के द्वारा जीवनभर मेरा सारा कार्य चला। यही मेरे विचारों का वाहन बनी। इसी के द्वारा मैंने अपनी इच्छाओं

को औरों पर व्यक्त किया। इस वाणी से आज मैं विदा लेता हूँ। २. **प्राणाय स्वाहा**=वाणी के ऊपर स्थित इस घ्राणेन्द्रिय के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ। इसके द्वारा मैंने जीवन में आत्मीयता का अनुभव किया। कौन मेरे सगे-सम्बन्धी हैं, इनके पहचानने में इसने मेरा साथ दिया। **घ्राणाय स्वाहा**=इस घ्राणेन्द्रिय के दूसरे छिद्र के लिए भी मैं धन्यवाद करता हूँ, परन्तु आज इन दोनों से ही विदा लेने की तैयारी में हूँ। (३) **चक्षुषे स्वाहा**, प्राण से ऊपर स्थित इस चक्षु के लिए भी धन्यवाद है। इसी ने मुझे सारे जीवन में वस्तुओं का दर्शन कराया। इसके बिना मेरा संसार शून्य-सा ही रहता। ये ही मुझे 'अगला मार्ग साफ़ है या नहीं' इसका ज्ञान देती थीं। 'स्थल है या जल है' यह इन्हीं से मैं देख पाता था। आज मुझे इनसे विदाई लेनी है। **चक्षुषे स्वाहा**=इस बाई आँख के लिए भी धन्यवाद। (४) **श्रोत्राय स्वाहा**, **श्रोत्राय स्वाहा**=मैं इन दोनों श्रोत्रों के लिए भी धन्यवाद करता हूँ। इनसे सुनकर ही मैंने सारा ज्ञान प्राप्त किया। इन्हीं से मेरे विचार औरों ने सुने, उनके विचार मैंने सुने। परस्पर विचार-विनिमय में इनका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इनके अभाव में मेरा यह संसार कितना विचित्र-सा होता! इनका भी धन्यवाद करता हुआ आज इनसे भी विदा लेता हूँ। सचमुच अब तो हे श्रोत्रो! तुमसे विदा लेकर मुझे ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर ही चले जाना है। आवश्यक हुआ तो फिर मिलेंगे ही, परन्तु आज तो विदाई दो ना?

भावार्थ—आज अन्तिम दिन मैं इन सप्तर्षियों से, जिन्होंने मुझे सदा इस संसार का ज्ञान दिया, विदा लेने लगा हूँ। इनका धन्यवाद तो मैं करता ही हूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**श्रीः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

यश और श्री

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।

पशूनाꣳरूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥४॥

जाती हुई आत्मा यह चाहती है कि वह मुक्त हो जाए, अतिदीर्घ काल तक अगला जन्म न लेना पड़े, वह परमेश्वर के साथ विचरनेवाली बने, परन्तु यदि जन्म लेना ही पड़े तो इसकी प्रार्थना निम्न शब्दों में हीती है—

१. मैं **मनसा**=मन से **कामम्**=पर्याप्त **आकूतिम्**=सङ्कल्प को **अशीय**=प्राप्त करूँ। मेरा मन उत्तमोत्तम कार्यों के सङ्कल्पवाला हो। यह तो ठीक है कि मैं काममय न हो जाऊँ, परन्तु जड़ वस्तुओं की भाँति अकाम भी न हो जाऊँ। मेरा मन सदा शुभ सङ्कल्पों से भरा रहे।

२. मैं **वाचः**=वाणी की **सत्यम्**=यथार्थता को **अशीय**=प्राप्त करूँ। मेरी वाणी यथार्थ हो। इतना ही नहीं कि मैं अर्थ के अनुसार बोलनेवाला होऊँ, अपितु मेरी वाणी के अनुसार अर्थ हो जाए ३. **पशूनाम् रूपम्**=मैं पशुओं के रूप को प्राप्त करूँ। आचार्य एक जगह 'रूप' शब्द पर लिखते हैं कि 'विषयासक्ति, कुपथ्य और अधर्माचरण को छोड़कर अपने स्वरूप को अच्छा रखना। पशुओं का जीवन सादा है। उनके खानपान में जटिलता नहीं। परिणामतः उनका जीवन स्वस्थ बना रहता है। हम भी उनकी भाँति विषयासक्ति आदि से बचकर स्वस्थ बनने का प्रयत्न करें। ''रूपम् रोचतेः' निरुक्त (२.३) के इन शब्दों के अनुसार मैं स्वास्थ्य की दीप्तिवाला बनूँ। 'सादा जीवन' यह मेरा उद्देश्य-वाक्य बने और मैं स्वास्थ्य व दीर्घ-जीवन का लाभ करूँ।

५. **अन्नस्य रसः**=इस स्वास्थ्य के लिए ही मैं अन्न के रस का सेवन करूँ। व्यर्थ के

अभक्ष्य मांस आदि के झगड़े में न पड़ जाऊँ। साथ ही अन्न को खूब चबाकर खाऊँ। उसको रसरूप में अन्दर ले-जाऊँ। इस सात्त्विक भोजन के परिणामस्वरूप मेरी वृत्ति भी सात्त्विक बनी रहे। ६. **मयि**=मुझमें **यशः**=यश और **श्रीः**=शोभा **श्रयताम्**=आश्रय करें। मेरा प्रत्येक कार्य यशस्वी और श्रीसम्पन्न हो। मैं किसी भी कार्य को अनाड़ीपन से न करूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन उत्तम संकल्पोंवाला, सत्यमय, स्वस्थ, सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला तथा यश और श्री से युक्त हो।

सूचना—'श्री' का अर्थ धन भी होता है। मैं अपने जीवन में उचित व आवश्यक धन को प्राप्त करनेवाला बनूँ। धन का अभाव मेरी परेशानी का कारण न बने।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**प्रजापतिः**। छन्दः—**कृतिः**। स्वरः—**निषादः**।

उत्तम कर्म—श्रेष्ठ जन्म

प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः सम्राट् सम्भृतो वैश्वदेवः संसन्नो घर्मः प्रवृक्तस्तेजऽउद्यतऽआश्विनः पयस्यानीयमाने पौष्णो विष्यन्दमाने मारुतः क्लथन्। मैत्रः शरसि सन्ताय्यमाने वायव्यो ह्रियमाणऽआग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः॥५॥

प्रस्तुत मन्त्र में कौन व्यक्ति किस प्रकार का जन्म लेता है यह वर्णन है। सामान्यतः १२ भागों में बाँटकर यह बात यहाँ प्रस्तुत की गई है। १. **सम्भ्रियमाणः**=जिस व्यक्ति में 'माता-पिता अचार्य-अतिथि' आदि देवों ने अच्छाई को भरने को प्रयत्न किया—जो अच्छाइयों से भरा हुआ रहा वह **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक—उत्तम सन्तानोंवाला, अर्थात् एक सद्गृहस्थ बनता है। २. **सम्भृतः**=जिसके अन्दर सब उत्तमताओं को भर दिया गया वह **सम्राट्**=सम्राट् बनता है। राष्ट्र में सबसे अधिक दीप्त होनेवाला व्यक्ति समझा जाता है। ३. **संसन्नः**=जो सभा आदि स्थलों में सम्यक्तया आसीन होता है, अर्थात् जिसका व्यवहार उस-उस स्थान में उत्तम होता है वह **वैश्वदेवः**=सब दिव्य गुणोंवाला होता है। ४. **प्रवृक्तः**=जो वासनाओं का अधिक-से-अधिक वर्जन करनेवाला बनता है वह **घर्मः**=(**घर्म**=सोम) सोम का **पुञ्ज**=वीर्यवान् बनता है। ५. **उद्यतः**=आलस्य से विहीन, सदा कर्मों में उद्यत व्यक्ति **तेजः**=तेजस्वी बनता है। ६. **पयसि आनीयमाने**=घर में सदा दूध के लाये जाने पर **आश्विनः**=पति-पत्नी दोनों ही प्राणापान सम्पन्न होते हैं, अर्थात् इनकी प्राणशक्ति ठीक बनी रहती है। ७. **विष्यन्दमाने**=(वि, स्पन्द) विशेषरूप से सदा क्रियाशील बने रहने पर **पौष्णः**=यह पूषा देवतावाला होता है, अर्थात् सदा पुष्ट शरीरवाला होता है। ८. **क्लथन्**=सब अशुभों की—अशुभ विचारों व भावनाओं की हिंसा करता हुआ **मारुतः**=मितरावी—बड़ा परिमित बोलनेवाला बनता है। अथवा **'मरुतः प्राणः'**=प्राणशक्ति का पुञ्ज बनता है। ९. **शरसि सन्ताय्यमाने**=सतत काम-क्रोध, राग-द्वेष की हिंसा चलने पर (**तायृ**=**सन्तान**=फैलाना), अर्थात् राग-द्वेष से ऊपर उठने के सतत प्रयत्न होने पर **मैत्रः**=सबके साथ मित्रता की भावनावाला होता है। सबके साथ स्नेह से चलनेवाला होता है। जन्म से ही स्नेह की भावनावाला होता है। १०. **ह्रियमाणः**=जो प्रतिक्षण लोगों से अपने-अपने कार्यों को संवारने के लिए ले-जाया जाता है, अर्थात् कभी कहीं और कभी कहीं भिन्न-भिन्न लोगों के कार्य में सहायता के लिए जाता है, वह **वायव्यः**=वायु तत्त्व की प्रधानतावाला होने से निरन्तर गतिशील और इस गतिशीलता से पवित्रता को पैदा करनेवाला होता है। ११. **हूयमानः**=जो दान आदि के द्वारा निरन्तर अपनी आहुति देता रहता है वह **आग्नेयः**=अग्नितत्त्व प्रधान

होता है। अग्नि के समान तेजस्वी व प्रकाशमय जीवनवाला बनता है। १२. **हुतः**=जो प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है, जो लोगों के हित में अपनी पूर्ण आहुति दे देता है, वह **वाक्**=वेदवाणी का पुञ्ज, सरस्वती—ज्ञान की देवता का ही पुतला-सा बनता है।

भावार्थ—हम उत्तम कर्म करनेवाले बनें, जिससे हमारा अगला जन्म उत्तम हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**सवितादयः**। छन्दः—**विराड्धृतिः**। स्वरः—**ऋषभः**॥

दैवीसंपत्-युक्त ज्ञान के दृष्टिकोण से उत्तम जन्म

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीयऽआदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऽऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे। मित्रो नवमे वरुणो दशमऽइन्द्रऽएकादशे विश्वेदेवा द्वादशे॥६॥

पिछले मन्त्र में उत्तम कर्मों व गुणों के दृष्टिकोण से जन्म का विचार हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में ज्ञान के दृष्टिकोण से जन्म का विचार चलता है। जैस ज्योतिश्चक्र को बारह भागों में बाँटकर सूर्य की बारह संक्रान्तियाँ होती हैं उसी प्रकार ज्ञान की भी बारह श्रेणियों की कल्पना करके जीव के भी बारह संक्रमणों—भावी पुनर्जन्मों का यहाँ उल्लेख हुआ है। ये सबके सब जन्म दैवी सम्पत्तिवाले हैं।

यहाँ मन्त्र में 'अहन्' शब्द आकाश (Sky) के लिए प्रयुक्त हुआ है। १. **प्रथमे अहन्**=जो व्यक्ति ज्ञान के आकाश के प्रथम विभाग में है, वह **सविता**=उत्पादक होता है। यह जन्म से ही निर्माणात्मक कार्यों में रुचिवाला होता है। तोड़-फोड़ के कार्यों में इसका झुकाव नहीं होता। २. **द्वितीये**=ज्ञान के आकाश के द्वितीय भाग में विचरनेवाला **अग्निः**='अग्रेणी' निरन्तर उन्नतिशील मनोवृत्तिवाला होता है। ३. **तृतीये**=ज्ञान की तृतीय श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति **वायुः**=अपने अगले जन्म में (वा गतिगन्धनयोः) अपनी गति के द्वारा बुराई का गन्धन=हिंसन करनेवाला होता है ४. **चतुर्थे**=ज्ञान की चतुर्थ कक्षा में वर्त्तमान व्यक्ति **आदित्यः**=(आदानात्) सदा अच्छाइयों का आदान करनेवाला होता है। यह खारे समुद्र में से भी शुद्ध जल को ही लेनेवाले सूर्य की भाँति अच्छाई को ही लेता है, बुराई को नहीं। कीचड़ में से भी जल को ही लेनेवाले सूर्य के समान यह कीचड़ व बुराई को वहीं छोड़ देता है। ५. **पञ्चमे**=ज्ञान की पञ्चम कक्षा में पहुँचने पर यह **चन्द्रमाः**=सदा चन्द्र के समान आह्लादमय मनोवृत्तिवाला होता है ६. **षष्ठे**=ज्ञान की छठी श्रेणी में पहुँच चुके व्यक्ति का अगले जन्म में मुख्य गुण **ऋतुः**=ऋतुओं के अनुसार नियमित गति होता है'। 'ऋ धातु' का अर्थ है गति। इस धातु से बना हुआ 'ऋतु' शब्द नियमित गति का संकेत करता है। ज्ञानी पुरुष सूर्य-चद्रमा की भाँति अथवा ऋतुओं के चक्र की भाँति अपने नैत्यिक कार्यक्रम में व्यवस्थित होता है। ७. **सप्तमे**=ज्ञान की सप्तमी कक्षा में पहुँचे हुए व्यक्ति **मरुतः**=(मरुतः प्राणाः, मितराविणो वा) प्राणशक्ति के पुञ्ज व मितरावी होने से बड़ा मपा-तुला ही बोलते हैं। ८. **अष्टमे**=अष्टम विभाग में पहुँचे हुए व्यक्ति **बृहस्पतिः** =**ब्रह्मणस्पतिः**=बड़े ऊँचे ज्ञानी बनते हैं—ब्रह्मदर्शन करनेवाले बनते हैं। ९. **नवमे**=अब ज्ञान की नवम श्रेणी में पहुँचा हुआ यह व्यक्ति **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला होता है। प्रभु का उपासक सर्वत्र समरूप से अवस्थित प्रभु को देखता है, अतः सभी के प्रति स्नेहवाला होता है। १०. **दशमे**=ज्ञान की दशम श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति **वरुणः**=वरुण होता है—द्वेष का निवारण करनेवाला अथवा (**वरुण**=पाशी) अपने-आपको व्रतों के बन्धनों में बाँधनेवाला होता है। ११. **एकादशे**=ज्ञान की ग्यारहवीं श्रेणी में वर्त्तमान व्यक्ति अगले जन्म में **इन्द्रः**='इन्द्रियों

का अधिष्ठाता—पूर्ण जितेन्द्रिय' होता है। १२. **द्वादशे**=ज्ञानकी बारहवीं व अन्तिम श्रेणी में पहुँचा हुआ व्यक्ति **विश्वदेवाः**=सब दिव्य गुणों का पुञ्ज बन जाता है और इस प्रकार 'पूर्ण दैवी सम्पत्ति' को प्राप्त करता है। यह दैवी सम्पद् इसके मोक्ष का कारण बनती है। इस प्रकार वह चरम-ज्ञान को प्राप्त व्यक्ति जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्त होकर प्रभु को प्राप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—''उत्पादक मनोवृत्ति, उन्नति की भावना, क्रियाशीलता, गुणों का आदान, मनःप्रसाद, नियमित कार्यक्रम, प्राणशक्ति व मितभाषण, ज्ञान, स्नेह, निर्द्वेषता व व्रतबन्धन, जितेन्द्रियत्व और दिव्यता=दान-दीपन-द्योतन'—यह है दैवी सम्पत्ति, जिसको लेकर ज्ञानमार्ग पर आगे बढ़नेवाले व्यक्ति उत्पन्न होते हैं और अन्त में मोक्ष का लाभ करते हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**मरुतः**। छन्दः—**भुरिग्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

'आसुरी संपद्' वाला जन्म

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च। सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा॥७॥

दैवी सम्पत्तिवालों का जन्म गतमन्त्र का विषय था। जो उस दैवी सम्पत्ति को प्राप्त नहीं कर पाये और उसके स्थान में आसुरी संपत्ति को लेकर जिनका जन्म होता है वे १. **उग्रः च**=बड़े उग्र स्वभाववाले होते हैं। ये निर्दयी व कठोर होते हैं। बड़े क्रोधी स्वभाव के होते है। २. **भीमः च**=समाज के लिए ये बड़े भय का कारण होते हैं। इनकी दुर्जनता सज्जनों के निवास को भयपूर्ण बना देती है। इनके कारण सज्जनों के लिए प्रतिक्षण संकट की आशंका बनी रहती है। ३. **ध्वान्तः च**=इनका जीवन अन्धकारमय होता है। अथवा 'ध्वन शब्दे' ये सदा शोर-शराबा मचाये रखते हैं। ये पति-पत्नी भी सदा लड़ाई-झगड़े का जीवन बिताते हैं lead a cat and dog life. ४. **धुनिः च**=ये औरों को अपनी दुष्टता से कम्पित करनेवाले होते हैं। ५. **सासह्वाँन् च**=ये निरन्तर औरों का पराभव करनेवाले—औरों को कुचलनेवाले होते हैं। घात-पात में प्रवृत्त रहते हैं। ६. **अभियुग्वा च**=ये अपने दायें-बायें सभी ओर आक्रमण करनेवाले—चारों ओर आतंक फैलानेवाले होते हैं। ७. **विक्षिपः**=(वि-क्षिप) ये विक्षिप्त-सी मनोवृत्तिवाले होते हैं। इनमें केन्द्रित बुद्धि का प्रश्न ही नहीं होता। सैकड़ों आशाजालों से बद्ध ये पुरुष होते हैं। 'यह मिल गया और यह मिल जाएगा' इसी प्रकार ये विक्षिप्त वृत्तिवाले बने रहते हैं। अन्ततः ये आधे पागल-से हो जाते हैं। **स्वाहा**=यह यथार्थ वर्णन है।

भावार्थ—आसुरी सम्पत्तिवाले 'उग्रस्वभाव के, लोक-भयंकर, अज्ञानी, औरों को कम्पित करनेवाले, दूसरों को कुचलनेवाले, उनपर आक्रमण करनेवाले व विक्षिप्त-से' होते हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्न्यादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृदत्यष्टिः**। स्वरः—**गान्धारः**।

आनन्दमय जीवन का रहस्य (The nine Secret of a Happy life)

अग्निꣳहृदयेनाशनिꣳहृदयाग्रेण पशुपतिं कृत्स्नहृदयेन भवं यक्ना।
शर्वं मतस्नाभ्यामीशानं मन्युना महादेवमन्तः पर्शव्येनोग्रं देवं वनिष्ठुना
वसिष्ठहनुः शिङ्गीनि कोश्याभ्याम्॥८॥

'हम अपने जीवन को सुखी कैसे बना सकते हैं। इस विषय का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि—१. **हृदयेन**=हृदय से **अग्निम्**=अग्नि को धारण करो। **अग्नि** का अर्थ है—शक्ति व उत्साह। (Vigour, enthusiasm) आनन्दमय जीवन के लिए पहली आवश्यक

बात हृदय में उत्साह का होना है। हृदय के उत्साहशून्य होने पर आनन्द का प्रश्न ही नहीं उठता। २. **हृदयाग्रेण** हृदय के अग्रभाग से **अशनिम्**=विद्युत् की दीप्ति को धारण करो। तुम्हारा हृदयाग्र विद्युत् की दीप्ति के समान चमके। कोई भी व्यक्ति तुम्हारे सामने आये तो तुम उसे समझ सको, तुम्हारा हृदयाग्र पर उसका प्रतिबिम्ब-सा पड़ जाए। प्रत्येक व्यक्ति को हम ठीक-ठीक समझेंगे तो यथोचित बर्ताव कर सकने से किसी उलझन में न पड़ेंगे। ३. **पशुपतिम्**=सब प्राणियों के रक्षक प्रभु को **कृत्स्नहृदयेन**=पूर्ण हृदय से धारण करें। प्रभु का यह ध्यान हृदय में उत्साह व शक्ति का संचार करनेवाला होता है। ४. **यक्ना**=जिगर से **भवम्**=पर्जन्य को धारण करो। पर्जन्य **परां तृप्तिं जनयति**=परातृप्ति को पैदा करता है, चारों ओर जल की वर्षा करता हुआ सभी को आनन्दित करता है। इसी प्रकार ठीक जिगरवाला व्यक्ति सभी को देता हुआ प्रसन्नता उत्पन्न करता है। इस तथ्य को 'इसका जिगर ही नहीं है, यह क्या देगा' यह मुहावरा स्पष्ट कर रहा है। ५. **मतस्नाभ्याम्**=हृदय के दोनों पासों में स्थित अस्थियों से **शर्वम्**='आपः' जलों को धारण करो। इनके कार्य के ठीक होने पर ही शरीर में जल की उचित स्थिति रहती है। ६. **मन्युना**=(मन=चिन्तन) चिन्तन से **ईशानम्**=आदित्य को धारण करो। आदित्य का चिन्तन करो। आदित्य की भाँति निरन्तर गुणों का आदान करनेवाले बनो। ७. **अन्तः पर्शव्येन**=भीतरी पसवाड़ों से **महादेवम्**=चन्द्र को (महादेवश्चन्द्रमाः) धारण करो। आह्लाद व प्रसन्नता के लिए पार्श्वों का मध्य, अर्थात् आमाशय का ठीक होना अवश्यक है। ८. **वनिष्ठुना**=आँतों rectums से **उग्रंदेवम्**=जठराग्नि-वैश्वानराग्नि को धारण करो। यह 'उग्रदेव' आँतों में होनेवाले कृमियों का संहार करके हमें स्वस्थ बनाता है। ९. **कोश्याभ्याम्**=कोश (Scrotum) में होनेवाले अण्डों (testicles) से **वसिष्ठहनुः**=(प्रजापतिर्वै वसिष्ठः, प्रजननं प्रजापतिः, **हनुः=गदा**=Goad.) प्रजननशक्ति का धारण करे। तथा **शिङ्गीनि=वज्रानि**= रोग-निवारक शक्तियों को धारण करो। वस्तुतः इन कोश्यों से निकलनेवाले रस प्रजननशक्ति के साथ रोग-निवारक शक्ति भी रखते हैं। इनके निकाल देने पर शरीर में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होने लगते हैं।

भावार्थ—जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए उपर्युक्त नौ बातें ध्यान देने योग्य हैं १. हृदय में उत्साह २. हृदयाग्र में दीप्ति ३. पूर्णहृदय में प्रभु-ध्यान ४. जिगर में पर्जन्य की तरह दानवृत्ति ५. गुर्दों में जल ६. मन्यु से आदित्य ७. आमाशय के ठीक होने से प्रसन्नता ८. आँतों में कृमिसंहारक शक्ति तथा ९. कोश्यों (testicles) में प्रजननशक्ति व रोग-निवारक रस होने पर जीवन आनन्दमय बन जाता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**उग्रादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**भुरिगष्टिः**। स्वरः—**मध्यमः**।

कार्य-कुशलता

उग्रं लोहितेन मित्रꣳसौव्रत्येन रुद्रं दौर्व्रत्येनेन्द्रं प्रक्रीडेन मरुतो बलेन साध्यान् प्रमुदा। भवस्य कण्ठ्यꣳरुद्रस्यान्तः पार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत्॥९॥

संसार में 'जीवन का आनन्द' बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम लोगों से कैसे वर्त्तते हैं। यदि हम कुशलता (Carefully) से चलते हैं तो हमें सफलता-ही-सफलता मिलती है और सफलता आनन्द का मूल है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में 'भिन्न-भिन्न स्वभाववाले व्यक्तियों से किस-किस प्रकार वर्त्तना' इस बात का उपदेश है। १. **उग्रम्**=उग्रस्वभाव वाले-सीधे लड़ाई पर उतर आनेवाले पुरुष को **लोहितन**=युद्ध से स्वानुकूल करे। (लोहितं

युद्धम्, लोहा लेना–युद्ध करना)। उग्र स्वभाववाला पुरुष युद्ध के अतिरिक्त अन्य भाषा को समझता ही नहीं। २. **मित्रम्**=मित्र को **सौव्रत्येन**=उत्तम व्रत से स्वानुकूल बनाये रक्खे। उत्तम व्रत यही है कि सुख-दु:ख में अभिन्न होना (अद्वैतं सुखद:खयो:)। कष्ट में साथ न छोड़ना ३. **रुद्रम्**=रुलानेवाले को–तंग करनेवाले को **दौर्व्रत्येन**=दुष्कर व्रतों से, आमरण अनशनादि से अनुकूल करे। ४. **इन्द्रम्**=ऐश्वर्यशालियों को **प्रक्रीडेन**=खेलकूद व आमोद-प्रमोद के साधनों से स्वानुकूल करे। ५. **मरुत:**=सैनिकों को–बलप्रधान व्यक्तियों को **बलेन**=बलके द्वारा अनुकूल करे। ये बल-प्रधान छह फुटे सिपाही पतले-दुबले व्यक्ति से शीघ्र प्रभावित नहीं हो सकते। ६. **साध्यान्**=साधनीय पुत्र-शिष्यादि को **प्रमुदा**=प्रसन्नता से अनुकूल करे। इनके जीवन को डाँट-डपट से उत्तम नहीं बना सकते। धर्म का उपदेश भी माधुर्य व अहिंसा से ही दिया जा सकता है। ७. उल्लिखित रूप से व्यवहार कुशल भी वही व्यक्ति बन सकता है, जो शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ हो। यह शरीर का स्वास्थ्य शरीर में होनेवाली जिन मौलिक बातों पर निर्भर करता है उनका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि (क) **भवस्य**=दीर्घजीवन (भू=होना, बने रहना) का कारण **कण्ठ्यम्**=कण्ठ में होनेवाली थायराईड ग्रन्थि है। इसके ठीक रहने से जीवन स्वस्थ व दीर्घ बनता है। (ख) **रुद्रस्य**=अग्नि का व उद्रहरिकाम्ल का स्थान **अन्त: पार्श्व्यम्**=पसवाड़ों के अन्दर का भाग है। वहाँ इसके ठीक मात्रा में होने से स्वास्थ्य ठीक बना रहता है। (ग) **महादेवस्य**=चन्द्र का–आह्लाद की देवता का स्थान **यकृत्**=जिगर है। इसके ठीक कार्य करने पर चित्त की प्रसन्नता बहुत कुछ निर्भर है (महादेवश्चन्द्रमा:)। (घ) **शर्वस्य**=जल का स्थान **वनिष्ठु:**=आँते हैं। स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि इन्हें जल से शुद्ध रक्खा जाए। पावभर पानी से दैनिक ऐनिमा इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है (ङ) और सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि हम इस बात को स्मरण रक्खें कि **पशुपते:**=(पशुपति: ओषधय:) ओषधियों की यह **पुरीतत्**=आँत है, अर्थात् आँतों में ओषधियाँ ही जाएँ, वहाँ मांसादि अवानस्पतिक भोजन न पहुँचे। वस्तुत: जीवन को शान्त-स्वभाव का बनाने के लिए यह बात अत्यन्त आवश्यक है। मांस भोजन से क्रूरता उत्पन्न होती ही है।

भावार्थ—हम कुशलतापूर्वक व्यवहार करते हुए तथा स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन के नियमों का पालन करते हुए अपने जीवन को सुखमय बनाएँ।

ऋषि:—**दीर्घतमा:**। देवता—**अग्नि:**। छन्द:—**आकृति:**। स्वर:—**पञ्चम:**।

स्वास्थ्य के लिए उत्तम अदनीय (भक्ष्य) अन्न का सेवन

लोमभ्य: स्वाहा लोमभ्य: स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्य: स्वाहा मेदोभ्य: स्वाहा। माꣳसेभ्य: स्वाहा माꣳसेभ्य: स्वाहा स्नावभ्य: स्वाहा स्नावभ्य: स्वाहास्थभ्य: स्वाहास्थभ्य: स्वाहा मज्जभ्य: स्वाहा मज्जभ्य: स्वाहा। रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा॥१०॥

'जीवन का आनन्द स्वास्थ्य पर निर्भर करता है, इस विषय में मतभेद नहीं है। यह स्वास्थ्य भोजन पर निर्भर है। भोजन ऐसा होना चाहिए जो रस से लेकर अन्तिम धातु 'रेतस्' तक सभी के लिए हितकर हो। इस प्रकरण में 'स्वाहा' शब्द का अर्थ है 'सु हवि: जुहोति' (**हवि:**=अत्तव्यम् अन्नम्–द०)=उत्तम अदनीय अन्न को यज्ञों में विनियुक्त करके यज्ञशेष अमृत को उदर की जाठराग्नि में डालता है। १. **लोमभ्य: स्वाहा**, **लोमभ्य:**

स्वाहा=एक-एक लोम के हित के लिए यह भोजन खाया जाए। भोजन के विकार के कारण ही गञ्जापन आदि रोग हो जाते हैं। दो बार कहने का अभिप्राय यही है कि 'एक-एक लोम के लिए, अर्थात् प्रत्येक लोम के लिए' भोजन ऐसा हो जो लोम-सम्बधी किसी रोग का कारण न बन जाए। २. **त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा**=त्वचा-त्वचा के लिए, अर्थात् सारी त्वचा के लिए हितकर भोजन किया जाए। त्वचा के भिन्न-भिन्न रोग जो कुष्ठ नाम से कहे जाते हैं हमारा भोजन उनका कारण न बन जाए। ३. **लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा**=सम्पूर्ण रुधिर के हित के लिए हमारा भोजन हो। भोजन ऐसा न हो जिससे कि रुधिर-विकार उत्पन्न हो जाएँ। ४. **मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा**=चरबी (Fat) के उचितरूप में होने के लिए भोजन किया जाए। भोजन में स्नेह का नितान्त अभाव हमारे शरीर को अतिदुर्बल बनाएगा, तो स्नेह का आधिक्य उसे बहुत भारी-सा बनाएगा, अतः 'मेदस्' के हित के दृष्टिकोण से ही भोजन किया जाए। ५. **मांसेभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा**=शरीर के सम्पूर्ण मांस के हित के लिए ही भोजन का सेवन किया जाए। मांस-भोजन से मांस मर्यादा से अधिक बढ़ जाता है, वह कभी हितकर नहीं हो सकता। ६. **स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा**=सारे स्नायु-संस्थान के हित के लिए भोजन हो। यदि इस बात का ध्यान रक्खा जाए तो रक्तचाप के आधिक्य आदि के रोग हों ही नहीं। ७. **अस्थभ्यः स्वाहा अस्थभ्यः स्वाहा**=भोजन ऐसा हो जो एक-एक अस्थि के लिए हितकर हो। भोजन में केल्शियम की मात्रा उचित रूप में हो ताकि अस्थियों का विकास ठीक से हो पाये ८. **मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा**=भोजन मज्जा के लिए भी हितकर हो। ऐसा न होने पर दिमाग की कमी आदि की आशंका रहती है। पागलपन का भी यह कारण हो सकता है। ९. **रेतसे स्वाहा**=अन्तिम धातु **रेतस्**=वीर्य है। इसके लिए हितकर सौम्य भोजन ही हमें खाने चाहिएँ। आग्नेय भोजनों का सेवन रेतस् के लिए हितकर नहीं होता। १०. **पायवे स्वाहा**=सबसे अन्तिम, पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भोजन **पायु**=मलशोधक इन्द्रिय के लिए हितकर हो। हम कोष्ठबद्धता को पैदा करनेवाले भोजनों से सदा बचें।

भावार्थ—भोजन के विषय में यह ध्यान रखा जाए कि वह लोमों से लेकर वीर्य तक शरीर की सब धातुओं के लिए हितकर हो तथा कोष्ठबद्धता को पैदा करनेवाला न हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

प्रयत्न व पवित्रता

आयासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा संयासाय स्वाहा वियासाय स्वाहोद्यासाय स्वाहा। शुचे स्वाहा शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा॥११॥

जहाँ भोजन स्वास्थ्य के लिए हितकर हो वहाँ भोजन ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य को आलस्यशून्य व पवित्र इच्छाओंवाला बनाने में सहायक हो। ऐसा ही भोजन सात्त्विक भोजन कहलाता है। १. **आयासाय**=सब आवश्यक कार्यों में श्रम (All round excertion) के लिए मैं उत्तम अदनीय अन्न खाता हूँ। २. **प्रायासाय स्वाहा**=प्रकृष्ट उद्योग के लिए मैं अदनीय अन्न का सेवन करता हूँ। मुझमें क्रियाशीलता हो, वह क्रियाशीलता उत्तम कार्यों में टपके। ३. **संयासाय स्वाहा**=मिलकर किये जानेवाले उद्योगों के लिए मैं अदनीय अन्नों का सेवन करता हूँ। मैं ऐसा अन्न खाऊँ जिससे मैं औरों के साथ मिलकर उद्योग कर सकूँ। ४. **वियासाय स्वाहा**=विविध प्रयत्नों या वैयक्तिक प्रयत्नों के लिए मैं हितकर भोजन

करनेवाला बनूँ। ५. **उद्यासाय स्वाहा**=मैं उत्कृष्ट उद्योगों के लिए हितकर भोजन करूँ। मेरा भोजन ऐसा हो जो निरन्तर मुझे ऐसे उद्योगों में लगाये जो मुझे ऊँचा ले-जानेवाले हों। ६. वैशेषिकदर्शन में भी कर्म पाँच भागों में विभक्त हुआ है। यहाँ भी पाँच भाग हैं। नामों व स्वरूप में कुछ अन्तर हो गया है। इस विचार को चार भागों में बाँटते हैं—(क) पवित्रता की इच्छा (ख) पवित्रता के प्रयत्न में लगना (ग) पवित्रता को स्वभाव बना लेना (घ) और अन्त में पवित्र हो जाना। इसको क्रमशः कहते हैं—**शुचे स्वाहा**=मैं पवित्रता के लिए भोजन करता हूँ। भोजन ऐसा हो जो मुझमें पवित्रता की भावना जगाए। **शोचते स्वाहा**=अपने को पवित्र बनाने के लिए मैं भोजन करूँ। भोजन ऐसा हो जो मुझे पवित्रता-सम्पादन की क्रिया में लगाये। **शोचमानाय**=पवित्रता जिसका स्वभाव बन गया है, ऐसा बनने के लिए मैं सात्त्विक भोजन का सेवन करता हूँ। अन्न ऐसा हो जो मेरे स्वभाव में पवित्रता लाये। मेरे लिए पवित्रता स्वाभाविक बन जाए और अन्त में **शोकाय स्वाहा**=मैं पवित्रता के लिए अन्न खाऊँ। अन्न ऐसा हो कि मैं शरीरबद्ध पवित्रता ही हो जाऊँ।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न का सेवन हमारे जीवन में प्रयत्नशीलता व पवित्रता का संचार करनेवाला हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

तप—भोजन—दर्शन

तप॑से॒ स्वाहा॒ तप्य॑ते॒ स्वाहा॒ तप्य॑मानाय॒ स्वाहा॑ त॒प्ताय॒ स्वाहा॑ घ॒र्माय॒ स्वाहा॑।
निष्कृ॑त्यै॒ स्वाहा॒ प्राय॑श्चित्त्यै॒ स्वाहा॑ भे॒ष॒जाय॒ स्वाहा॑॥१२॥

१. जिस प्रकार पिछले मन्त्र में पवित्रता के विषय में कहा गया है उसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में तप के विषय में कहते हैं। तप का विचार भी उसी प्रकार चार भागों में बाँटकर करते हैं कि (१) तप की रुचि (२) तप में लगना (३) तप को अपना स्वभाव बना लेना और (४) अन्त में तपोमय हो जाना। **तपसे स्वाहा**=तप के लिए मैं (सु हविः जुहोमि) उत्तम हविरूप अन्न ही खाता हूँ। यदि मनुष्य सात्त्विक अन्न का प्रयोग करता है तो उसकी प्रवृत्ति भोगप्रवण न होकर तपस्या की ओर झुकती है। **तप्यते स्वाहा**=तप करते हुए के लिए हम उत्तम अन्न का प्रयोग करते हैं, अर्थात् मैं ऐसा ही अन्न खाता हूँ जो मुझे तप में लगाये रखता है। **तप्यमानाय स्वाहा**=मैं ऐसे अन्न का सेवन करूँ कि तप मेरा स्वभाव हो जाए। **तप्ताय स्वाहा**=मैं तप ही हो जाऊँ, इसी प्रकार मूर्त्तिमान् तप बन जाने के लिए मैं उत्तम हविरूप अदनीय अन्न खाता हूँ।

२. इस प्रकार तपोमय जीवन का यह स्वाभाविक परिणाम है कि हमारे अन्दर शक्ति का सञ्चार हो, अतः कहते हैं कि **घर्माय स्वाहा**=सोम के लिए मैं अदनीय अन्न खाता हूँ। वस्तुतः सौम्य व आग्नेय भोजनों में से सौम्य भोजन को ही प्रधानता देना ठीक है। आग्नेय भोजन कभी भी सोम-रक्षा के लिए और परिणामतः नीरोगता व दीर्घजीवन के लिए हितकर नहीं होते। हम सोमरक्षा के दृष्टिकोण से भोजन खाते हैं। ३. **निष्कृत्यै स्वाहा**=सब प्रकार के प्रायश्चित्त के लिए, भविष्य में पाप न करने के निश्चय की दृढ़ता के लिए मैं अदनीय अन्न खाता हूँ। **प्रायश्चित्यै स्वाहा**=मुझमें पाप कर बैठने के लिए दुःख की भावना हो, उन्हें भविष्य में न करूँ, ऐसी वृत्ति बनाने के लिए मैं सात्त्विक अन्न का प्रयोग करता हूँ। 'जिनकी मैं हानिकर बैठा हूँ, उनकी मैं क्षतिपूर्ति कर दूँ' यह है 'निष्क्रय', 'आगे से नहीं करूँगा' यह है 'प्रायश्चित्त'—ये भावनाएँ हमारे अन्दर होनी ही चाहिएँ। ४. **भेषजाय**

स्वाहा=अन्त में मैं औषध के दृष्टिकोण से भोजन करूँ। भूख भी एक रोग है, उसकी निवृत्ति के लिए ही भोजन करना चाहिए। स्वाद के लिए भोजन करना पाप है।

भावार्थ—भोजन ऐसा हो जो मुझे तपस्वी बनाए, शक्तिशाली बनाए, पापों के लिए मैं प्रायश्चित्त की वृत्तिवाला बनूँ और अन्त में भोजन को मैं औषध समझूँ।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अर्पण

यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा। ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳬस्वाहा॥१३॥

१. 'स्वं जुहोति इति स्वाहा', इस व्युत्पत्ति से 'स्वाहा' का अर्थ है समर्पण। मन्त्र में कहते हैं कि **यमाय स्वाहा**=शिष्य के जीवन को नियम में रखनवाले यम=आचार्य के लिए हम अपने सन्तानों को अर्पित करते हैं। आचार्य उन विद्यार्थियों के जीवन को बड़ा नियमित (Disciplined) बना देता है। हम **अन्तकाय**=अज्ञानान्धकार का अन्त करनेवाले अथवा अशुभवृत्तियों का अन्त करनेवाले आचार्य के लिए **स्वाहा**=अपने सन्तानों को अर्पित करते हैं। आचार्य-चरणों में रहकर वह सदाचारी बनेगा ही। आचार्य की व्युपत्ति ही है 'आचारं ग्राहयति', इस प्रकार अशुभ जीवन को समाप्त करनेवाला आचार्य 'मृत्यु' ही है। इस **मृत्यवे**=मृत्यु नामक आचार्य के लिए **स्वाहा**=हम अपने सन्तानों को सौंपते हैं। आचार्य पिछले जन्म को समाप्त कर नया जन्म देता है। इस प्रकार हम 'द्वि-ज' बन जाते हैं। वस्तुतः यही जन्म उत्कृष्ट जन्म होता है। **ब्रह्मणे स्वाहा**=हम ऐसे आचार्यों के समीप सन्तानों को छोड़ते हैं जो ब्रह्म=ज्ञान के पुञ्ज हैं। इन ज्ञान के समुद्रों में स्नान करके विद्यार्थी 'निष्णात व स्नातक' बनता है। ज्ञान की कमी होने पर अध्यापक के प्रति विद्यार्थी के हृदय में आदर की भावना भी कठिनता से उत्पन्न होती है।

२. एवं 'यम-अन्तक-मृत्यु व ब्रह्म' नामक आचार्य के लिए हम अपने सन्तानों को सौंपते हैं। 'क्यों सौंपते है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते है कि (क) **ब्रह्महत्यायै** (**ब्रह्म**=ज्ञान **हन्**=प्राप्ति नकि हिंसा)=ज्ञान की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=हम सन्तानों को सौंपते हैं। आचार्य से प्राप्त की हुई विद्या 'साधिष्का' होती है। ब्रह्मचारी आचार्य से ही ज्ञान का भोजन प्राप्त करता है। आचार्य का मूलकर्त्तव्य ब्रह्मचारी की ज्ञानाग्नि में पृथिवी-अन्तरिक्ष-व द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान की समिधाओं को डालना है। (ख) **विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा**=सब दिव्य गुणों से विभूषित करने के लिए समर्पित करते हैं। (ग) **द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा**=हम मस्तिष्क (द्यावा) व शरीर (पृथिवी) के स्वास्थ्य के लिए सन्तान को आचार्य-चरणों में छोड़ते हैं। आचार्य इसके शारीरिक स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करते हुए, इसे ज्ञान की समिधा से समिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान देता है, सद्गुणों से अलंकृत करता है तथा अव्यसनी बनाकर स्वस्थ शरीरवाला बनाता है।

इत्येकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः॥

—:o:—

१. **ऋग्वेद** 'विज्ञानवेद' है। वह प्राकृतिक विद्याओं (Natural sciences) को अपना विषय बनाता है। यजुर्वेद 'कर्मवेद' है, उसमें जीवन के विविध कर्त्तव्यों का प्रतिपादन है। सामवेद 'उपासनावेद' है, उसमें प्रभु की उपासना का प्रतिपादन है और अन्त में अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' है, जो हमें नीरोग व निर्मल होकर, रोगों व युद्धों से ऊपर उठकर हृदय में प्रभु के दर्शन करने के लिए प्रेरणा देता है।

२. यजुर्वेद में कर्मों (कर्त्तव्यों) का प्रतिपादन है और ये कर्म स्थूल-दृष्ट्या 'यज्ञ' शब्द से प्रतिपादित हुए हैं, **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**=यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। देवता इस यज्ञ से ही 'यज्ञ' नामक प्रभु की उपासना करते हैं। ये यज्ञ ही प्रथम धर्म हैं **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'**। यज्ञ के तीन स्थूल विभाग हैं 'देवपूजा, सङ्गतिकरण, दान'। 'देवताओं का आदर करना, परस्पर मेल से चलना और देना' ये तीन ही बातें क्रमशः बड़ों, बराबरवालों तथा छोटों के प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं।

३. इस यजुर्वेद के ३८ अध्यायों में मनुष्य के करणीय यज्ञों का विधान है। ३९वाँ अध्याय अन्त्येष्टि संस्कार का है यह मनुष्य को स्मरण कराता है कि उसने गर्व नहीं करना।

४. यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि स्थूलरूप से 'ऋग्वेद' ब्रह्मचारी का वेद है, उसने सब विज्ञानों का अध्ययन करना है। 'यजुर्वेद' कर्मवेद है, यह गृहस्थ को उसके विविध कर्त्तव्यों का स्मरण कराता है। वनस्थ का 'सामवेद' उसे सदा प्रभु की उपासना में निरत रहने का उपदेश देता है और 'ब्रह्माश्रमी'=संन्यासी का अथर्ववेद उसे नीरोग व निर्मल बनाकर रोगों व युद्धों से ऊपर उठकर व्याधि व आधियों को दूर करके सब प्रकार की उपाधियों को भी परे फेंककर समाधि द्वारा प्रभुदर्शन की प्रेरणा देता है।

५. यजुर्वेद गृहस्थ का वेद है। उससे करने योग्य यज्ञों का उसके ३८ अध्यायों में वर्णन है।

यजुर्वेद का यह अन्तिम अध्याय 'ब्रह्माध्याय' कहलाता है, क्योंकि इसमें मुख्यरूप से ब्रह्म की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन हुआ है। एक मन्त्र के परिवर्तन के साथ यही 'ईशोपनिषद्' के नाम से भी प्रसिद्ध है। प्रथम शब्द 'ईश' है, अतः इसका ईशोपनिषद् नाम पड़ गया।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

प्रभु की सर्वव्यापकता

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥१॥

इदम् सर्वम्=यह सब, **यत् किञ्च**=जो कुछ **जगत्यां जगत्**=जगती में, ब्रह्माण्ड में **जगत्**=लोक हैं, वे सब-के-सब **ईश+आवास्यम्**=उस ईश (प्रभु) से समन्तात् बसने योग्य हैं। कण-कण में वह प्रभु समा रहे हैं। वे सर्वव्यापक हैं, इसीलिए वे आँखों से दिखते नहीं।

मन्त्र का जगती शब्द ब्रह्माण्ड का वाचक है। इस ब्रह्माण्ड में पिण्ड, अर्थात् छोटे-छोटे

जगत् तो अनन्त हैं। हमारे लिए उनकी संख्या को पूरा-पूरा जानना सम्भव नहीं। एक सौर लोक एक जगत् है, इस जगती में तो ऐसे सौर जगत् कितने ही हैं? यह जगती की विशालता उस प्रभु की महिमा का व्याख्यान कर रही है। **तेन**=क्योंकि वे प्रभु सर्वव्यापक हैं, कण-कण में विद्यमान हैं, अतः हे जीव! तू **त्यक्तेन**=त्यागभाव से **भुञ्जीथाः**=उपभोग करना, विषयोपभोग में न फँस जाना। प्रभु ने भोजन का निर्माण 'पालन' के लिए ही तो किया है। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः'=पालन के लिए खाना ही भोजन है। आसक्तिपूर्वक मजा तो वही लेने लगता है जो प्रभु से दूर हो जाता है। **मा गृधः**=तूने इन विषयों का लालच न करना। लालच से मनुष्य अधिक खा जाता है। विषयों का सौन्दर्य व स्वाद हमें अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और हम उन विषयों का शरीर धारण के लिए नहीं अपितु स्वाद के लिए उपभोग करने लगते हैं। इन विषयों की प्राप्ति के साधनभूत धन को जुटाना ही हमारे जीवन का लक्ष्य बन जाता है। यही धन अन्ततः हमारे 'निधन' का कारण हो जाता है, परन्तु प्रश्न यह है कि 'हम लालच से ऊपर कैसे उठें?' इस प्रश्न के उत्तर में वेद कहता है कि प्रतिदिन यह सोचो कि **कस्य स्वित् धनम्**=भला, धन किसका है? इसने आजतक किसका साथ दिया? यह तो शरीरधारण के लिए साधनमात्र है। यह हमारे जीवन का साध्य नहीं है? 'कस्य स्विद् धनम्' का विचार हमारी आँखें खोल देगा और हम लोभ से ऊपर उठ सकेंगे, तभी हमारा जीवन त्यागपूर्वक उपभोगवाला हविरूप (हु-दानादनयोः) होगा।

'ईशावास्यम्' का अर्थ परमेश्वर से समान्तात् वसने योग्य तो है ही, उस प्रभु का निवास (वस निवासे) कण-कण में है। साथ ही 'वस आच्छादने' से इस शब्द को बनाएँ तो अर्थ होता है कि वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को आच्छादित किये हुए हैं। हमें भी उस प्रभु का वह अमृतमय आच्छादन प्राप्त है। ऐसी अवस्था में मृत्यु हमारे तक आ ही कैसे सकती है? मेरा तो वह अमृत प्रभु ही उपस्तरण है, वही अपिधान है। उसमें आवृत मैं मृत्युगोचर कैसे हो सकता हूँ। एवं, यह प्रभुभक्त पूर्ण निर्भीकता को अनुभव करता है। उस प्रभु का सर्वत्र निवास उसे पापभीरु बनाता है तो उस प्रभु का सर्वतः आच्छादन उसे मृत्यु से भी न डरनेवाला वीर बनाता है, एवं ईशावास्यमिदं सर्वम्' का अनुभव करनेवाला भीरु भी है, वीर भी। पाप से डरता है तो मृत्यु से निडर भी है।

'ईश' शब्द मन्त्र का प्रथम शब्द है जो स्वामित्व का प्रतिपादन करता हुआ मन्त्र की अन्तिम भावना 'कस्यस्वित् धनम्' का पोषण कर रहा है। **धनम्**=धन **स्वित्**=निश्चय से **कस्य**=उस अनिर्वचनीय प्रभु का है। हे जीव! तू क्यों गर्व कर रहा है! धन का मालिक तू नहीं। ईश तो प्रभु हैं, तेरा क्या स्वामित्व?

प्रभुदर्शन से इसका तम विदीर्ण होकर वह 'दीर्घ (विदीर्ण) तमा' कहलाता है। प्रभु का निरन्तर ध्यान करने से यह 'दध्यङ्' है और बाह्य विषयों में आसक्त न होकर अन्दर ध्यान करने से 'आथर्वण' है (अथ अर्वाङ्)।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का अनुभव करो, त्यागपूर्वक प्रकृति का उपभोग करो, लोलुपता से दूर रहो और सदा विचारो कि भला धन किसका है?

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

क्रियामय दीर्घ जीवन

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥२॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु आदेश करते हैं कि—१. **इह**=इस लोक में तथा इस मानव-जीवन में **कर्माणि**=कर्मों को **कुर्वन् एव**=करते हुए ही तूने जीना है। (क) संसार का नियम ही क्रिया है, यह संसार है, 'संसरति' निरन्तर चल रहा है, जगत् है, गति में है। 'What is this universe ? but an infinite conjugation of the verb to do.' यह संसार कृ धातु के विविध रूपों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इस गतिमय संसार में अकर्मण्य होने का क्या मतलब? (ख) अर्कमण्यता 'ह्रास' और 'विध्वंस' से सम्बद्ध है, 'जो पानी खड़ा वह सड़ा' यह प्रसिद्ध ही है। (ग) मनुष्य 'आत्मा' है, अत=सातत्यगमनवाला है। क्रियाशीलता के अभाव में तो वह 'स्व' को ही खो देता है। २. प्रभु का दूसरा आदेश है कि **शतं समाः**=सौ वर्षपर्यन्त **जिजीविषेत्**=जीने की कामना करे। जितना दीर्घजीवी बन सके उतना ही ठीक। इस दीर्घ जीवन के लिए क्रियाशीलता साधन है। ३. एवं प्रभु ने उपर्युक्त दो आदेश देकर कहा कि **एवं त्वयि**=तेरे विषय में ऐसा ही निश्चय है। **इतः**=इससे **अन्यथा**=और प्रकार का कोई मार्ग **न अस्ति**=तेरे लिए नहीं है। 'कर्म करते हुए सौ वर्ष जीना' ही तेरे जीवन का एकमात्र नियम है। ४. इसपर जीव सोचने लगा कि (क) इतना लम्बा जीकर क्या करूँगा? जीवन जितना लम्बा होगा उतने ही अधिक पाप होंगे। बालक पैदा होते ही चला गया। अहोभाग्य है कि उससे कोई पाप तो नहीं हुआ और (ख) कर्म करना भी तो भय से रहित नहीं है। कर्म का फल भोगना होगा। फल के लिए शरीर लेना पड़ेगा और स-शरीर के सुख-दुःखों का परिहार कहाँ? एवं कर्म तो बाँधेगा ही। ये कर्म करते हुए ही जीना तो एक झंझट है। ५. ऐसे विचारों के उत्पन्न होने से कुछ उदास-से जीव को प्रभु कहते हैं कि अरे दीर्घजीवन होगा तो पाप ही क्यों अधिक होंगे? ऐसा भी सम्भव है कि तू प्रतिवर्ष एक-एक क्रतु (यज्ञ) करे और सौ वर्षों के दीर्घजीवन में तू 'शतक्रतु' ही बन जाए और कर्म के बन्धन से तू क्यों भयभीत होता है, क्योंकि **नरे**=नर में **कर्म**=कर्म **न लिप्यते** =लिप्त नहीं होता। नर मनुष्य कर्म के लेप से ऊपर है। नर वह है जो **न रमते**=इन कर्मों में उलझ नहीं जाता। न रम जाना, न फँस जाना ही नर का धर्म है। विरत होकर कर्त्तव्य को करते जाना ही मार्ग है। इस मार्ग से चलनेवाला लिप्त नहीं होता। विरति=वैराग्य बन्धन से बचाता है। मैं कर्म को न चिपटूँ तो वह भी मुझे क्यों चिपटेगा?

एवं, हमें इस संसार में नर बनकर, अनासक्तिपूर्वक कर्म करते चलना है और अवश्य सौ वर्ष तक जीना है। 'मैं पापी हो जाऊँगा, कर्म मुझे बाँध लेंगे' इस अज्ञान को नष्ट करके व्यक्ति 'दीर्घतमा' बना है।

भावार्थ—हम प्रभु के इन दो आदेशों का सदा स्मरण करें 'सदा कर्मशील रहो', 'सौ वर्ष जीने की कामना रक्खो'।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

आत्मघात

असुर्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

(क) प्रथम व द्वितीय मन्त्र में निम्न बाते कहीं गई हैं—१. प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करना २. त्यागपूर्वक उपभोग करना ३. लालच नहीं करना ४. प्रतिदिन इस प्रश्न का विचार करना कि 'भला, धन किसका है?' ५. जीवन को सदा क्रियामय रखना और आसक्ति से ऊपर उठकर नर बनकर काम करना तथा ६. सौ वर्ष जीने की प्रबल भावना

रखना, तदनुसार ही जीवन को ढालना।

(ख) ये छह बातें ही आत्मोन्नति का मार्ग हैं। इसी पर मनुष्य को चलने का प्रयत्न करना है। जो व्यक्ति इन बातों का ध्यान न करके १. प्रभुको स्मरण नहीं करता। अपने को अकेला समझ व्यसनों के प्रलोभन से नहीं बच पाता ३. भोग ही जिसके जीवन का लक्ष्य हो जाता है, अपने ही प्राणों व जीवन में रमा रहता है, 'असुषु रमन्ते' असुर बनकर अपने ही मुख में आहुति देता है **'स्वेषु आस्येषु जुह्वतश्चेरुः'**। इसके जीवन में त्याग का कोई स्थान नहीं होता। ३. इसकी लोलुपता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है ४. यह समझता है कि धन का वही स्वामी है, धन को उससे कौन छीन सकता है? ५. धन की वृद्धि करके यह अपने जीवन को आरामपसन्द बना लेता है, इसका जीवन क्रियाशील नहीं रहता और इस प्रकार अनजाने में क्षीणशक्ति होता जाता है। ५. सौ वर्ष जीने की तो कल्पना करके भी यह कई बार व्याकुल हो जाता है, वृद्धावस्था के कष्टों की कल्पना करके ही घबरा उठता है। इसके जीवन का संक्षिप्त ध्येय 'Eat, Drink and be Merry' हो जाता है। यही व्यक्ति 'आत्महन्' है, यह आत्मा का घात कर रहा है। प्रभु की ओर न जाकर अन्ततः प्रकृति के पाँओं तले रौंदा जाता है। (ग) **ये के च आत्महनो जनाः**=जो कोई भी आत्महन् लोग होते हैं **ते**=वे **प्रेत्य**=इस शरीर से प्रयाण करने के अनन्तर **तान्**=उन लोकों की **अपि गच्छन्ति**=ओर जाते हैं जो लोक कि इस प्रकार की आसुरवृत्तिवाले लोगों के लिए हितकर हैं (असुर + य) **ते लोकाः**=वे लोक **असुर्या नाम**='असुर्य' (असुरों के लिए हितकर) इस नामवाले हैं। ये लोक **अन्धेन तमसा**=घने अँधेरे से **आवृताः**=आच्छादित हैं। इन लोकों में प्रकाश नहीं। पशु देखते हैं (पश्यन्ति), समझते नहीं। वृक्ष इत्यादि तो एकदम अन्तःसंज्ञी ही हैं—उनकी चेतना पूर्णतया लुप्त-सी है। ये ही योनियाँ असुर्य हैं। केवल अपने प्राण-पोषण में रत लोगों के लिए ये भोगयोनियाँ ही उपयुक्त हैं। एवं, प्रभु इन आत्महन् असुरों को इन्हीं योनियों में जन्म देते हैं। इनमें रहते हुए वे भोग भोगने में रत रहते हैं। उनका कोई कर्त्तव्य नहीं होता—उन्हें भोग ही भोगने होते हैं। ये लोक अन्धतमस् व अज्ञान से आवृत हैं। इनमें ज्ञान का नितान्त अभाव है। यहाँ कर्त्तव्य ही नहीं है, अतः कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक का प्रश्न ही नहीं उठता।

सम्भवतः इन भोगों के भोग से रजकर, या इस प्रसुप्त-सी अवस्था में पिछले संस्कारों को भूलकर ये चिरकाल पश्चात् फिर मानव-जीवन को प्राप्त करेंगे और एक बार फिर इन्हें आत्मोन्नति के मार्ग पर चलने का अवसर प्राप्त होगा।

भावार्थ—हम आत्मोन्नति के मार्ग पर चलें। आत्महन् बनकर असुर्य लोकों में जन्म के भागी न बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**ब्रह्म**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

निरभिमानता

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥४॥

१. पिछले मन्त्र की फलश्रुति के बाद प्रस्तुत मन्त्र में 'सर्वव्यापकता' की भावना का ही प्रकारान्तरेण वर्णन प्रारम्भ होता है—(क) वे प्रभु **अनेजत्**=(न एजत्) बिलकुल हिल नहीं रहे। खाली स्थान हो तो हिला जाए! जब वे सर्वव्यापक हैं, हिलें ही कैसे, परन्तु सर्वव्यापक न होते हुए भी तो किसी और से स्थान भरा होने के कारण 'न हिलना' हो

सकता है, अतः कहते हैं कि **'एकम्'**=वे हैं तो एक। 'एक होते हुए न हिलना' तभी होता है जब वह सर्वव्यापक हो। (ख) **मनसो जवीयः**=वे प्रभु मन से भी अधिक वेगवान् हैं। मन सर्वाधिक वेगवाला है। प्रभु मनसे भी अधिक वेगवान् हैं। वास्तविकता तो यह है कि **एनत्**=इस प्रभु को **देवाः**=देव **न आप्नुवन्**=नहीं पकड़ पाते। देवों की दौड़ के साम्मुख्य में सब देव इससे पीछे रह जाते हैं। प्रभु जीत जाते हैं। जीत का अभिप्राय यही है कि 'विजयस्तम्भ' पर पहले पहुँच जाना। प्रभु तो **पूर्वम्**=पहले ही **अर्शत्**=वहाँ पहुँचे हुए हैं। सर्वव्यापक होने के कारण वे कहाँ नहीं हैं। (ग) **तत्**=वे प्रभु **धावतः अन्यान्**=दौड़ते हुए दूसरों को **अत्येति**=लाँघ जाते हैं, उनसे आगे निकल जाते हैं और खूबी यह कि **तिष्ठत्**=ठहरे-ठहरे ही। बिना गति किये लाँघ जाना इसीलिए तो है कि जहाँ भी पहुँचना है प्रभु वहाँ पहले से ही हैं। २. एवं, वे प्रभु सर्वव्यापक तो हैं ही, परन्तु साथ ही सौन्दर्य की बात यह है कि गतिशून्य होते हुए भी सर्वाधिक गतिमान् हैं। ठहरे भी दौड़ते हुओं से आगे निकल ज़ानेवाले हैं। ठीक-ठीक बात यह है कि गतिशून्य होते हुए सबको गति दे रहे हैं। वे गति के स्रोत हैं। ३. **मातरिश्वा**=मातृगर्भ में बढ़नेवाला यह जीव भी **तस्मिन्**=उस प्रभु में ही **अपः**=कर्मों को **दधाति**=धारण करता है। इसकी भी सारी गति उस प्रभु की शक्ति से ही हो रही है। जीव को यह भ्रम हो जाता है कि उसकी अपनी शक्ति है।

भावार्थ—हम प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करें। कण-कण में उसकी शक्ति को काम करता हुआ देखें और अपनी सफलताओं को प्रभुशक्ति से होता हुआ समझें तथा सदा प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वह परावर प्रभु (अन्दर भी, बाहर भी), दूर भी, समीप भी

तदे॑जति॒ तन्नैज॑ति॒ तद् दू॒रे तद्व॑न्ति॒के।
तद॒न्तर॑स्य॒ सर्व॑स्य॒ तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः॥५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र प्रभु की सर्वव्यापकता का प्रतिपादन करता हुआ काव्य की दृष्टि से विरोधाभास अलंकार का बड़ा सुन्दर उदाहरण है। **तत्**=वह प्रभु **एजति**=गति करता है और **तत् न एजति**=वे प्रभु गति नहीं कर रहे हैं। ये दोनों वाक्य परस्पर विरोधी अर्थवाले प्रतीत होते हैं, परन्तु यह विरोध का आभास नष्ट हो जाता है जब प्रथम वाक्य को प्रेरणार्थक धातु मानकर अर्थ यह कर देते हैं कि प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं (एजति=एजयति)। शरीर चलता प्रतीत होता है, परन्तु यह सब गति अन्तःस्थित आत्मतत्व के ही कारण है, अतः आत्मा ही तो गति दे रहा है। इसी प्रकार सारे ब्रह्माण्ड की आत्मा वे प्रभु हैं, उन्हीं से यह सारी गति दी जा रही है, परन्तु सर्वव्यापक होने के नाते वे स्वयं गतिशून्य हैं। वे कहाँ जाएँ और कहाँ आएँ, वे तो पहले से ही सब स्थानों में विद्यमान हैं। २. **तद् दूरे**=वे प्रभु दूर-से-दूर हैं **तत् अन्तिके**=और वे समीप-से-समीप हैं। दूर भी है, समीप भी। इस प्रकार विरोध का आभास होता है, परन्तु अभिप्राय इतना ही है कि सर्वव्यापक होने के कारण हम कल्पना से जितनी भी दूर पहुँच सकते हैं, प्रभु वहाँ हैं ही और हमारे अन्दर भी होने से समीप-से-समीप भी हैं। पर-से-पर तथा अवर-से-अवर होने से ही प्रभु का नाम 'परावर' है। ३. **तत्**=वे प्रभु **अस्य सर्वस्य**=इस सारे ब्रह्माण्ड के **अन्तः**=अन्दर हैं और **तत् उ**=वे प्रभु **अस्य सर्वस्य**=इस सारे जगत् के **बाह्यतः**=बाहर भी हैं। अन्दर होते हुए वे प्रभु अन्तर्यामी हैं तथा बाहर होने से सबको आच्छादित करके सुरक्षित कर रहे हैं। अन्दर

व्याप्ति की भावना 'वस निवासे' धातु द्वारा 'ईशावास्यम्' शब्दों में व्यक्त हुई है तथा 'वस् आच्छादने' धातु से गर्भ में सुरक्षित रखने की भावना व्यक्त हो रही है।

भावार्थ—प्रभु दूर-से-दूर व समीप-से-समीप हैं, अन्दर व बाहर सर्वत्र व्याप्त हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

सन्देह व घृणा से दूर

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥६॥

१. 'प्रभु की सर्वव्यापकता, अन्दर व बाहर सर्वत्र उसकी सत्ता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति सब प्रकार के सन्देह व घृणा से ऊपर उठ जाता है, इस बात को प्रस्तुत मन्त्र इन शब्दों में कहता है—**यः तु**=जो तो **सर्वाणि भूतानि**=सब प्राणियों को **आत्मन्**=सर्वव्यापक आत्मतत्त्व में **एव**=ही **अनुपश्यति**=अपने स्वरूप को देखने के साथ देखता है, **च**=और **सर्वभूतेषु**=सब प्राणियों में **आत्मानम्**=परमात्मा को देखता है **ततः**=फिर **न वचिकित्सति**=किसी प्रकार का सन्देह नहीं करता है। २. प्रभु का दर्शन हमें सन्देह व घृणा से ऊपर उठा देता है। घृणा तो मनुष्यमात्र में प्रभु को देखने से ही नहीं रहती। सब भूतों में प्रभु को देखनेवाला सब भूतों से प्रेम करता है व उन्हें आदर से देखता है। पण्डित सबमें समरूप से अवस्थित प्रभु को ही देखते हैं। सर्वत्र प्रभुदर्शन ही सच्चा वेदान्त है। यह व्यक्ति निर्भीक व निर्घृण होता है। घृणा से ऊपर उठा हुआ यह प्रेम का पुञ्ज बन जाता है। इसका ज्ञान सब उपाधियों से ऊपर उठा हुआ है, अतः यह सचमुच 'दीर्घतमा'=दूर हो गये अन्धकारवाला है।

भावार्थ—हम प्रभु को सबमें और सबमें प्रभु को देखें, यही 'तत्त्वज्ञान' है। यही सन्देह व घृणा से ऊपर उठने का साधन है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

एकत्व का दर्शन

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥७॥

१. मनुष्य सुनकर व पढ़कर यह जान जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, यह तो एक वस्त्र है। मृत्यु वस्त्र-परिवर्तनमात्र है, परन्तु व्यवहार में आकर उसे यह बात भूल जाती है और वह यही कहने लगता है कि 'मैं बीमार हो गया, पतला हो गया'। इस प्रकार उसका ज्ञान उथला ही प्रमाणित होता है। यह 'विजानन्' विशिष्ट ज्ञानी नहीं बना। विज्ञानन् पुरुष तो आत्मस्वरूप को समझता है। आत्मस्वरूप को समझने के साथ अपने शाश्वत सखा 'प्रभु' को अन्दर-बाहर सर्वत्र व्याप्त अनुभव करता है। २. इस **विजानतः**=विशिष्ट ज्ञानी पुरुष के दृष्टिकोण में प्रभु ने सबको व्याप्त किया हुआ है। 'प्रभु सबमें हैं, सब प्रभु में हैं' यह तो यही देखता है। इस प्रकार देखने के कारण यह परमात्मा-ही-परमात्मा को देखता है। हार की मणियों को न देखकर वह ओतप्रोत सूत्र को देखता है, अतः वह समावस्थित परमेश्वर को ही सर्वत्र देखने के कारण सब भूतों में आत्मभाव रखता है। जब ये सब भूत उस प्रभु में हैं तब उससे अलग हो ही कैसे सकते हैं! मन्त्र के शब्दों में **यस्मिन्**=जिस समय इस 'विज्ञानन्' की दृष्टि में **सर्वाणि भूतानि**=सब भूत (प्राणी) **आत्मा एव**=आत्मा ही **अभूत**=हो जाते हैं, **तत्र**=उस स्थिति में **एकत्वम्**=एकत्व को **अनुपश्यतः**=देखते हुए को

कः मोहः=क्या तो मोह और **कः शोकः**=क्या शोक? यह विजानन् पुरुष शोक-मोह से ऊपर उठ जाता है। एकत्वदर्शन में शोक-मोह का स्थान नहीं है। ४. 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'=भय तो दूसरे से ही होता है, अद्वैत में तो अभय-ही-अभय है। 'विश्व की नागरिकता' व ऐक्य भावना ही मानव कल्याणकारिणी है। पति-पत्नी भी मिलकर एक हो जाते हैं तभी तो शङ्का व भय दूर हो वास्तविक प्रेम उत्पन्न होता है। ५. एवं, अद्वैतानुभव ही कल्याणंकर है। यही वास्तविकता है, इसको जानकर ही विजानन् पुरुष शोक-मोह से अतीत होता है।

भावार्थ—जीवात्मा व परमात्मा दो सत्ताएँ है, परन्तु सब जीव प्रभु में हैं, सो पृथक् न होने से 'आत्मा-ही-आत्मा' हैं, ऐसा अनुभव करके हम 'शोक-मोहातीत विजानन्' बनें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

व्यापक व शुद्ध

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

१. **सः**=वे प्रभु **परि अगात्**=चारों ओर (पहले से ही) गये हुए हैं। वह कौन-सा स्थान है जहाँ प्रभु नहीं हैं? सर्वव्यापक होने के कारण ही वे प्रभु **शुक्रम्** (शुच् दीप्तौ)=अत्यन्त दीप्त व उज्ज्वल हैं। २. वे प्रभु सर्वव्यापक हैं, अतः **अकायम्**=शरीररहित हैं। शरीररहित होने से ही **अव्रणम्**=व्रणादिरहित हैं, **अस्नाविरम्**=नस-नाड़ियों से शून्य हैं। व्रण व नस-नाड़ियों का सम्बन्ध शरीर से ही है। शरीर नहीं, तो ये कहाँ से? ३. **शुद्धम्**=वे प्रभु पूर्ण शुद्ध हैं और **अपापविद्धम्**=पाप से विद्ध नहीं। ४. **कविः**=वे प्रभु क्रान्तदर्शी हैं, प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जानते हैं। लोक में जो-जो व्यक्ति जितना-जितना बहुदृष्ट व बहुश्रुत बनता चलता है उतना-उतना ही उसका दृष्टिकोण व्यापक व सत्य होता जाता है। प्रभु पूर्ण व्यापक हैं, उनका दृष्टिकोण पूर्ण सत्य है। वे प्रभु **मनीषी**=विद्वान्=पूर्ण ज्ञानी हैं, क्योंकि **परिभूः**=चारों ओर—सर्वत्र होनेवाले हैं। उनके कवित्व व मनीषित्व का रहस्य इस परिभूपन में ही है। ५. 'इस प्रभु को किसने जन्म दिया?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वे **स्वयम्भूः**=स्वयं होनेवाले हैं। उनको जन्म देनेवाला कोई नहीं। वे 'खुद् आ' हैं और वास्तविकता यह कि वे शरीर-बन्धन में आते-जाते ही नहीं। यह आना-जाना जीव के लिए ही सम्भव है, जोकि व्यापक सत्तावाला नहीं। ६. ये 'स्वयम्भू' प्रभु **शाश्वतीभ्यः**=सनातन **समाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **याथातथ्यतः**=ठीक-ठीक सब बातों व वस्तुओं का **व्यदधात्**=प्रतिपादन व सम्पादन करते हैं। यह तो जीव ही की कमी है कि उन पदार्थों का वह ठीक प्रयोग नहीं करता व प्रभु की प्रेरणा को नहीं सुनता परिणामतः कष्ट का भागी होता है।

भावार्थ—हम इस तत्त्व को समझें कि जो जितना व्यापक है, वह उतना ही शुद्ध है। यह समझकर हमारा ध्येय 'व्यापक दृष्टिकोणवाला बनना' ही हो जाए।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

अँधेरा और घना अँधेरा

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याꣳ रताः॥९॥

१. **'सम्'** शब्द का अर्थ होता है 'मिलकर' और **भूति**=होना। मिलकर होना, अर्थात्

व्यक्तित्व को अलग न समझकर समाज को ही सब-कुछ समझना 'सम्भूति' है। इसके विपरीत व्यक्ति को ही प्रधानता दे देना 'असम्भूति' है, इसमें व्यक्ति केवल निजहित को देखता है, सामाजिक हित को वह उपेक्षित कर देता है। २. मन्त्र में कहते हैं कि **ये**=जो **असम्भूतिम्**=व्यक्तिवाद की **उपासते**=उपासना करते हैं, वे **अन्धन्तमः**=घने अँधेरे में **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं, ४. परन्तु क्या अकेला समाजवाद कल्याण कर सकता है? उत्तर यह है कि कल्याण का प्रश्न तो दूर रहा **ये**=जो **सम्भूत्याम्**=समाजवाद में **रताः**=फँसे हुए हैं **ते**=वे **ततः**=उस व्यक्तिवादी की अपेक्षा **भूय इव**=कुछ अधिक ही **तमः**=अँधेरे में (प्रविशन्ति) पहुँचते है। केवल समाजवादियों की गति व्यक्तिवादियों से अधिक हीन होती है। कारण यह कि व्यक्ति को बिलकुल उपेक्षित कर देने के कारण व्यक्ति की उन्नति समाप्त हो जाती है और व्यक्ति ने ही समाज को बनाना है। व्यक्ति की निर्बलता का परिणाम यह होता है कि समाज एकदम निर्बल हो जाता है।

भावार्थ—व्यक्तिवादी अन्धकार में जाता है तो समाजवादी और भी अधिक अन्धकार में।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

व्यक्तिवाद व समाजवाद का चमत्कार

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१०॥

सम्भवात्=समाजवाद से, मिलकर चलने से, सम्भूति से **अन्यत् एव**=विलक्षण ही फल **आहुः**=कहते हैं। **असम्भवात्**=व्यक्तिवाद से भी **अन्यत् आहुः**=विलक्षण ही फल कहा गया है। **ये**=जो विद्वान् **नः**=हमें **तत्**=इस व्यक्तिवाद व समाजवाद को **विचचक्षिरे**=विस्पष्टरूप से बतलाते हैं, उन **धीराणाम्**=ज्ञान के देनेवालों से **इति**=यह बात **शुश्रुम**=हमने सुनी है। मिलकर चींटियाँ हाथी को भी समाप्त कर देती हैं। व्यक्तिवाद के फल की विलक्षणता शारीरिक दृष्टि से पहलवानों में प्रकट हो रही है। बौद्धिक दृष्टि से यह वैज्ञानिकों, योगियों में प्रकट होती है।

भावार्थ—व्यक्तिवाद व समाजवाद दोनों के ही फल विलक्षण हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

व्यक्ति व समाज का समन्वय

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥११॥

ऊपर दो बातें देखी जा चुकी हैं। १. सम्भूति व असम्भूति के फल चमत्कारिक हैं, और २. अलग-अलग ये दोनों ही मनुष्य को अँधेरे में ले-जाते हैं, अतः ऐसी अवस्था में करना क्या चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इन शब्दों में देते हैं कि— **सम्भूतिम् च**=सम्भूति वा समाजवाद को **विनाशम् च**=(विनश) भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाना, मिलकर न चलना, अर्थात् व्यक्तिवाद को **यः**=जो **तत् उभयम्**=दोनों को **सह वेद**=साथ-साथ प्राप्त करता है (विद् लाभे), वह व्यक्ति **विनाशेन**=व्यक्तिवाद से **मृत्युम्**=मृत्यु को **तीर्त्वा**=तैरकर **सम्भूत्या**=समाजवाद से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=प्राप्त करता है। 'सह वेद' इन शब्दों में व्यक्ति व समाज को मिला देने का संकेत है। प्रत्येक हितकारी नियमों में

व्यक्तिवाद को ही स्थान मिलना चाहिए तो समाज-हितकारी बातों में प्रमुखता समाजवाद की रहनी चाहिए। 'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्राणिधान' इन नियमों के पालन में व्यक्ति स्वतन्त्र है तो 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह' इन नियमों के पालन में वह परतन्त्र है। नियमों का पालन नहीं करेगा तो व्यक्ति ही हानि उठाएगा, परन्तु यमों का पालन न करे तो समाज की हानि है, अतः इनके पालन में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं। इनका पालन उसे करना ही होगा। शौच, सन्तोष आदि का पालन करता हुआ वह असमय की मृत्यु से बचेगा तो अहिंसा आदि के अनुष्ठान से वह अपने समाज को अमर बना पाएगा। आजकल की भाषा में व्यक्ति वैध उपायों से धन कमाने के लिए स्वतन्त्र है, परन्तु कर देना या न देना, यह उसकी इच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता। 'गृहस्थ बने या न बने' इतने अंश में व्यक्ति स्वतन्त्र है, परन्तु 'ब्रह्मचर्य' पालन करे या न करे, संयमी जीवनवाला हो या न हो यह उसकी इच्छा का विषय नहीं रक्खा जा सकता। असंमय से वह कितने ही घरों को बरबाद करेगा। एवं व्यक्तिवाद व्यक्ति को उन्नत करता है और समाजवाद इस उन्नत व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाता है।

भावार्थ—हमारे जीवन में व्यक्तिवाद व समाजवाद का समन्वय हो।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

विद्या और अविद्या

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाᳬंरताः॥१२॥

प्रस्तुत मन्त्र में अविद्या और विद्या के अर्थ को समझने के लिए उपनिषद् का यह वाक्य स्मरणीय है कि '**द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवापरा च**' परा और अपरा दोनों ही विद्याएँ जाननी चाहिएँ। परा वह है जिससे अक्षरब्रह्म का ज्ञान होता है, अर्थात् ब्रह्मविद्या व आत्मविद्या ही 'पराविद्या' है। आत्मतत्त्व से प्रकृतितत्त्व अपर है, अतः उसका ज्ञान ही 'अपराविद्या' नाम से कहा गया। दोनों का ही ज्ञान आवश्यक है। शरीर के हित के लिए 'प्रकृति का ज्ञान' आवश्यक है, तो अपने स्वरूप को जानने के लिए आत्म-ज्ञान आवश्यक है। 'अपरा-विद्या' और 'परा-विद्या' इन दोनों शब्दों में से 'परा' इस सामान्य शब्द को हटा देने पर ये शब्द 'अविद्या' और 'विद्या' हो गये हैं। यहाँ मन्त्र में इन्हीं का प्रयोग है। **ये**=जो **अविद्याम्**=प्रकृतिविद्या की **उपासते**=उपासना करते हैं वे **अन्धन्तमः**=घने अँधेरे में **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं। (क) वर्त्तमान संसार में वैज्ञानिक 'आणविक अस्त्रों' से व्याकुल हो उठे हैं। उनको सूझता नहीं कि इनका क्या करें और क्या न करें? (ख) बड़े-बड़े दैत्याकार यन्त्र बनाकर इतनी तीव्रता से वस्तुओं का निर्माण कर रहे हैं कि उनकी बिक्री के लिए मण्डी का मिलना दुष्कर हो रहा है। (ग) पैन्सिलीन आदि आविष्कार से निर्भीक होकर ये युवक अनाचार से घबरा नहीं रहे। (घ) मनुष्यों का स्थान यन्त्रों ने ले-लिया है और इस प्रकार मनुष्य को उसने बेकार (unemployed) कर दिया है। इस प्रकार इस प्रकृतिविद्या ने कितनी ही जटिलताएँ उपस्थित कर दी हैं, परन्तु क्या ब्रह्मविद्या का कोई कृष्णपार्श्व नहीं है? नहीं, इसका कृष्णपार्श्व तो और भी अधिक कृष्ण है। भारतीयों का झुकाव आत्मा की ओर अधिक हो गया। ये प्रतिक्षण आत्मा की उपासना में ही बिताने लगे और जब ये परमात्मा की ही रट लगाने में तन्मय थे, इनका ध्यान प्रभु की ओर था तो विदेशियों ने अवसर पाकर चुपके से इनके पाँव तले से भूमि को खिसका

लिया। भारतीयों का ध्यान गया तो इन्हें परतन्त्रतापाश में जकड़नेवालों ने कहा 'आत्मा ही तो सत्य है' उसे तुम रक्खो, इस मिथ्या संसार को हमें दे डालो, हमने तो तुम्हारी जूठन ही ली है, हम तुम्हारे सत्य में हस्तक्षेप नहीं कर रहे है। बस, इस आत्मरति ने भारतीयों को हज़ार वर्ष तक गुलाम रक्खा और भूखों मारा एवं मन्त्र के शब्दों के अनुसार **ततः**=उस प्रकृतिविद्या के उपासकों से भी **भूय इव**=अधिक ही **तमः**=अन्धकार को वे प्राप्त करते हैं **ये**=जो निश्चय से **विद्यायाम् रताः**=ब्रह्मविद्या में फँसे हुए हैं।

भावार्थ—केवल प्रकृतिविद्या के उपासक अँधेरे में प्रवेश करते हैं तो केवल ब्रह्मविद्या के उपासक उससे भी घने अँधेरे में पहुँचते हैं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

विलक्षण फल

अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽअन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१३॥

विद्यायाः=आत्मविद्या का **अन्यत् एव**=विलक्षण ही फल **आहुः**=कहते हैं। योगदर्शन का विभूतिपाद आत्मविद्या के फलों का विशद वर्णन करता है। आत्मविद्या के चमत्कार निश्चित रूप से विलक्षण हैं, परन्तु **अविद्यायाः**=प्रकृतिविद्या के भी तो **अन्यत्**=विलक्षण फल को **आहुः**=कहते हैं। पानी और अग्नि को वशीभूत करके किस प्रकार यन्त्र चलने लगे, विद्युत् के वशीकरण ने हद ही कर दी। हज़ारों मील दूर बैठे पुरुष से बात भी हो सकती है। आकृति भी देखी जा सकती है। भाषण इस तरह सुने जाते हैं जैसे, दस फीट पर ही कोई व्यक्ति बोल रहा हो। बेतार की तार चमत्कार ही है। सब काम स्वयं करती हुई मशीन मनुष्य को चकित कर देती है। मनुष्य की बनाई गई मशीन मनुष्य की अपेक्षा गुणा-भाग आदि के प्रश्नों को शीघ्रता से हल कर देती है। युद्ध के यन्त्र भयंकर अवश्य हैं, परन्तु विस्मयकारक तो हैं ही। **इति**=इस प्रकार विद्या और अविद्या दोनों के ही फल विलक्षण हैं। यह हमने उन **धीराणाम्**=ज्ञानियों से **शुश्रुम**=सुना है **ये**=जिन्होंने **नः**=हमारे लिए **तत्**=इस बात का **विचचक्षिरे**=प्रतिपादन किया है।

भावार्थ—भौतिक व आत्मिक दोनों ही ज्ञानों के विलक्षण फल हैं। भौतिक ज्ञान क्लोरोफार्म आदि के द्वारा हमें अचेतन करके पीड़ा का अनुभव नहीं होने देता, तो आत्मज्ञान हमें सदेह होते हुए भी विदेह बनाकर पीड़ा से ऊपर उठा देता है।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

मृत्यु से तैरना व अमर बनना

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥१४॥

उल्लिखित विलक्षण फलोंवाली **विद्यां च**=आत्मविद्या को और **अविद्यां च**=प्रकृतिविद्या को **यः**=जो **तत् उभयम्**=उन दोनों को **सह वेद**=साथ-साथ जानता है वह **अविद्यया**=सृष्टिविद्या से **मृत्युम् तीर्त्वा**=मृत्यु को तैरकर **विद्यया**=आत्मज्ञान से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=प्राप्त करता है। मनुष्य दो कारणों से मुख्यतया असमय में ही मृत्यु का ग्रास हो जाता था। एक तो अकाल पड़ जाने से भूखे मरकर और दूसरे बीमारियों का शिकार होकर। प्रकृतिविद्या व विज्ञान ने थोड़ी भूमि पर अधिक अन्न उपजाकर भूखे मरने के प्रश्न को समाप्त कर

दिया, साथ ही मक्खी-मच्छरों को समाप्त कर मलेरिया आदि बीमारियों को भी समाप्त कर दिया। साथ ही औषध विज्ञान ने टी.बी. आदि बीमारियों का भी प्रतीकार कर दिया है, अतः इनकी भयंकरता समाप्त हो गई है। एवं, मनुष्य प्रकृतिविद्या से मृत्यु को तैर गया है। शल्य-चिकित्सा के चमत्कारों ने मानवजीवन को दीर्घ कर दिया है। संक्षेप में विज्ञान ने मनुष्य के लिए प्रकृति को बड़ा सुखद व सुन्दर बना दिया है। मनुष्य को प्रकृति निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। कई बार तो मनुष्य किसी वस्तु के लिए इतना लालायित हो उठता है कि 'वह उसके बिना मर ही जाएगा' ऐसा प्रतीत होने लगता है। 'आत्मस्वरूप का चिन्तन ही उसे इस मरने से बचाएगा', अतः मन्त्र में कहते हैं कि **विद्यया**=आत्मज्ञान से **अमृतम्**=अमरता को **अश्नुते**=पाता है। (क) प्रकृतिविद्या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं की न्यूनता नहीं होने देती और आत्मविद्या उसे उन वस्तुओं के मात्रातीत प्रयोग से बचाती है। (ख) प्रकृतिविद्या जीवन की मोटर में एञ्जिन है तो आत्मविद्या ब्रेक का काम देती है। प्रकृतिविद्या के बिना तो जीवन की गाड़ी चलती ही नहीं पर आत्मविद्या न हो तब भी यह कहीं-न-कहीं टकराकर टूट ही जाएगी। एवं, हमें अपने जीवनों में दोनों का ही समन्वय करके चलना है। प्रत्येक गृहस्थ अपने सन्तानों को विज्ञान की शिक्षा अवश्य दिलवाए और अपने साथ धार्मिक सत्सङ्गों में भी उन्हें अवश्य ले-जाए। वैज्ञानिक युवक भूखा न मरेगा और अध्यात्मिक वृत्तिवाला होने से विषयासक्त न होगा। विज्ञान विषयों को उपस्थित करता है, आत्मविद्या उन विषयों का प्रयोग करते हुए भी उनके बन्धन से बचाती है।

भावार्थ—हम अविद्या से मृत्यु को तरें और विद्या से अमरता का लाभ करें। विद्या से हम विषयों की अपातरमणीयता को जानेंगे और उन विषयों के पीछे मरेंगे नहीं।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**स्वराडुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**॥

शरीर व आत्मा का स्वरूप

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳस्मर॥१५॥

१ 'आत्मा' शब्द 'अत्-गतौ' धातु से बना है, इसका ठीक पर्यायवाची शब्द 'वा-गतौ' से बना हुआ 'वायु' है। ये दोनों ही शब्द जीव को उसके स्वभाव की सूचना दे रहे हैं, जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है, उष्णता के बिना अग्नि कुछ नहीं, इसी प्रकार 'जीव हो और गतिशील न हो' यह नहीं हो सकता। वह तो 'आत्मा' है, वह 'वायु' है। यह आत्मा **'अनिलम्'**=(न+इला) पार्थिव नहीं, भौतिक नहीं। पार्थिव न होने से ही तो यह **अमृतम्**=अविनश्वर है। भौतिक वस्तु नश्वर है, अभौतिक अनश्वर। इस प्रकार संकेत इस बात का भी हो गया है कि यदि हम भौतिकता से ऊपर उठेंगे तो मृत्यु से भी बच पाएँगे। साथ ही यह अनुभव सिद्ध बात है कि अति भोजन हमें लेटने के लिए बाधित करता है, मित भोजन हमारे जीवन में स्फूर्ति का कारण बनता है, एवं 'वायु' और 'अमृतम्' के बीच में पड़ा हुआ 'अनिलम्' शब्द दोनों बातों का संकेत कर रहा है कि (क) अपार्थिवता, अभौतिकता हमें अधिक क्रियाशील बनाती है, और (ख) यही अभौतिकता हमें मृत्यु से भी बचाती है। २. 'हमारी प्रवृत्ति भौतिक न हो' इसके लिए शरीर के स्वरूप का चिन्तन कितना सहायक हो जाता है? अतः मन्त्र में कहते है **अथ**=आत्मा अमर है तो, अब, **इदम् शरीरम्**=यह शरीर **भस्मान्तम्** =भस्मरूप परिणामवाला है। इस मिट्टी में मिल जानेवाले शरीर के भोगों

के लिए ऐसा लालायित क्यों होना? जिसने साथ नहीं देना उसके लिए इतना भी क्या हाथ-पैर मारना? ३. हे **क्रतो**=(क्रतु यज्ञ, क्रतु=Power)=यज्ञादि कर्मों के द्वारा शक्ति का सञ्चय करनेवाले जीव **ओ३म् स्मर**=तू उस रक्षक प्रभु का स्मरण कर। इसका स्मरण ही तुझे भोगों में फँसने से बचने की शक्ति देगा। **क्लिबे स्मर**=तू इसलिए स्मरण कर क्योंकि तुझे शक्ति प्राप्त हो। 'क्लृपू सामर्थ्ये' से बना 'क्लिब्' शब्द सामर्थ्य का वाचक है। प्रभु-स्मरण से शक्ति प्राप्त होती है। आचार्य दयानन्द प्रातः-सायं दोनों समय प्रभु से अपना सम्पर्क स्थापित करके अपने जीवन की बैटरी को फिर से भर लेते थे। इस शक्ति को प्राप्त करके तू अपने **कृतम्**=(नपुंसके भावे क्तः)=कर्त्तव्य-कर्म का **स्मर**=स्मरण कर। 'प्रभु-स्मरण से शक्ति, शक्ति से कर्म' यह है क्रम जो इस कार्यकारणभाव को स्पष्ट कर रहा है। हमने अधिकार चर्चाएँ नहीं करनी, कर्त्तव्य का ही स्मरण करना है। हमारा तो वस्तुतः अधिकार भी कर्त्तव्य-स्मरणमात्र है।

भावार्थ—आत्मा की अपार्थिवता को और शरीर की भस्मान्तता को स्मरण करें, जिससे हमारा जीवन भोगप्रधान न हो। प्रभु का स्मरण करें, जिससे शक्ति प्राप्त करके अपने कर्त्तव्य को सुचारुरूपेण निभा सकें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

बिना किसी अपराध के Without Crime, Without sin

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम ॥१६॥

१. धन 'संसार' का पर्यायवाची शब्द-सा हो गया है। कोई भी कार्य धन के बिना नहीं हो पाता। यजुर्वेद में प्रतिपादित सब यज्ञ भी धन से ही होने हैं, अतः धन आवश्यक है, परन्तु यही धन हमें अशुचि बनाकर निधन की ओर ले-जाता है। साधनभूत धन प्रायः साध्य का स्थान ले-लेता है। यह हमारे प्रयोजन का साधक व सेवक नहीं रहता, हमीं इसके सेवक हो जाते हैं। हम इसके पति नहीं, यह हमारा पति हो जाता है और हमें पीस डालता है। उस समय हम टेढ़े-मेढ़े सभी साधनों से इसे कमाने लगते हैं। सब कर्त्तव्य कर्मों को भूल-से जाते हैं, सच तो यह कि कुछ अन्धे-से हो जाते हैं, अतः मन्त्र में प्रार्थना करते हैं कि—२. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! कभी भी न भटकने देनेवाले प्रभो! **अस्मान्**=हम सबको **राये**=धन के लिए, उस धन के लिए (रा दाने) जो वस्तुतः दान देने के लिए है, यज्ञों में विनियोग के लिए है, **सुपथा नय**=उत्तम मार्ग से ले-चलिए। हम कभी भी धन की चमक के वशीभूत होकर अन्याय-मार्ग से इसके कमाने का विचार न करें। हे **देव**=दिव्य मार्गों को दिखानेवाले प्रभो! **विश्वानि वयुनानि**=आप तो हमारे सब कर्मों व प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जान रहे हैं, अतः ज्योंही हमारे मस्तिष्क में ग़लत रास्ते से धन कमाने का विचार उठे, आप उसे वहीं समाप्त कर दें। न विचार-बीज रहेगा और न रद्दी कर्मरूप अंकुर उत्पन्न होगा (Nip the evil in the bud) अज्ञान-पुष्प ही न रहेगा तो कर्मफल होगा ही कैसे? ३. **अस्मत्**=हमसे **जुहुराणम्**=कुटिलता (crime) को तथा **एनः**=पाप (sin) को **युयोधि**=पृथक् कीजिए। हम न तो कुटिलमार्ग से धन कमाएँ और न ही पाप की कमाई जुटाएँ। राष्ट्रीय नियमों को तोड़ना ही कुटिलता है। आय-कर ठीक न देने के लिए हिसाब को ठीक न दिखाना आदि सब बातें 'जुहुराणम्' हैं। प्रभु के प्रति पाप 'एनः' है। प्रभु ने नियम बनाया कि **स्वेदस्य**=पसीने की कमाई ही तुम्हारी कमाई हो। मैं बिना श्रम

के सट्टे के द्वारा, लॉटरी टिकिट्स के द्वारा रुपया कमाना चाहता हूँ, यह 'एनस्' (Sin) है। प्रभु मुझे इन दोनों से दूर करें। ४. इस कार्य के लिए हे प्रभो! हम **ते**=आपकी **भूयिष्ठाम्**=बहुत अधिक **नमः उक्तिम्**=नमन की उक्ति को **विधेम**=करते हैं। हम सदा आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। आपकी उपासना ही हमें 'कुटिलता व पाप' से बचाएगी, अन्यथा इस धन की गुलामी से हम कहाँ बच पाएँगे?

भावार्थ—हे प्रभो! ऐसी कृपा करो कि हम सदा सन्मार्ग से ही धन कमाएँ। आपकी कृपा से कुटिलता व पाप हमसे दूर रहें।

ऋषिः—**दीर्घतमाः**। देवता—**आत्मा**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

हिरण्मय पात्र

हि॒र॒ण्मये॑न॒ पात्रे॑ण स॒त्यस्यापि॑हितं॒ मुख॑म्।
यो॒ऽसावा॑दि॒त्ये पुरु॑षः॒ सो॒ऽसाव॒हम्। ओ३म् खं ब्रह्म॑॥१७॥

'मनुष्य क्यों कुटिलता व पाप से धन कमाने लगता है?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार दिया है कि **हिरण्मयेन पात्रेण**=स्वर्ण के बने देदीप्यमान पात्र से **सत्यस्य**=सत्य का **मुखम्**=स्वरूप **अपिहितम्**=ढका हुआ है। यह संसार की सीपी (शुक्ति) चमकती है और हम इसे चाँदी समझ बैठते हैं, विषयों की आपात रमणीयता से उनका पर्यन्तपरितापित्व छिपा रहता है। विष का माधुर्य उसके विषत्व को विस्मृत करा देता है। संसार चमकता है और उस चमक को ही हम सत्य मान लेते हैं। हमें यह जनश्रुति भूल जाती है कि "All that glitters is not gold."

मन्त्र कहता है कि यह चमक उस वस्तु की नहीं। अपने शरीर को ही देखो। यहाँ कब तक चमक है? जब तक अन्दर आत्मा है। आत्मा गई और यह आभाशून्य होकर विश्लिष्ट (Disintigrated) व दुर्गन्धित होने लगा। इसी प्रकार सूर्य आदि में चमक अन्तःस्थित पुरुष (परमात्मा) के ही कारण है। यह सूर्यादि की अपनी चमक नहीं। **यः**=जो **असौ**=वह **आदित्ये**=सूर्यमण्डल में **पुरुषः**=अधिष्ठातृरूपेण स्थित पुरुष है **सः**=वह पुरुष **असौ**=तेरे प्राणों में भी है (असवः प्राणाः), अर्थात् क्या सूर्य की चमक और क्या तेरे इस छोटे से पिण्ड की चमक—ये सब उस अन्तःस्थ पुरुष की चमक है। यह इनकी अपनी चमक नहीं। संसार में सर्वत्र उस पुरुष ही की चमक है। ये प्राकृतिक पदार्थ अपने में निष्प्रभ हैं। प्रभु कहते हैं कि इन पदार्थों को प्रभा देनेवाला वह पुरुष ही **अहम्**=मैं हूँ। **खम् ब्रह्म**=आकाश की तरह मैं बढ़ा हुआ व्यापक हूँ। मेरी व्याप्ति से ही प्रकृति में दीप्ति है। हे जीव! इस दीप्ति को प्रकृति समझकर तू उसमें न उलझ। यदि तू इसमें नहीं उलझेगा तो धन को छल-छिद्र से जुटाने के लिए तू लालायित भी क्यों होगा? तेरा अज्ञानान्धकार दूर हो जाएगा। तू 'दीर्घ-तम' बन जाएगा।

भावार्थ—सांसारिक चमक से हमारी आँखें चुँधियाँ न जाएँ, तभी हम सत्य को देख पाएँगे।

इति चत्वारिंशोऽध्यायः॥
इत्युत्तरविंशतिः समाप्ता॥
यजुर्वेदभाष्यं समाप्तम्॥